प्रकाशक :

जेठालाल एस० जवेरी

भारत विजली लिमिटेड
उद्योग नगर, किम्म सर्किल रेलवे स्टेशन के पास
बम्बई

०

प्राप्ति स्थान :

सोहनलाल बाफणा
साहित्य निकेतन,
४०६० नया बाजार,
दिल्ली-६

पन्नालाल बांठिया
बाठिया बिल्डिंग,
जौहरी बाजार,
जयपुर

०

प्रथम संस्करण :
जनवरी, १९६९

०

मूल्य
१५) रुपया (पन्द्रह रुपये)

०

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर-३
एवं
यंग लीडर प्रेस, जयपुर-३

भूमिका

ज्ञान कर्म की एक पूर्वापेक्षा है और अतएव समस्त व्यावहारिक जीवन नाना प्रकार के खड ज्ञान पर आधारित है। शिल्पी हो या व्यापारी, राजा हो या सिपाई, सभी अपने व्यवहार के लिये आवश्यक ज्ञान खोजते हैं। इस प्रकार का व्यवहार्य खडज्ञान विकास के साथ समुचित और व्यवस्थित होने लगता है। कुतूहली और तर्कशील मस्तिष्क इस व्यवस्था मे एक अनिवार्य सगति, एक मौलिक अन्विति खोजता है। इस खोज के परिणाम स्वरूप एकदेशी व्यवहारिक ज्ञान क्रमशः न्याय सूत्र से सग्रथित अमूर्त तत्त्वो के प्रतिपादक एक शास्त्र का रूप धारण कर लेता है, इसी को विज्ञान कहते हैं। अमूर्त और समग्र तत्त्वो की ओर उद्दिष्ट होते हुए भी विज्ञान का एक छोर व्यवहार से बधा रहता है। विज्ञान की धारणाओ और सिद्धान्तो का अन्तिम निकष उनकी व्यवहारिक उपयोगिता और प्रयोजनीयता ही है। यही कारण है, विज्ञान के अधिकाधिक प्रचार और प्रसार का और उसके कोरे शब्द जाल से मुक्त रह कर निरन्तर प्रगति कर सकने की अद्भुत क्षमता का। व्यावहारिक जीवन खड सुख–दुःख को लेकर प्रवृत्त होता है। विज्ञान की भी चरम उपयोगिता इसी सदर्भ मे है। इसके द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के भौतिक साधन प्राप्त करता है, जिनसे वह अपने विशिष्ट दुःखो के परिहार और सुखो की प्राप्ति करने मे समर्थ होता है। पर विज्ञान से मनुष्य को अपने चरम साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता। मूलत मनुष्य एक आत्मा है, जो अपने स्वरूप की ओर लौटना चाहती है, जो कि स्वर्गिक सुख मे भी कभी ऐकान्तिक तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकती। मनुष्य यदि केवल देही ही होता और प्रकृति के क्षेत्र मे प्रवृत्ति मात्र उसका जीवन होता, तो सम्भवतः विज्ञान ही उसके लिये परम विद्या होती, परन्तु मनुष्य अपने को ससार के बन्धन मे छटपटाता अनुभव करता है और मुक्ति के मार्ग को खोजता है। आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं, इसीलिए जहा लोक व्यवहार मे निरत मनुष्य वस्तु ज्ञानात्मक विज्ञान का सहारा लेता है, वहीं परमार्थ पक्ष

का पथिक मनुष्य आत्म-ज्ञान रूपी दर्शन का प्रकाश ढूंढता है। यही दर्शन और विज्ञान का निगूढ सम्बन्ध है। विज्ञान वहिर्मुख है, दर्शन अध्यात्म-प्रवण। विज्ञान वस्तुजगत् को परिवर्तित करने के साधन देता है, दर्शन ऐसी अन्तर्दृष्टि, जिससे मन को मुक्ति मिले।

इस प्रकार एक मौलिक भेद के होते हुए भी विज्ञान और दर्शन अपने परम्परागत रूपो मे निकट सम्बन्धी रहे हैं। समग्र विश्व के स्वरूप की जिज्ञासा दोनो मे समान है। प्राचीन काल मे विश्व-विज्ञान दार्शनिक प्रस्थानो का एक नियत अंग था। दर्शन के इस अश से ही परवर्ती वैज्ञानिक चिन्तन ने अपनी प्रेरणा पाई है। बहुत दिनो तक विज्ञान को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था। न्यूटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ को 'प्राकृतिक दर्शन के गाणितिक सिद्धान्त' नाम दिया है। पश्चिम मे जसे-जैसे आधुनिक काल मे विज्ञान का विकास हुआ, दर्शन ने प्राकृतिक विश्व के सम्बन्ध मे अपने को विज्ञान का अनुचर मात्र मान लिया है। आजकल बहुत से दार्शनिक कहते हैं कि दर्शन का वस्तु-सत्यो से सम्बन्ध नहीं, उनके अनुसार दर्शन का ठीक विषय ज्ञान अथवा मूल्यो की मीमांसा है। दूसरी ओर विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे परिकल्पनाए वैज्ञानिक चिन्तन मे नाना रूप से प्रकट हुई हैं और इन्हे दार्शनिक प्रवृत्तियो से असम्पृक्त नहीं माना जा सकता है। इस परिस्थिति का परिणाम एक विचित्र उलझन मे है। विशुद्ध दार्शनिकगण विज्ञान की सहायता के विना विश्व के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकते और न विशुद्ध वैज्ञानिक ही दर्शन की सहायता के विना अपने परम सिद्धान्तो को व्यवस्थित और सगत रूप दे सकते हैं। दर्शन और विज्ञान की एक नई उच्च-स्तरीय समन्विति आज के चिन्तन की परमावश्यकता है, किन्तु इस प्रयास के अधिकारी विरले ही हैं।

इन विरले मेधावी पुरुषो मे मुनि महेन्द्रकुमारजी का विशिष्ट और सम्मान्य स्थान है। उन्होने जहां एक ओर आधुनिक विज्ञान का गहन अध्ययन किया है, वहीं दूसरी ओर वे दर्शन मे भी निष्णात हैं। जैन स्याद्वाद और आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद मे उनकी समान गति है। उनकी प्रस्तुत कृति मे एक ऐसा प्रयास किया गया है, जो कि हिन्दी मे तो कम से कम सर्वथा अद्वितीय है। उन्होने वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तो और उनसे सम्बद्ध दार्शनिक प्रतिपादनो का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए विश्व–सम्बन्धी जैन सिद्धान्तो का विशद और विस्मयावह निरूपण किया है। उनकी

गाणितिक और वैज्ञानिक प्रतिभा उतनी ही प्रखर है, जितनी कि उनकी दार्शनिक परख। उदाहरण के लिये उन्होंने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि लोक की सान्तता आकाश की अनन्तता के मध्य मे ही सम्भव है। ऐसे ही उन्होने इस पक्ष का समर्थन किया हे कि आकाश, गति-स्थिति और पुद्गल परमाणुओ मे सन्निकट सम्बन्ध होते हुए भी उन्हें विविक्त पदार्थ मानना ही न्याय सगत है। ऐसे ही यद्यपि घटनाओं के निरूपण के लिये देश और काल एक चतुर्वेमितिक क्षेत्र मे सम्बद्ध हो जाते हैं, तथापि वे न एक हैं, न मूलतः समान। लोक-सम्बन्धी जैन धारणाओ के व्याख्यान मे तो मुनिजी ने अपने पाण्डित्य और ज्ञान के आधार पर एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसे देख कर वैज्ञानिको को भी अवश्य ही अतीत युग के प्रति अपनी सामान्य धारणाएं बदलनी पड़ेंगी। जैन विज्ञान के इतिहास मे मुनिजी का यह कार्य निश्चय ही विशेष स्थान ग्रहण करेगा। मुझे यह आशा है कि वे इस प्रकार की कृतियों से सरस्वती के विश्व को और भी समृद्ध करते रहेंगे।

—गोविन्द चन्द्र पाण्डे

अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

लेखकीय

सन् १९५६–५७ मे (रॉयल) इन्स्टीट्यूट ऑफ साईन्स, बम्बई मे बी० एस-सी० के अन्तिम वर्ष मे भौतिकी के आनर्स पाठ्यक्रम के अन्तर्गत जब मैं अध्ययन कर रहा था, आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (थियोरी ऑफ रिलेटिविटी) का अनुशीलन करते समय मेरे मस्तिष्क मे पहली बार यह विचार जागृत हुआ कि जैन दर्शन के आकाश-काल-सिद्धान्त की तुलना यदि इस नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ की जाये, तो वह न केवल रोमाचक व सरस होगी, अपितु प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध से अनेक नवीन व उपयोगी तथ्यो को प्रकाश मे लाने वाली होगी। उस समय से ही जैन दर्शन का सूक्ष्म अनुशीलन करना मैंने प्रारम्भ कर दिया। अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी द्वारा लिखित **जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान** तथा प्रो० जी० आर० जैन द्वारा लिखित **कोस्मोलोजी आल्ड एण्ड न्यू** के अध्ययन से इस विषय मे मेरी रुचि बढती गई। निर्ग्रन्थ-पर्याय मे दीक्षित होने के पश्चात् मुनिश्री नगराजजी के सतत सान्निध्य से दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक पहलुओ का विशद ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह उनका अधिकृत और चिरन्तन विषय रहा है।

सन् १९६० मे तेरापन्थ द्विशताब्दी के उपलक्ष मे प्रकाशित **भिक्षु-स्मृति-ग्रन्थ** मे मैंने **दी एनिग्मा ऑफ दी युनिवर्स** शीर्षक से एक विस्तृत प्रबन्ध लिखा, जिसमे सक्षेप मे विश्व के आकार व आयु के सम्बन्ध से वैज्ञानिक सिद्धान्तो तथा जैन दर्शन के दृष्टिकोण का तुलनात्मक व समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया।

सन् १९६१ मे दिल्ली विश्व विद्यालय द्वारा आयोजित गणित सेमिनार (गणित का चतुर्थ ग्रीष्मकालीन स्कूल, ९ मई से ३ जून) मे **दी युनिवर्स इन जैन मेथमेटिक्स** शीर्षक पत्र मैंने पढा। इसमें लोक के आयतन तथा 'रज्जु' व 'समय' के अकीकरण के विषय को प्रश्नात्मक रूप से प्रस्तुत किया। इसके साथ-साथ विश्व-रचना-सम्बन्धी प्राचीन जैन ग्रन्थो का अनुशीलन चलता रहा। आधुनिक गाणितिक पद्धतियो के माध्यम से लोकाकृति के विषय पर चिन्तन चलता रहा तथा आनुषङ्गिक रूप से जैन गणित के अन्यान्य पहलुओ पर भी छान-बीन जारी रही। सन् १९६०–६१ के दिल्ली-प्रवास मे पाश्चात्य

एव वैज्ञानिक दर्शन सम्बन्धी अनेको ग्रन्थो का अध्ययन करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। इस समग्र अध्ययन के फलस्वरूप विश्व-प्रहेलिका का निर्माण हुआ।

पुस्तक की पूर्व-पीठिका मे दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता व उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है तथा इसमे आधुनिक वैज्ञानिको के विचारो का पर्यवेक्षण कर इस प्रचलित धारणा का निराकरण किया गया है कि विज्ञान की दर्शन के साथ कोई तुलना नही हो सकती।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रहेलिका की परिभाषा करते हुए कहा है: **व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं, स्वरूपार्थस्य गोपना यत्र वाह्यार्थ सम्बन्धः कथ्यते सा प्रहेलिका**[1]—"जहा स्वरूपार्थ को छिपाकर केवल थोडा-सा अर्थ व्यक्त करके वाह्यार्थ सम्बन्ध बताया जाता है, उसे प्रहेलिका कहते हैं।" इस अर्थ मे विश्व (युनिवर्स) स्वयं एक प्रहेलिका है। विश्व प्रहेलिका के मुख्य तीन पहलू हैं:

१. विश्व क्या है ?
२. विश्व कितना वडा है ?
३. विश्व की आयु क्या है ?

प्रथम पहलू मुख्यतः तत्त्व-मीमासा (मेटाफिजिक्स) से सम्बन्धित है। प्रथम प्रकरण मे पाश्चात्य दार्शनिको और वैज्ञानिको के दर्शन का ऐतिहासिक क्रम से विश्लेषण कर सत् के स्वरूप पर सामान्य रूप से तथा आकाश काल के स्वरूप पर विशेष रूप से चिन्तन किया गया है। दार्शनिको मे प्लुटो, अरस्तु, डेमोक्रिटस, डेकार्ट्स, गेसेण्डी, लाइवनीज, लोक, वर्कले, ह्यूम, काण्ट, रसल और मार्गेनो के नाम तथा वैज्ञानिको मे न्यूटन, आइन्स्टीन, एडिंग्टन, जेम्स जीन्स, हाइसनवर्ग, राइशनवाख आदि उल्लेखनीय हैं। इसमे भी आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे प्राक् व पश्चात् कालीन आकाश-काल की वैज्ञानिक धारणाओ (कन्सेप्ट्स) का भौतिक शास्त्रीय (फिजिकल), गाणितिक (मेथमेटिकल) व दार्शनिक (फिलोसोफिकल) विवेचन प्रमुखतया किया गया है।

दूसरे और तीसरे पहलू का सम्बन्ध ज्योति विज्ञान (एस्ट्रानोमी), विश्वाकृति (कोस्मोलोजी) व विश्वायु (कोस्मोगोनी) से है। दूसरे प्रकरण मे शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका विवेचन किया गया है। विस्तीर्यमाण विश्व (एक्सपाण्डिग युनिवर्स) की आधुनिक धारणा के साथ-साथ डा० ज्यार्ज

---

१. अभिधान चिन्तामणि नाममाला, स्वोपज्ञवृत्ति, २/१७३

गेमो, एबे लेमैत्रे, हवल, व्हीपले, टॉलमेन, ग्राइन्स्टीन, एडिंग्टन, फ्रेड होयल, हर्मन बोण्डी, थोमसगोल्ड, मार्टीन रीले ग्रादि वैज्ञानिको द्वारा प्रदत्त विश्व-सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत प्रकरण मे मुख्य रूप से हुग्रा है।

तीसरा प्रकरण समग्र रूप से जैन दर्शन से सम्बन्धित है। इसमे जैन दर्शन के दृष्टिकोण से विश्व-प्रहेलिका के तीनो पहलुग्रो का स्पर्श किया गया है, जिससे इस प्रकरण के तीन विभाग हो जाते हैं।

(क) जैन दर्शन की द्रव्य-मीमासा का सामान्य रूप से ग्रौर ग्राकाश, काल (तथा धर्मास्तिकाय, ग्रधर्मास्तिकाय) के तात्त्विक स्वरूप का विशेष विवेचन।

(ख) लोक के ग्राकार व धनफल का गारिणतिक विवेचन तथा ग्राधुनिक मानो मे 'रज्जु' के ग्रकीकरण की विधिया।

(ग) विश्व-ग्रायु से सम्बन्धित जैन दर्शन के काल-चक्रीय विश्व-सिद्धान्त का विवेचन।

चतुर्थ प्रकरण समस्त विश्व-सिद्धान्तो की समीक्षा का है। 'समीक्षा' का मूल निकष तर्क ही रहा है तथा तटस्थता की मर्यादा का उल्लघन न हो, इसका भी पर्याप्त ध्यान रखा गया है। जैन दृष्टिकोण के साथ प्रत्येक सिद्धान्त की तुलना भी की गई है।

ग्रन्त मे 'जैन गरिणत' से सम्बन्धित चार परिशिष्ट है। पहले दो परिशिष्टो मे क्रमश जैन दर्शन के क्षेत्र-मानो तथा काल-मानो का विवेचन किया गया है तथा ग्राधुनिक मानो के साथ तुलना भी की गई है।

तीसरे परिशिष्ट मे जैन दर्शन के सख्या-विचार को गारिणतिक सूत्रो द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'सख्यात' ग्रौर ग्रनन्त' के बीच 'ग्रसख्यात' की कोटि (केटेगरी) का निरूपण जैन गरिणत की मौलिक विशेषता है। 'ग्रसख्यात' की शास्त्रीय परिभाषा देकर उसका ग्राधुनिक गारिणतिक विधि से मूल्याकन करने का प्रयत्न किया गया है। इस गारिण-तिक विवेचन से उक्त मध्यम कोटि की सार्थकता पूर्णरूपेण सिद्ध हुई है। इतना ही नही, ग्रपितु ग्राधुनिक गरिणतज्ञो के लिए यह प्रश्न चिन्ह है।

चतुर्थ परिशिष्ट मे पहले मृदगाकार लोक-धनफल का धवलाकार वीरसेनाचार्य (विक्रम सवत् ८०६-८४१) द्वारा कृत गारिणतिक विवेचन उद्धृत किया गया है। तत्पश्चात् ग्राधुनिक चलकलन गरिणत (इन्टिग्रल

केल्क्युलस) के आधार पर लोकाकृति-निर्णय के मेरे अनुसन्धान को प्रस्तुत किया है। श्वेताम्बर-परम्परा मे प्रचलित लोकाकृति व घनफल की विसगति को यह पूर्णरूपेण दूर करता है। समस्त जैन परम्पराओ द्वारा यह नवीन लोकाकृति उपादेय है।

नवीन प्रणाली के अनुसार पुस्तक मे प्रयुक्त ग्रन्थ-सूचि व शब्दानुक्रम के साथ **विश्व-प्रहेलिका** समाप्त होती है।

विश्व-प्रहेलिका से सम्बन्धित पहलुओ के विवेचन के साथ-साथ कुछ एक चिन्तनीय तथ्य आनुषङ्गिक रूप से प्रसूत हुए हैं। इनमे से कुछ एक विन्दुओ के प्रति वैज्ञानिको एव दार्शनिको का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

१. सहति शून्य (मासलेस) पदार्थ की सम्भावना : आधुनिक वैज्ञानिक धारणाओ के अनुसार सहति को भूत का मौलिक गुण माना गया है, जब कि जैन दर्शन के अनुसार सहति पुद्गल का मूल भूत गुण नही है (देखें, पृ० १६८।) सहति-शून्य पदार्थ का अस्तित्व मानने से

(क) प्रकाश के वेग से अधिक वेग सम्भावित होता है।

(ख) नये जड की उत्पत्ति की परिकल्पना को सगत बनाया जा सकता है।

प्रथम तथ्य की चर्चा तो प्रस्तुत पुस्तक मे की गई है (देखें, पृ० १९९)। नये जड़ की उत्पत्ति की परिकल्पना फ्रेड होयल, हर्मनवोण्डी तथा थोमस गोल्ड ने स्थायी-अवस्थावान्-विश्व-सिद्धान्त के अन्तर्गत की है। प्रस्तुत पुस्तक मे इसका खण्डन किया गया है (देखें, पृ० २०९-२१४)। यदि 'नये जड' से हम केवल 'सहति'[1] के ही उत्पादन का अर्थ ग्रहण करते हैं, तो जैन दर्शन के साथ उक्त परिकल्पना की सगति बिठाई जा सकती है। स्कन्ध-निर्माण से पूर्व पुद्गल सहति-शून्य अवस्था मे अस्तित्ववान् होता है। परमाणु-सन्घात से जब स्कन्ध-निर्माण होता है, तब सहति-गुण अस्तित्व मे आता है,[2] अतः विश्व-विस्तार से उत्पन्न रिक्तता को भरने के लिए यदि नये जड की उत्पत्ति

---

१. चूकि सहति-शक्ति समीकरण के अनुसार दोनो एक ही सत् की पर्याय हैं, यहा 'सहति' के साथ शक्ति (ऊर्जा, एनर्जी) का ग्रहण अपने आप हो जाता है।

२ ननु स्पर्शी स्कन्धो मे तो स्कन्धावस्था मे भी सहति-शून्य अवस्था ही रहती है।

को परिकल्पना की जाती है, तो उसका यही तात्पर्य हो सकता है कि पहले से ही विद्यमान परमाणुओ के द्वारा अष्ट-स्पर्शी स्कन्धो का नव निर्माण होता है। इस प्रकार, वस्तुत 'नया जड' उत्पन्न नही होता, पर सहित-शून्य अवस्था मे पहले से ही विद्यमान पुद्गल का रूपान्तर सहतिमान् अवस्था मे हो जाता है। इसी प्रकार जहा विद्यमान जड के नाश की परिकल्पना की गई है (देखें, पृ० २२३), वहा भी यही तात्पर्य हो सकता है कि सहतिमान् अवस्था मे रहे पुद्गल-स्कन्ध सहति-शून्य अवस्था मे परिणत होते है। यदि आकाश-गगाओ की गति का तात्पर्य समग्र विश्व का विस्तार न लेकर केवल कुछ आकाश-गगाओ के एक-दूसरे से दूर जाना ही हो, तो स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त जैन दृष्टिकोण के साथ काफी सगत हो जाता है। विस्तार के बाद सकोच और सकोच के वाद विस्तार-इस रूप मे आकाश-गगाओ की गति व प्रतिगति के क्रम की भी परिकल्पना की गई है देखें, पृ० २०६)। इसका तत्पर्य यह हो सकता है कि आकाश-गगाओ की गति-प्रतिगति के साथ स्कन्ध-निर्माण व स्कन्ध-ध्वस का क्रम चलता रहता हो और विस्तार से जनित रिक्तता व सकोच से जनित बहुलता की परिणति की पूर्ति होती रहती हो। इस प्रकार, अनन्त-काल तक ध्वस-निर्माण के साथ-साथ स्थायी अवस्था बनी रहती हो।

यह उल्लेखनीय है कि सन् १९६४, जून मे होयल के साथ भारतीय युवा वैज्ञानिक जयन्त विष्णु नारलीकर ने गाणितिक आधारो पर एक नया विश्व-सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जिसमे स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त को ही नया रूप दिया गया है। प्रस्तुत सहति-शून्य पदार्थ की परिकल्पना उक्त सिद्धान्त के लिए काफी महत्वपूर्ण हो सकती है।[1]

२ **काल का क्वांतमीकरण** : क्वातम सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ऊर्जा सतत प्रवाहशील न होकर क्वातमो मे उत्सर्जित होता है, उसी प्रकार जैन दर्शन के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि काल

---

१ होयल-नारलीकर सिद्धान्त की घोषणा से पूर्व ही सहति-शून्य पदार्थ के अस्तित्व की सम्भावना का सकेत अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य-विद्या सम्मेलन, दिल्ली मे ४ जनवरी, १९६४ को पढ़े गये **स्पेस एण्ड टाइम इन जैन मैटाफिजिक्स एण्ड मोर्डन फिजिक्स** शीर्षक मेरे शोध-पत्र मे किया जा चुका था।

का प्रवाह भी सतत न होकर क्वातम–पद्धति से चलता है । जैन दर्शन के अनुसार काल का सूक्ष्मतम अंश 'समय' है । एक आवलिका ($=१.७ + १०^{४}$ सेकिण्ड लगभग)[1] के समग्र समयो की सख्या 'जघन्ययुक्त–असख्यात' मानी गई है, 'अनन्त' नही । तात्पर्य यह हुआ कि काल का सूक्ष्मतम अंश भी सेकिण्ड का 'अनन्त' वा हिस्सा न होकर 'सान्त' वा हिस्सा ही है । इस प्रकार 'समय' सूक्ष्मतम होता हुआ भी एक सेकिण्ड का अनन्ताश नही है । इसका तात्पर्य यही होता है कि काल अस्खलित न होकर क्वातमो मे प्रवाहित होता हे । ज० यु० अ० की परिभाषा व गणना के आधार पर 'समय' का मान $क्ष^{-क्ष}$ सेकिण्ड से भी सूक्ष्म है, जहा

$$क्ष = य^{य^{य^{\cdot^{\cdot^{\cdot}}}}} \quad (१०^{१३४} \text{ वार})$$

होता है, जिसमे य का मूल्य $१०^{१०^{१०^{१४३}}}$ है । काल के क्वातमी–करण की प्रस्तुत सम्भावना यदि सही है, तो सैद्धान्तिक विज्ञान के क्षेत्र पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड सकता है ।

इस प्रकार अनेक विषयो पर आनुषङ्गिक रूप से चर्चा की गई है । कुछ एक विषय ऐसे भी है, जिन पर प्रस्तुत पुस्तक मे केवल सक्षिप्त रूप से चर्चा की गई है, पर दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण है । उदाहरणार्थ, आत्मा का अस्तित्व । इस विषय की चर्चा केवल वैज्ञानिक ज्ञान-मीमामा (साइन्टीफिक एपिस्टेमोलोजी) की दृष्टि से की है, किन्तु मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान (पैरासायकोलोजी) व जैविकी (बायलोजी) के आलोक मे इस विषय पर विस्तृत चर्चा की जा सकती है । उसी प्रकार 'परमाणुवाद' का विषय है । जैन दर्शन मे इसका अतिविस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना आधुनिक भौतिक विज्ञान व प्राचीन युनानी दार्शनिको

---

१. इसका सही मूल्य [illegible] सेकिण्ड है । देखे, (परिशिष्ट—२) ।

के सिद्धान्त के साथ की जा सकती है। वर्ण (कलर) के मौलिक स्वरूप को लेकर विश्व- विख्यात भारतीय वैज्ञानिक सर सी० वी० रमन के चल रहे शोधकार्य[1] का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि जैन दर्शन मे किया गया वर्ण का तात्त्विक विवेचन बहुत अशो मे उसके साथ साम्य रखता है।

जैन दर्शन के 'अनेकान्तवाद' की चर्चा भी प्रस्तुत पुस्तक मे केवल सकेत रूप से हुई है। इसका महत्त्व केवल तत्त्व-मीमासा व ज्ञान-मीमासा तक सीमित न होकर ज्ञान की अन्यान्य शाखाओ तक व्याप्त है। लब्ध प्रतिष्ठित भारतीय साख्यिकीविद् (स्टेटिस्टिशीयन) डा० पी० सी० महलनोबीस एफ० आर० एस० ने तो यहा तक माना है कि आधुनिक साख्यिकी के मूलभूत सिद्धान्तो की तार्किक भूमिका हमे स्याद्वाद के तार्किक सिद्धान्त मे उपलब्ध होती है।[2] डा० महलनोबीस ने विस्तृत विवेचन के साथ बताया है कि किस प्रकार जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सप्तभगी, परिणामी–नित्यत्ववाद आदि सिद्धान्त आधुनिक साख्यिकी के सम्भावनावाद (थियोरी ऑफ प्रोबेबिलिटी), इकाई और समूह के सम्बन्ध की धारणा कशेप्ट आफ एन इण्डिविज्युअल इन रिलेशन टू दी पोप्युलेशन), एसोसिएशन, कोरिलेशन व कन्कोमिटण्ट वेरिएशन का सिद्धान्त, स्टोकेस्टिक प्रासेस अनिश्चित परिणाम की धारणा (कशेप्ट ऑफ अनसरटन इन्फरस) आदि विचारो की तार्किक पृष्ठभूमि के रूप मे प्रस्तुत हुए हैं।

ज्योतिर्विज्ञान (एस्ट्रोनोमी) के उन्ही पहलुओ का स्पर्श प्रस्तुत पुस्तक मे किया गया है, जो समग्र ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित है। खगोल–भूगोल–सम्बन्धी जैन दर्शन की मान्यताओ का आधुनिक मान्यताओ के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपने आप मे एक स्वतन्त्र व बृहद् विषय है। अब तक तो जैन खगोल के रहस्यो को केवल पारस्परिक रूप से जाना गया है। आवश्यकता है, आधुनिक गाणितिक पद्धतिओ से उनका प्रतिपादन किया जाये तथा आधुनिक ज्योति विज्ञान की धारणाओ के साथ उनकी तुलना की जाये। जैन गणित के सम्बन्ध मे यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक मे कुछ विवेचन किया गया है, फिर भी यह विषय भी बहुत अधिक विस्तृत है। जैन ज्यामिति, बीज गणित, अक गणित आदि का समग्र विवेचन व आधुनिक गणित के साथ उसकी तुलना काफी

---

१. करन्ट साईन्स, वाल्युम ३३, अक १–२४, १९६४।

२. फाउण्डेशन्स ऑफ स्टेटिस्टिक्स, ६·१–६·७ (ज्यूरिच (Jurich) मे १९५३ मे हुए सिम्पोसियम मे पठित)।

उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह उल्लेखनीय है कि श्री ए० एन० सिंह,[1] डा० लक्ष्मीचन्द्र जैन[2] आदि विद्वानो ने इस दिशा मे अपनी लेखनी चलाकर अवश्य ही सराहनीय कार्य किया है।

हिन्दी वाड्मय मे विज्ञान-विषयक सामग्री की अब तक अल्पता रही है। उसमे भी आपेक्षिकता के सिद्धान्त जैसे जटिल विषयो पर सर्व-साधारण-भोग्य मौलिक विवेचन का तो अभाव-सा रहा है। अंग्रेजी पुस्तको के कुछ अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, पर मौलिक रूप से इस विषय मे लिखने के प्रयास कम हुए है। वैज्ञानिक पारिभाषिक पदो के लिए यथार्थ शब्द-प्रयोग की समस्या इसमे मुख्यत कारण रूप है। यह कठिनाई मेरे सामने भी थी। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पारिभाषिक शब्दावली से यह कठिनाई अवश्य कुछ कम हुई, फिर भी कुछ एक पारिभाषिक शब्दो को मुझे अपने आप गढना पडा है। कुछ एक ऐसे शब्दो की व्याख्या टिप्पण मे दी गई है। चतुर्थ परिशिष्ट मे चलकलन गणित (इण्टिग्रल केल्क्युलस) से सम्बन्धित विवेचन अंग्रेजी मे करना पडा है, इसका मुझे खेद है। जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दो की भी आवश्यकतानुसार व्याख्या की गई है। कही-कही इसका समानार्थक वैज्ञानिक शब्द भी दे दिया है। भाषा को अधिक साहित्यिक व आलङ्कारिक न बनाकर प्राञ्जल ही रखा गया है। गणित और विज्ञान से सम्बन्धित विषय की स्पष्टता के लिए चित्र भी दिये गये हैं।

प्रस्तुत विषय के प्रतिपादन मे जिन ग्रन्थों का आधार लिया गया है, वे अपने-अपने क्षेत्र के आधारभूत व प्रामाणिक ग्रन्थ है। वैज्ञानिक प्रतिपादन के लिए न्यूटन, आइन्स्टीन, हाइसनबर्ग, हर्मन वाइल, फ्रेड हायल, ज्यार्ज गेमो आदि विश्व विख्यात वैज्ञानिको के ग्रन्थो का आधार लिया गया है। वैज्ञानिको की दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन मुख्यतः एडिंग्टन, जीन्स, मार्गेनो, व्हीहाकार, राइशनबाख आदि के ग्रन्थों पर आधारित है। पाश्चात्य दार्शनिको की विचारधारा का निरूपण अधिकाशतया उनके मौलिक ग्रन्थो के आधार पर ही किया गया है, जैसे प्लुतो का रिपब्लिक,

---

१. षट्खण्डागम (धवला टीका सहित), खण्ड ४, भूमिका, पृ० ५-२१

२. जम्बूदीवपण्णत्ती संगहो की भूमिका मे तिलोयपण्णत्ती का गणित सद्यः प्रकाशित बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ कलकत्ता मे तथा महावीर जयन्ती स्मारिका (१९६८), जयपुर, मे एतद्विषयक लेख इस दिशा मे अगले चरण के रूप मे है।

अरस्तु का **फिजिक्स** आदि। इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध दर्शन शास्त्र–आलोचक वर्ट्रेण्ड रसल, विल डूरण्ट आदि के ग्रन्थो का आधार भी लिया गया है।

जैन दर्शन की विचारधारा का प्रतिपादन मुख्यतः मूल आगमो के आधार पर किया गया है। इसके अतिरिक्त वे ग्रन्थ भी प्रयुक्त हुए हैं, जो मूल आगमिक निरूपण के साथ पूर्णतया सगत हैं। श्वेताम्बर आगमो मे **भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र, जम्बूद्वीपपण्णत्ती सूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र** आदि बहुलतया प्रयुक्त हुए हैं तथा आगमोत्तर ग्रन्थो मे उमास्वाति रचित **तत्त्वार्थ सूत्र** (यह श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो परम्परा मे मान्य है), विनय-विजयजी कृत **लोकप्रकाश,** आचार्य श्री तुलसी विरचित **श्री जैन सिद्धान्त दीपिका** आदि का आधार लिया गया है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे षट्खण्डागम पर वीरसेनाचार्य कृत **धवला टीका,** आचार्य कुन्दकुन्द कृत **पंचास्तिकायसार,** यतिवृषभाचार्य रचित **तिलोयपण्णत्ती,** नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित **त्रिलोकसार व बृहद्-द्रव्य-संग्रह,** पद्मनन्दी कृत जम्बूदीवपण्णत्ती सग्रहो आदि का आधार मुख्यरूपेण लिया गया है।

जैन दर्शन की प्राचीनता के विषय मे अब विद्वानो मे कोई सदिग्धता नही रही है। जहा कुछ विद्वान् हडप्पा व मोहन-जो-दडो की प्राग्-वैदिक सभ्यता का सम्बन्ध जैन सस्कृति के साथ जोडते हैं,[1] वहा तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व (ई० पू० ८वी शताब्दी) का व्यक्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि मे वास्तविक सिद्ध हो चुका है।[2] यदि प्रस्तुत पुस्तक मे प्ररूपित जैन दर्शन की विचारधारा को केवल चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (ई० पू० ५९९–५२७) से ही सम्पृक्त मानें, तो भी इसकी प्राचीनता लगभग २५०० वर्ष की तो हो ही जाती है। यह वस्तुत. ही रोमाचक बात है कि ई० पू० छठी शताब्दी मे उद्भूत दार्शनिक विचारधारा का ईसा की बीसवी शताब्दी मे प्रादुर्भूत वैज्ञानिक विचारधारा का अद्भुत साम्य प्रस्तुत पुस्तक मे प्रसूत हुआ है।

विश्व प्रहेलिका के लेखन मे अनेक व्यक्तियो का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा है। जिन-जिन लेखको के ग्रन्थो का उपयोग मैंने किया है, उन सभी के प्रति कृतज्ञता-भाव सहज है। प्रात स्मरणीय आचार्यश्री तुलसी का परोक्ष मार्ग-दर्शन प्रस्तुत लेखन मे बहुत सहायक हुआ है। आचार्य प्रवर का सदैव

---

१. उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, ए० चक्रवर्ती लिखित **रिलिजन ऑफ अहिंसा।**

२ उदाहरणार्थ देखें, हार्म्सवर्थ, **हिस्ट्री आफ वर्ल्ड,** खण्ड २, पृ० ११९४।

यह दृष्टिकोण वना रहता है कि सघ के साधु-साध्विया आधुनिक विषयो पर खोजपूर्ण साहित्य तैयार करे । अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी के दश वर्षीय सान्निध्य ने मुझे शिक्षा-क्षेत्र मे आगे बढाया है। उनका प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन व सतत प्रेरणा मुख्य रूप मे इस कार्य में निमित्त बनी है। मुनिश्री महेन्द्र कुमारजी 'प्रथम' का नैकट्य भी प्रस्तुत लेखन-कार्य मे हेतुभूत बना है । अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो के वे कुशल सपादक रहे हैं और उनकी सम्पादन-दक्षता से मुझे भी बहुत कुछ सीखने को मिला है। भाषा की प्राञ्जलता मे अभिवृद्धि हेतु उनके महत्त्वपूर्ण सुझाव रहे हैं। मुनिश्री मानमलजी (बीदासर) भी, जिनकी प्रेरणा मेरे जीवन की दिशा को वदलने मे निमित्तभूत हुई है, अनेक प्रकार से मेरे इस कार्य मे सहायक हुए है। जागतिक सम्बन्ध से मेरे पिता श्रीजेठालाल एस० झवेरी के साथ भी समय-समय पर दर्शन व विज्ञान के सम्बन्ध मे चर्चाए चलती रहती है और उनके अनेक सुझाव मुझे इस विषय मे प्राप्त हुए है। सभी का मुक्त सहयोग मेरे लिए अविस्मरणीय है।

प्रस्तुत कृति विज्ञान, गणित व दर्शन मे गति रखने वाले पाठको के लिए यदि रुचिकर व उपयोगी सिद्ध हुई तथा विश्व की जटिल पहेली के समाधान मे योगदान दे सकी, तो मैं अपने पुरुषार्थ को सार्थक मानूंगा।

२३ अक्टूबर, १९६८ —मुनि महेन्द्रकुमार 'द्वितीय'
अहमदाबाद

सम्पादकीय

हर वर्तमान अतीत के गर्त मे समाता चलता है और उस पर समय की परत छाती चली जाती है। जो वर्तमान अपने समय मे लाखो मनुष्यो के मुह पर नाचता है, वही एक दिन अनुसन्धेय बन जाता है। विद्वान् विगतभूत वर्तमान को पकडने के लिए प्रयत्न करते हैं और उस समय का वर्तमान फिर अतीत के अचल मे सिमिट जाता है। यह क्रम चलता ही रहता है। इसी प्रयत्न मे वर्तमान को भी परतो मे न दबने से बचाया नही जाता। इतिहास अपनी सफलता इसी मे आकता है।

दर्शन. धर्म, सस्कृति, सभ्यता आदि सभी के अतीत को कुरेदा जाता है और वहाँ से जो भी यत् किचित् प्राप्त होता है, उसे वर्तमान मे सझाया जाता है। कुछ विद्वान् केवल ऊपरी सतहो तक रह जाते हैं और कुछ अन्तर की सूक्ष्मताओ के भेदन मे सफल होते है। वे अतीत को भी एक बार वर्तमान के सामने लाकर खडा कर देते हैं। उन्हे अपने कार्य पर प्रसन्नता होती है और समाज को उस पर गौरव, क्योकि विलुप्त प्रायः तथ्य उस समय नया परिधान लेकर प्रकट होते हैं। मुनि महेन्द्र कुमार जी 'द्वितीय' की प्रस्तुत कृति 'विश्व प्रहेलिका' इसी कोटि की रचना है। इस कृति मे जैन परम्परा के लोक-सम्बन्धी बहुत सारे तथ्य, जो कि समय की अनगिन परतो के नीचे दब चुके थे और जिन्हे विद्वद्वर्ग भी भूल-सा गया था, मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' ने जैन आगमो के आलोक मे उन्हे परखा है, तथा विज्ञान की अनेक सरणियो के साथ उन्हे सजोकर सरल भाषा तथा अनुकृतियो के साथ प्रस्तुत किया है।

जैन-परम्परा मे चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग धर्मकथानुयोग के साथ ही साथ गणितानुयोग का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है, किन्तु मध्यवर्ती युग मे द्रव्यानुयोग का अनुशीलन अल्प होता गया और गणितानुयोग का अनुशीलन तो अतीव अल्प हो गया। गणितानुयोग-सम्बन्धी जो रहस्य आचार्यों ने उल्लिखित किये हैं, उन्हे हृदयगम किया जाना भी अत्यन्त कठिन हो गया। कुछ परम्पराएं लुप्तप्रायः हो चुकी हैं। उनके अभाव मे बहुत सारे पूर्व उल्लिखित स्थलो के बारे मे कुछ एक विद्वानो ने यह भी निर्णय दे दिया है कि प्राचीन सगत नही हैं। यथार्थता यह है कि वहाँ

तक पहुँचने की सारणिया स्पष्ट नही रही और नई उपज के अभाव मे उक्त निर्णय के अतिरिक्त और क्या चारा हो सकता था। प्रसन्नता की बात है. मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' ने प्रस्तुत पुस्तक मे न केवल प्राचीन परम्पराओ तक पहुँचने की सर्राणया ही प्रस्तुत की है, अपितु अपनी नई उपज से गणितानुयोग के क्षेत्र मे नये आयाम भी जोडे है। इस प्रयत्न से न केवल जैन परम्परा ही उपकृत हुई है, बल्कि भारतीय प्राचीन गणित पद्धतियो को नये रूप मे प्रस्तुत करने की भी नई विधा का श्रीगणेश हुआ है।

२५ मई, ६१ की बात है। दिल्ली विश्व विद्यालय द्वारा समायोजित चतुर्थ ग्रीष्म कालीन गणित सगीति का कार्यक्रम चल रहा था। दिल्ली विश्व विद्यालय के गणित विभाग के तात्कालीन अध्यक्ष डा० रामविहारी माथुर ने सगीति मे शोध पत्र पढने के लिए मुझे तथा मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' को आमन्त्रित किया। डा० माथुर के सुझाव के अनुसार हमने जैन गणित से सम्वन्धित ही विषयो का चुनाव किया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' का विषय था, 'दी युनिवर्स इन जैन मैथमेटिक्स' और मेरा विषय था, 'अक-स्मृति के प्रकार'। दोनो ही शोध पत्रो के पढे जाने के बाद प्रश्नो की बौछार हुई। विशेषत मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' के शोध पत्र पर। जितने वेग से प्रश्न आये थे, उतने ही वेग व अधिकार से उनके उत्तर दिये गये। विपय का गहरा मन्थन हुआ। दो घण्टे के कार्यक्रम के उपरान्त सयोजक ने अपने भापरा मे कहा—"दोनो ही शोध पत्रो ने हमे बहुत कुछ चिन्तन के लिए विवश कर दिया है। भारतीय गणित मे जैन गणित का महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह आज प्रमाणित हो चुका है।"

मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' का वह शोध पत्र प्रस्तुत पुस्तक का ही एक सक्षिप्त रूपान्तर था।

मुनि महेन्द्र कुमारजी 'द्वितीय' का जन्म एक सम्पन्न व उच्च शिक्षित गुजराती परिवार मे हुआ। वे वचपन से ही मेधावी थे। बम्बई का मनमोहक वातावरण उनके अध्ययन मे कभी बाधक नहीं हुआ, क्योकि वे अपने लक्ष्य मे सुदृढ थे। २० वर्ष की अवस्था मे भौतिकी मे स्नातक होते ही उन्होने अपना क्षेत्र वदल लिया। वे अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गये। आचार्य श्री तुलसी के कर-कमलो से उन्होने भागवती दीक्षा ग्रहण की। जो भौतिकता को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है, भगवान् महावीर के इस वाक्य को उन्होने क्रियान्वित किया। साधना मे अग्रसर होते ही उन्होने

संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं का, गुजराती, राजस्थानी, मराठी आदि प्रादेशिक भाषाओं का तथा इंग्लिश, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं का गहरा अध्ययन किया। अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी के सतत सान्निध्य मे रहते हुए। अपने अध्ययन को प्रौढ बनाया तथा ज्ञान की अनेक दिशाओं मे अग्रसर हुए। अनेकानेक हिन्दी पुस्तको का अंग्रेजी अनुवाद किया तथा अनेक पुस्तको का कुशल सम्पादन व लेखन किया। वे शतावधान विद्या मे भी निष्णात बने।

'विश्व प्रहेलिका' विश्व की प्रहेलिका मात्र ही नही है, अपितु उसका समाधान भी है। दर्शन और विज्ञान के आलोक मे 'विश्व क्या है ? विश्व कितना बडा है ? विश्व की आयु क्या है ?' का उत्तर सचमुच ही विद्वानो को प्रीणित करेगा और चिन्तन के लिए नये आयाम खोलेगा।

१५ अक्टूबर, ६८ —मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम'
जयपुर

अनुक्रम

विश्व प्रहेलिका

पूर्व पीठिका

मानव-मस्तिष्क जिज्ञासाओ का महासागर है। उसमे प्रश्न की तरगे और कल्लोलें उठती रहती हैं। मनुष्य अपनी इन्द्रियो के द्वारा ज्योही प्रकृति की प्रक्रियाओ का दर्शन करता है, त्योही 'कैसे ?', 'क्यो ?' आदि प्रश्न खडे हो जाते हैं। तब वह अपनी तर्क, बुद्धि और अन्तः-दर्शन की शक्तियो का सहारा लेकर इन प्रश्नो का समाधान करने का प्रयत्न करता है। यहा से ही ज्ञान का स्रोत प्रारम्भ होता है। जो मनुष्य उन प्रश्नो का उत्तर अपने सहज अन्त - दर्शन के सहारे दे सकता है, वह दार्शनिक है। दूसरी ओर जो तर्क और बुद्धि-बल का उपयोग करके इन प्रश्नो को शान्त करता है, वह वैज्ञानिक है। विज्ञान और दर्शन, एक ही ज्ञान-स्रोत की दो धाराएं हैं। अति प्राचीनकाल से मनुष्य के जिज्ञासु मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने के लिए ये दो धाराए सतत रूप से प्रवाहित होती रही हैं। कुछ प्रश्नो के उत्तर वह पा लेता है, कुछ एक प्रश्न अति आयास उठाने पर भी समाधान नही पाते। इन प्रश्नो मे सबसे अधिक महत्त्व रखने वाले प्रश्न 'विश्व' के बारे मे रहे हैं : "विश्व क्या है ?", "विश्व का आकार क्या है ?", "विश्व कितना बडा है ?", "विश्व की आदि कब हुई ?" , "विश्व का अन्त कब होगा ?" आदि प्रश्न एक जटिल प्रहेलिका प्रस्तुत करते हैं। इस 'विश्व-प्रहेलिका' को सुलझाने का प्रयत्न विज्ञान के आदि काल से अब तक वैज्ञानिको ने किया है। दूसरी ओर दार्शनिक भी इस प्रहेलिका के विषय मे मौन नही रहे हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनो मे विविध रूप से इसको सुलझाने का प्रयत्न हुआ है। सभी दार्शनिको के मन्तव्यो की चर्चा अति विस्तृत कार्य है। अत प्रस्तुत लघुकाय पुस्तिका मे मुख्य रूप से जैन दर्शन की चर्चा की गई है। 'विश्व-प्रहेलिका' विज्ञान और जैनदर्शन द्वारा विश्व के विषय मे दिये गये विचारो के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित एक निबन्ध है।

विज्ञान और दर्शन का लक्ष्य एक होते हुए भी इनके साधनो में अन्तर है। दर्शन अन्तर्ज्ञान-शक्ति (Intutional Power) पर आधारित होता है, जबकि विज्ञान बौद्धिक शक्ति पर। दर्शन 'तर्क' को कसौटी मानकर चलता है, जबकि विज्ञान 'प्रयोग' को। विज्ञान और दर्शन की इस भिन्नता के होते हुए भी, कभी-कभी ये एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं—यहां तक कि एक

मृत्यु की समस्याए । जैसे ही जिज्ञासा का समाधान सम्यक् ज्ञान के रूप मे होता है, वह 'विज्ञान' की संज्ञा को प्राप्त कर लेता है ।" डूरण्ट के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन किसी भी रूप मे विज्ञान से निम्न नही है। कोई-कोई विचारक तो 'दर्शन' को विज्ञान से भिन्न ही नही मानते। जैसे कि केसरलिंग (Keyserling) ने लिखा है [1]"ज्ञान के सश्लेषण मे दर्शन विज्ञान का ही अंग है। .. .. ज्ञान-मीमासा (Epistemology), प्रमाण-मीमासा (Phenomenology), तर्क-शास्त्र (Logic) आदि विज्ञान की ही महत्त्वपूर्ण शाखाए हैं। वस्तुत तो वे उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी कि 'रसायन-शास्त्र' और 'शरीर-रचना-शास्त्र' की वैज्ञानिक शाखाए ।"

विज्ञान को दर्शन से अधिक पूर्ण बताने वाले अधिकाशतया यह तर्क उपस्थित करते हैं कि केवल कल्पना पर आधारित होने के कारण दर्शन का प्रामाण्य संदिग्ध है, जबकि विज्ञान निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। यह बात सत्य है कि आज के युग मे विज्ञान ने अभियान्त्रिकी (Engineering) और तकनीकी (Technology) के क्षेत्रो मे अभूतपूर्व सफलता पाकर, ज्ञान की अन्य शाखाओ को बहुत पीछे रख दिया है। इस सफलता ने मनुष्य के मस्तिष्क मे विज्ञान के प्रति सम्मान और हृदय मे उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। अधिकाश लोग यह मानते हैं कि जो कुछ भी विज्ञान द्वारा घोषित होता है, वह 'अन्तिम सत्य' का उच्चारण है।

किन्तु सामान्यता लोग सैद्धान्तिक (वैचारिक) विज्ञान और व्यावहारिक (प्रायोगिक) विज्ञान के बीच जो अन्तर है, उसे परख नही पाते। यद्यपि यह सत्य है कि विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष सैद्धान्तिक पक्ष से निकटतया सम्बन्धित है, फिर भी इनके प्रामाण्य के विषय मे मूलभूत अन्तर भी है। वस्तुत यह निश्चित रूप से माना गया है कि [2]प्रायोगिक विज्ञान के तथ्य विज्ञान के वैचारिक पक्ष को सूचित नहीं करते। अत अभियान्त्रिकी और तकनीकी क्षेत्र मे विज्ञान की अद्वितीय सफलता होते हुए भी 'वैज्ञानिक नियम' अथवा 'वैज्ञानिक सिद्धान्त' अन्तिम सत्य का उच्चारण हैं, ऐसा नही माना जा सकता। इसका कारण यही है कि सामान्य मनुष्य वैज्ञानिक

१ क्रिएटिव अण्डरस्टैंडिंग पृ० १२५।

२ देखें, फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, ले० डबल्यु० हाईसनबर्ग, पर एफ० एस० सी० नोर्थरोप द्वारा लिखित इन्ट्रोडक्शन, पृ० १४।

सिद्धान्तो का जितना वास्तविक मानता है उससे अधिक वे काल्पनिक हैं। यह बात एफ० एस० सी० नोर्थरोप (F. S. C Northrop) के इन शब्दो मे स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है

[1]"विधानात्मक शब्दो मे हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त, प्रायोगिक तथ्यो का वर्णन मात्र नही है, और न इस वर्णन के आधार पर किया जाने वाला अनुमान हैं। किन्तु जैसे आईन्स्टीन ने जोर देकर कहा है, भौतिक-विज्ञानवेत्ता अपने सिद्धान्त का निर्णय काल्पनिक आधारो पर करता है। उसके आनुमानिक निर्णयो मे तथ्य साधन और काल्पनिक सिद्धान्त साध्य नही होते, प्रत्युत काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर वह तथ्यो का और प्रायोगिक निष्कर्षो का अनुमान करता है। सक्षिप्त मे, भौतिक-विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त तथ्यो द्वारा आधारित कल्पनाओ से भी अधिक अनेक भौतिक और दार्शनिक कल्पनाए करता है। इसीलिए किसी भी सिद्धात मे परिवर्धन और परिवर्तन की सम्भावना रह जाती है। ...." इस प्रकार, वैज्ञानिक स्वय इस तथ्य को जानने लगे हैं कि वर्तमान विज्ञान के रूप मे उनके पास जो ज्ञान-राशि है, वह न केवल 'अपूर्ण' है अपितु 'सदिग्ध' भी है। इसी बात को आज तक जगत् के महान् वैज्ञानिको ने बार-बार दुहराया हैं।

सुकरात (Socrates) से भी प्राचीन यूनानी दार्शनिको के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ होता हैं—'वहिर्जगत् का अध्ययन'। [2]अब, आधुनिक शब्द-कोश के अनुसार 'वहिर्जगत् के अध्ययन' को 'विज्ञान' की सज्ञा दी गई है। इस प्रकार शब्द–रचना की दृष्टि से भी दर्शन और विज्ञान मे अत्यधिक साम्य है।

'विज्ञान' और 'दर्शन' के परस्पर सम्बन्धो के विषय मे विचारको में विचार–भेद होते हुए भी एक विचार स्पष्टतया मान्य हो चुका है कि दर्शन और विज्ञान मे अति निकट का सम्बन्ध है, और यदि प्रकृति की कोई 'प्रहेलिका' को सुलझाने का प्रयत्न दोनो के द्वारा हुआ हो, तो उनके तुलनात्मक अध्ययन से उस प्रहेलिका को सुलझाने मे अवश्य सरलता हो सकती है। कुछ एक आधुनिक वैज्ञानिको ने इस तथ्य का मूल्याकन किया है। उन्होंने आधुनिक विज्ञान के दर्शन–पक्ष की भी चर्चा की है। इसके परिणामस्वरूप एक नये विषय 'वैज्ञानिक दर्शन' (Philosophy of Science) का

---

१. वही, पृ० १३।

२. देखें, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १।

प्रादुर्भाव हुआ है । विज्ञान-जगत् में अपने 'अनिश्चितता के नियम' (Uncertainty Principle) से एक नया उन्मेष लाने वाले सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक वरनर हाईसनबर्ग (Werner Heisenberg) ने निकटभूत मे ही **'भौतिक-विज्ञान और दर्शन'** नामक पुस्तक लिखकर, इस विषय मे एक नया अध्याय जोडा है। इस पुस्तक के परिचय मे वैज्ञानिक एफ० एस० सी० नोर्थरोप ने लिखा है [1]"ये प्रश्न खडे होते हैं कि 'क्या भौतिक विज्ञान दर्शन से सर्वथा स्वतन्त्र है ?' तथा क्या दर्शन को हटाकर ही आधुनिक विज्ञान अधिक प्रभावशाली बना है ?'—इन दोनो प्रश्नो का उत्तर हाईसन-बर्ग 'निषेध' मे देते हैं ।" नोर्थरोप के इन शब्दो से उस विचार को स्पष्ट चुनौति मिल जाती है जो विज्ञान और दर्शन को पूर्व—पश्चिम की तरह मानता है और यह एक प्रमाणित सत्य हो जाता है कि आधुनिक विज्ञान की अत्य-धिक सफलता मे दर्शन का भी योग है ।

दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन से जो लाभ होता है, उसकी एक झाकी स्वय हाईसनबर्ग के शब्दो मे हमे मिलती है । 'वर्तमान चिन्तन मे आधुनिक विज्ञान के योग' की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं [2]"विज्ञान के इस आधुनिकतम अध्याय मे बहुत स्थानो पर अति प्राचीन वैचारिक समस्याओ की चर्चा की गई है और वह भी एक नए दृष्टिकोण से । सामान्यतया यह एक माना हुआ सत्य है कि मानव-चिन्तन के इतिहास मे **जब भी दो विचारधाराओ का मिलन होता है, तब अति सुपरिणाम-शाली विकास का उद्भव होता है ।** भले ही उन विचारधाराओ का उद्गम-स्थान मानव-सस्कृति के भिन्न-भिन्न विभागो मे हो, भिन्न-भिन्न काल मे हो, भिन्न-भिन्न सास्कृतिक परिस्थितियो मे हो अथवा भिन्न-भिन्न धार्मिक परम्पराओ मे हो। प्रत्युत ऐसी विचारधाराए यदि वस्तुत परस्पर मिलती हैं—यदि उनमे ऐसा सम्बन्ध है कि जिससे उनका वास्तविक सगम होता है तो यह सहज अनुमान है कि उसके परिणामस्वरूप नवीन और रोचक निष्कर्ष निकल सकते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञान का एक अ श—अणु-विज्ञान (Atomic Physics) आज के युग मे वस्तुत भिन्न-भिन्न सास्कृतिक परम्पराओ को स्पर्श करता है ।" हाईसनबर्ग के इस चिन्तन से प्राचीन पारम्परिक दर्शन के और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणो के तुलनात्मक अध्ययन का मूल्याकन

१. **फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी**, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १२ ।
२. वही, पृ० १६१ ।

सहज रूप में फलित होता है। यदि हम आधुनिक विज्ञान के दर्शन में प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करना चाहते हैं, तो प्राचीन दर्शनों का दृष्टिकोण इस विषय में क्या रहा है, यह जानना हमारे लिए निःसन्देह उपयोगी होगा।

कुछ विचारक आधुनिक विज्ञान के दर्शन को 'वैज्ञानिक दर्शन' नहीं मानते। उनके अभिप्रायानुसार यह नई दार्शनिक धारा केवल कुछ एक वैज्ञानिकों की है। किन्तु 'विज्ञान' का सहज दार्शनिक स्वरूप सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ए० एस० एडिंग्टन (Sir A. S Eddington) के शब्दों में हमें देखने को मिलता है। 'भौतिक विज्ञान का दर्शन' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं: [1]"यह बहुधा कहा जाता है कि विज्ञान का कोई 'दर्शन' नहीं है केवल कुछ एक वैज्ञानिकों का 'दर्शन' हो सकता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। 'वर्तमान भौतिक विज्ञान क्या है और क्या नहीं है?' इसका निर्णय करने वाले अधिकारी विद्वानों के अभिप्राय को यदि हम मान्यता देते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान भौतिक-विज्ञान का एक सुनिश्चित 'दर्शन' है। यह वही 'दर्शन' है, जिसके साथ वे सभी वैज्ञानिक अपनी पद्धति में आबद्ध होते हैं, जो विज्ञान द्वारा स्वीकृत पद्धति को अपना कर चलते हैं। यह दर्शन उनकी उन पद्धतियों में सहज रूप से निहित है, जिनमें वे विज्ञान का विकास करते हैं—कभी-कभी तो वे समझते भी नहीं कि क्यों वे ऐसी पद्धति को व्यवहृत करते हैं। ...."

आज के अधिकांश वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'प्राचीन दार्शनिक समस्याएं और इनके समाधानों' की चर्चा यदि आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों के आलोक में की जाय तो वह वस्तुतः ही लाभदायक हो सकता है। जैसे कि माने हुए वैज्ञानिक सर एडमन्ड व्हीट्टाकर (Sir Edmund Whittakar), जिन्होंने प्राचीन यूनानी गणितज्ञ युक्लिड (Euclid) से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक एडिंग्टन तक के विज्ञान के इतिहास पर अधिकारपूर्ण पुस्तक लिखी है अपनी उस पुस्तक की आदि में लिखते हैं: [2]"आज भी यह सत्य है कि बहुत सारे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा भौतिक विश्व के सन्दर्भ के बिना करना लाभदायक नहीं हो सकता और भौतिक विज्ञान के निकटभूत में हुए विकास ने कुछ पारम्परिक दर्शन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। इन्हीं समस्याओं में 'आकाश के स्वरूप' का प्रश्न भी है।" प्रकृति की अनेक

---

१. फिलोसोफी ओफ फिजिकल साईन्स, प्रिफेस, पृ० ७।

२. फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १।

समस्याओं मे से 'आकाश-तत्त्व' की समस्या भी एक है, जिसको आधुनिक विज्ञान ने नए दृष्टिकोण से हल करने का प्रयत्न किया है। और इस प्राचीन समस्या का यह नया हल अधिकतर ज्ञान-मीमासा पर आधारित है। किन्तु कुछ विचारक आधुनिक विज्ञान के इस दार्शनिक लक्षण को स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध आधुनिक दार्शनिक और वैज्ञानिक हन्स राइशनबाख (Hans Reichenbach) के शब्दो मे यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है [1]"यदि वर्तमान युग के दार्शनिक समकालीन विज्ञान के दार्शनिक लक्षण को स्वीकार नही करते है—यदि 'आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (Theory of Relativity) और 'सेट्स का सिद्धान्त' (Theory of Sets) जैसे सिद्धान्तों को वे 'अदार्शनिक' कहते हैं और उनको केवल विज्ञान-विशेष के ही अग मानते हैं—तो यह निर्णय उन दार्शनिको की आधुनिक वैज्ञानिक विचारो मे निहित दार्शनिकता को समझने की असमर्थता को ही व्यक्त करता है।" आगे राइशनबाख लिखते हैं [2]"यह आवश्यक है कि विज्ञान को दार्शनिक दृष्टिकोणो से देखा जाय और उसके तीक्ष्ण उपकरणो से इस परिष्कृत ज्ञान का 'दर्शन' बनाया जाय।"

सक्षिप्त मे यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी हो सकता है और विश्व, आकाश, काल आदि तत्त्वो की प्राकृतिक प्रहेलिकाओ को यदि इस तुलनात्मक अध्ययन के आलोक मे सुलझाने का प्रयत्न किया जाए, तो मानव-मस्तिष्क की कुछ जिज्ञासाए शान्त करने मे काफी सहायता मिल सकती है।



---

१ दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाईम, प्रिफेस, पृ० १३।
२ वही, पृ० १४।

: १ :

विश्व क्या है ?

आदर्शवाद और वास्तविकतावाद

वास्तविकता का स्वरूप

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रेड होयल (Fred Hoyle) विश्व (universe) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—[1]"विश्व सब कुछ है, जीव और निर्जीव पदार्थ, अणु और आकाश-गंगाएं (galaxies), और यदि भौतिक पदार्थों के साथ आध्यात्मिक तत्त्वों का अस्तित्व हो तो वे भी, और यदि स्वर्ग और नरक भी हो, तो वे भी। चूंकि स्वभावत विश्व सभी पदार्थों की सकलता है।" इस प्रकार, 'विश्व' शब्द का व्यापक अर्थ है उन सभी तत्त्वों का समूह, जिनका अस्तित्व हम इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा द्वारा जान सकते हैं। अणु से लेकर आकाश-गंगा तक के सभी छोटे-बडे भौतिक पदार्थ तो इसमे समाहित हैं ही। किन्तु इनके अतिरिक्त आकाश (space), काल (time), ईथर (ether), चैतन्य (consciousness) आदि तत्त्वों का भी अनुभव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे हमें होता है। अत ये भी विश्व के अंग हैं। प्रस्तुत प्रहेलिका मे विश्व शब्द से मुख्यतया विश्व-आकाश के विषय मे विचार किया गया है। आकाश और काल परस्पर मे सम्बन्धित होने के कारण 'काल' का चिन्तन भी आकाश के चिन्तन के साथ करना अनिवार्य हो जाता है। आकाश और काल वस्तुत क्या हैं ?—यह प्रश्न विश्व-प्रहेलिका का प्रथम पहलू है। इस पहलू के हल को समझने से पूर्व, वास्तविकता (reality) का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान वैज्ञानिकों ने किस प्रकार किया है ? यह जानना आवश्यक होगा। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से इस प्रश्न का उत्तर दिया है[2]

---

१. फ्रन्टियर्स ऑफ एस्ट्रोनोमी, पृ० ३०४।

२ आधुनिक विज्ञान के दर्शनवेत्ता हेनरी मार्गेनो इस विषय मे लिखते

और ये उत्तर विभिन्न दार्शनिको के द्वारा दिये गये समाधानो से सादृश्य रखते हैं। वैज्ञानिको के और दार्शनिको के अभिप्रायो को मुख्य रूप से दो प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—

१. **आदर्शवाद (Idealism)**—इस विचारधारा के अनुसार हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) न होकर केवल 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।[1] आदर्शवाद कहता है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व होने पर भी हमारा (मनुष्य का) ज्ञान केवल ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता तक सीमित है। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिको मे डा० अलबर्ट आईन्स्टीन, सर ए० एस० एडिंग्टन, सर जेम्स जीन्स, हर्मन वाइल, अर्नेस्ट माख, पोईनकेर आदि हैं और दार्शनिको मे प्लुतो (Plato), लाइबनीज, लोक, बर्कले, ह्यूम, काण्ट, हेगल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. **वास्तविकतावाद (Realism)**—इसके अनुसार विश्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। विश्व-स्थित पदार्थ ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिको मे न्यूटन, बोहर (Bohr), हाइसनबर्ग, व्हीट्टाकर, राइशनबाख, सी० इ० एम० जोड, सर ओलिवर लोज और भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक हैं तथा दार्शनिको मे डेमोक्रिटस और अणुवादी युनानी दार्शनिक, अरस्तु, ईसाई पाण्डित्यवादी (Scholastic) दार्शनिक, रेने डेकार्टस, बर्ट्रेण्ड रसल, हेन्री मार्गेनो आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिको का आदर्शवाद

आदर्शवादी दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न रूप से आदर्शवाद का प्रतिपादन

है कि "यह एक माना हुआ तथ्य है कि जहा तक शुद्ध वैज्ञानिक बातो का प्रश्न है, जगत् के वैज्ञानिक एकमत होते हैं। किन्तु 'वास्तविकता' के विषय मे उनका भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नही है।"

—दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२

१ किसी भी पदार्थ का अस्तित्व यदि ज्ञाता की अपेक्षा बिना—अपने आप मे स्वतन्त्रतया—होता है, तो वह 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) है। दूसरी ओर जिस पदार्थ का अपने आप मे स्वतन्त्रतया कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, किन्तु केवल ज्ञाता के मस्तिष्क में उसका अस्तित्व होता है, तो वह 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।

किया है। इनके सूक्ष्म वैमदृश्यो का विश्लेषण दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थो मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है और अपने आप मे एक स्वतन्त्र और अतिविस्तृत विषय है। यहा पर तो केवल स्थूल रूप से ही इनके अभिप्राय को ग्रहण करके प्रतिपादन किया जा सकता है। आदर्शवादियो के अभिप्राय को स्पष्टतया समझने के लिए युनान के प्राचीन दार्शनिक प्लुतो (Plato) के 'गुफा के कैदी' का प्रसिद्ध रूपक सहायक हो सकता है। प्लुतो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे एक गुफा का वर्णन किया है जिसमे रह रहे हुए कदियो में से एक कैदी मुक्त हो जाता है। वह भीतर के कैदियो को वस्तुस्थिति समझाने के लिए आता है। उसके और एक कैदी के बीच जो सवाद हुआ, उसको वह स्वय सुना रहा है—[1]

"मैने कहा—देखो! यह है भूगर्भ के भीतर की गुफा। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुला हुआ है, जिसमे से सारी गुफा मे प्रकाश आ रहा है। यहा गुफा मे मनुष्य रह रहे हैं। ये लोग यहा पर बाल्यकाल से ही हैं। इनके पैर जजीर से इस प्रकार बधे हुए हैं कि ये चल-फिर नही सकते और केवल आगे ही देख सकते हैं। क्योकि उनकी गर्दन भी जजीर से इस प्रकार बाध दी गई है कि ये अपनी गर्दन को पीछे की ओर हिला नही सकते। इनके पीछे और ऊपर की तरफ, कुछ दूरी पर अग्नि जल रही है। इन कैदियो और अग्नि के बीच एक थोडा-सा ऊंचा मार्ग है। और यदि आप देखेंगे तो आपको एक ऊंची-सी दिवाल उस मार्ग पर दिखाई देगी। यह दिवाल वैसी ही लगती है जैसा कि नाटक मे पर्दा होता है, जिस पर छाया द्वारा नृत्य आदि दिखाया जाता है।

वह बोला—हा, मैं देख रहा हू।

मैं—और क्या आप देख रहे हैं कि बहुत लोग उस दिवाल के पास से कुछ सामान लिए हुए गुजर रहे हैं ... ...इन सबकी छाया उस दिवाल पर पड रही है ? ... .

वह—आपने मुझे बहुत ही विचित्र दृश्य दिखाया है—वे अति विचित्र कैदी हैं।

मैं—अपने जैसे ही है। वे केवल उनकी छाया अथवा दूसरो की छाया ही देख सकते हैं, जो अग्नि के प्रकाश द्वारा उस दिवाल पर पड रही है ?

वह—हां। जबकि वे अपनी गरदन को घुमा ही नही सकते तब छाया के अतिरिक्त वे बेचारे और क्या देख सकेंगे ?

मैं—और जो वस्तुए वे उठाकर ले जा रहे हैं, उनको भी वे केवल

---

१. रिपब्लिक, पुस्तक ७।

छाया देख सकते हैं ?

वह—'हां'।

मैं—उनके लिए उन आकृतियो की छाया ही वास्तविक है; इसके अतिरिक्त और कोई 'सत्य' नही है।"

प्लुतो ने इस रूपक मे सामान्य मनुष्यो को उन कैदियो के सदृश माना है। मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है वह वास्तविक ज्ञान नही है। दूसरे शब्दो मे विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है—हमारे मस्तिष्क के अतिरिक्त उसका और कही अस्तित्व नही है। वस्तु-सापेक्ष तत्त्व का ज्ञान वही कर सकता है जो मुक्त कैदी की तरह हो। किन्तु जो लोग गुफा मे बद्ध हैं, उनके लिए यह सम्भव नही है। हम (मनुष्य) भी कैदी ही हैं; अत. हमारा विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है।

प्लुतो के पश्चात् अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने आदर्शवाद का अपने अपने ढग से निरूपण किया है। जैसे कि लाइबनीज (Leibnitz) ने आत्मिक इकाइयो (monads) के अतिरिक्त भौतिक-जगत् की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को अस्वीकार किया है। लोक (Loke) ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार तो किया है, किन्तु मनुष्य के द्वारा उसका ज्ञान होना अशक्य माना है। दार्शनिक ज्योर्ज बर्कले (George Berkeley) (ई० १६८५-१७५३) द्वारा भी इससे सदृशता रखने वाला चिन्तन आया।

बर्कले ने कहा[1] "आकाश का समग्र नक्षत्र-मण्डल और पृथ्वी की समग्र सामग्री अथवा एक शब्द मे कहे तो वे सभी वस्तुए, जो इस विश्व का विशाल रूप बनाती हैं, ज्ञाता (आत्मा) की अपेक्षा बिना असत् हैं।...... जहां तक मेरे द्वारा इनका ग्रहण नही होता अथवा मेरे मस्तिष्क मे अथवा अन्य कोई प्राणी के मस्तिष्क मे इनका अस्तित्व नही होता, वहा तक इनका कोई अस्तित्व नही है अथवा तो कोई शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क में ये विद्यमान हैं।" इस प्रकार, बर्कले भी विश्व को केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही मानते हैं। यद्यपि उन्होंने शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क मे विद्यमान विश्व के रूप में [2]वस्तु-सापेक्ष विश्व का अस्तित्व स्वीकार किया है, फिर भी वह विश्व हमारी पहुच से बाहर है। बर्कले के बाद ह्यूम (Hume) के दर्शन ने सन्देहवाद (Scepticism) को जन्म दिया जिससे विश्व के साथ आत्मा की वास्तविकता भी सन्दिग्ध हो गई।

---

१ देखें, दी मिस्टीयेंस युनिवर्स, ले० सर जेम्स जीन्स, पृ० १२६।

२. सर जेम्स जीन्स ने बर्कले की इस बात का स्पष्टीकरण किया कि "किसी भी वस्तु-सापेक्ष पदार्थ का अस्तित्व मेरे मस्तिष्क मे हो अथवा

जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) के दर्शन मे वास्तविकता को पुनरुज्जीवित किया गया। परन्तु आदर्शवाद का प्रतिपादन तो उसने भी किया। अनुभव-प्राक् ज्ञान (a prior knowledge) को विशेष स्थान देकर काण्ट ने आदर्शवाद की ही पुष्टि की है। यद्यपि बर्कले और ह्यूम ने तो वास्तविकतावाद से बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड दिया था, पर काण्ट ने 'स्व-सापेक्ष वस्तुत्व' (thing-in-istelf) को स्वीकार कर वास्तविकता के साथ कुछ सम्बन्ध रखा है। काण्ट के अनुसार हमारे ज्ञान मे आने वाला समग्र विश्व आभास के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो पारमार्थिक वास्तविकता (transcendental reality) है, वह इससे सर्वथा भिन्न है।[1] इस प्रकार विभिन्न दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद मे आत्मनिरूपणात्मक (Subjective) दृष्टि का तारतम्य है, किन्तु स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी आदर्शवादी दार्शनिक विश्व के वस्तुगत अस्तित्व को अस्वीकार करते है।

वैज्ञानिको का आदर्शवाद

प्राचीन दार्शनिक आदर्शवाद का प्रतिविम्ब आधुनिक आदर्शवादी वैज्ञानिको के विचारो मे हमे देखने को मिलता है। आदर्शवादी वैज्ञानिको की विचारधारा के अनुसार विज्ञान—विशेषत: भौतिक-विज्ञान—की गवेषणा का विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है। प्रत्येक पदार्थ जिसको कि हम इन्द्रियो के द्वारा जानते हैं, वस्तुत तो गुणो का समुदाय मात्र हैं और ये गुण हमारे मस्तिष्क मे ही अस्तित्व रखते हैं अर्थात् हमारी कल्पना से ही इनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए जड पदार्थ और शक्ति, अणु और आकाशगगा आदि रूप समग्र विश्व वस्तुत: कोई अस्तित्व नही रखता, केवल हमारी चेतना-शक्ति के द्वारा रचित काल्पनिक प्रासाद के अतिरिक्त इसका कोई अस्तित्व नही है।[2] आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आविष्कर्ता डा० अल्बर्ट आईन्स्टीन ने भी विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है, इस अभिप्राय की पुष्टि की है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने इस विचारधारा का निरूपण अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीरियस युनिवर्स' मे किया है। जीन्स ने वस्तु-

---

अन्य किसी प्राणी के मस्तिष्क मे अथवा न भी हो, यह कोई खास बात नही है। क्योकि कोई 'शाश्वत आत्मा' के मस्तिष्क मे होने के कारण वे स्व-सापेक्ष हो ही जाते हैं।"—मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १२७।

१. दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० १४।

२. देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आईन्स्टीन, पृ० २२।

सापेक्ष वास्तविकता के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया है। किन्तु उनकी यह दृढ मान्यता है कि मनुष्य का ज्ञान (जिस मे विज्ञान भी समाहित है) इस वास्तविकता पर पहुंचने में असमर्थ है। अत. हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व तो केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही है। विज्ञान और गणित द्वारा विश्व का प्रतिपादन जिन सज्ञाओ के द्वारा होता है, वे केवल हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। इन सज्ञाओ के द्वारा विश्व का वास्तविक तत्त्व कदापि नही जाना जा सकता। ये सज्ञाए विश्व की प्रक्रियाओ का, जो ज्ञाता-सापेक्ष हैं, प्रतिपादन है।

पदार्थत्व (Substantiality) भी अपने आप मे कुछ नही है, केवल हमारी इन्द्रियो पर पड़ने वाले पदार्थों का प्रभाव है। किसी भौतिक पदार्थ की सामान्य रूप से ठोस कणो के समुदाय के रूप मे कल्पना की जाती है। विज्ञान इसको तरंगो के साथ और गणित के सूत्रो (Formulae) के साथ जोड़ता है। जीन्स का अभिमत है कि ठोस कणो से बने हुए पत्थर आदि पदार्थो का पदार्थत्व जितना वास्तविक है, उतना ही वास्तविक तरगमय अथवा गाणितिक सूत्र द्वारा प्रतिपादित पदार्थ का है। किन्तु इस पदार्थत्व का सम्बन्ध भी केवल हमारे विचारो से ही है।

स्वय जीन्स ने अपने विचारो को व्यक्त करते हुए लिखा है : [1]"विश्व की सबसे अधिक उपयुक्त कल्पना यही है कि विश्व शुद्ध विचारो से बना है। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि हम वास्तविकतावाद को तिलांजलि दे रहे हैं और उसके स्थान मे आदर्शवाद को आरूढ कर रहे है। फिर भी मैं समझता हूं, ऐसा कहना स्थिति का अपक्व अवलोकन होगा। क्योकि, यदि यह बात सही है कि पदार्थो का वास्तविक तत्त्व हमारे लिए अज्ञेय है, तो वास्तविकतावाद और आदर्शवाद के बीच की भेदरेखा को स्पष्ट रूप से परखना भी कठिन हो जाता है।······ वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओ का अस्तित्व अवश्य है, क्योकि कुछ पदार्थ आपकी चेतना को और मेरी चेतना को समान रूप से स्पर्श करते है। किन्तु उन पदार्थो को 'वास्तविक' अथवा 'आदर्श' कहना तो हमारे अधिकार की बात नही है। मैं समझता हू कि इनको हम 'गाणितिक' की सज्ञा दे सकते है······ ··· ऐसी सज्ञा यह नही बताती कि वस्तु का मूल तत्त्व क्या है, वह तो केवल इतना ही सूचित करती है कि पदार्थ किस प्रकार कार्य करते हैं।"

आदर्शवादी विचारधारा के पोषक वैज्ञानिको मे आर० ए० एम०

---

१. दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १२४, १२७।

एडिंग्टन मुख्य रूप से है। एडिंग्टन ने वैज्ञानिक दर्शन को 'सीमित ज्ञाता-सापेक्ष-वाद' (Selective Subjectivism) के रूप मे माना है, जो कि बर्कले के ज्ञान सापेक्षवाद से काफी भिन्न है। एडिंग्टन के अनुसार विश्व न तो ज्ञाता-सापेक्ष है और न केवल वस्तु-सापेक्ष, और न ज्ञाता-सापेक्ष व वस्तु-सापेक्ष पदार्थो और गुणो का सरल सम्मिश्रण है। परन्तु विज्ञान द्वारा विश्व का जो ज्ञान हमे होता है, वह अधिकतर प्रेक्षणो पर आधारित होने के कारण ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता पर अधिक प्रकाश डालता है। शुद्ध वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता 'आत्मा' है, जब कि भौतिक विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष' है। अत वस्तु-सापेक्ष विश्व सम्बन्धी ज्ञान भौतिक विज्ञान नही करा सकता। भौतिक विज्ञान के नियम ज्ञाता-सापेक्ष विश्व के नियम है। जैसे कि उन्होने लिखा है : [1]"भौतिक विज्ञान के मूलभूत नियम और अचर (संख्याए) पूर्णत ज्ञाता-सापेक्ष है। क्योकि वे ज्ञाता की इन्द्रियो और बुद्धि रूप साधनो का इन साधनो—इन्द्रियो और बुद्धि—द्वारा होने वाले ज्ञान पर जो प्रभाव पडता है, उसको व्यक्त करते हैं।"

विज्ञान-जगत् के एक प्रमुख विचारक पोइनकेर (Poincare) ने यह अशक्य माना है कि ज्ञाता (आत्मा) के विना कोई वास्तविकता का अस्तित्व हो सकता है। पोइनकेर के शब्दो मे, [2]"किसी भी वास्तविकता का अस्तित्व, जिस आत्मा (ज्ञाता) के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, वह देखी जाती है अथवा अनुभूत होती है, उस आत्मा के बिना स्वतन्त्र रूप से होना अशक्य है। इतना अधिक बहिस्थित विश्व यदि अस्तित्ववान् हो तो भी वह सदा के लिए हमारी पहुँच से बाहर रहेगा। जिसको हम 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' मानते हैं, सही अर्थ मे तो वह वही है, जो बहुत सारे चिन्तनशील प्राणियो के लिए समान रूप मे है और संभवत. सभी प्राणियो के लिए समान रूप मे हो।"

दार्शनिक वास्तविकतावाद

'विश्व का अस्तित्व वास्तविक है और पदार्थो की वास्तविकता स्व-आधारित है।' —यह वास्तविकतावाद है। इसके भी अनेक रूप बने है। इनके भिन्न-भिन्न मतो का सूक्ष्म विश्लेषण न करके केवल स्थूल दृष्टि से इनकी मान्यता का प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है। आदर्शवाद मे वास्तविकता का आधार ज्ञाता है, जबकि वास्तविकतावाद मे पदार्थ या वस्तु है। हम किसी एक

---

१. दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० १०४।

२ दी वेल्यु ऑफ साईन्स,; (सर ए० एस० एडिंग्टन द्वारा न्यु पाथवेज इन साईन्स, पृ० १ पर उद्धृत)

भौतिक पदार्थ को इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करते है । रग, स्पर्श, आदि गुणो के द्वारा पदार्थ का ज्ञान हम करते है । अब, आदर्शवाद कहता है कि ज्ञाता के इन रग आदि गुणो के ग्रहण से ही वस्तु अस्तित्व मे आता है, अत वह ज्ञाता-सापेक्ष है । जब कि वास्तविकतावाद के अनुसार हम केवल रग आदि गुणो का ग्रहण ही नही करते । इसके अतिरिक्त हम 'कोई पदार्थ' के रूप मे वस्तु को जानते हैं । अत पदार्थ स्वय मे वास्तविक है अर्थात् हमारे द्वारा ग्रहण होने पर ही अस्तित्व मे नही आता है । अपने आप मे—ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी—इसका वास्तविक अस्तित्व है ।

पाश्चात्य दार्शनिको मे प्राचीन युनानी दार्शनिक परमेनिडस (Parmenides) ने पदार्थ के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार कर इस विचारधारा को मान्य रखा है । डेमोक्रिटस (Democritus) ने 'अणु' के रूप मे वास्तविकता को स्वीकार किया है। यद्यपि डेमोक्रिटस ने स्पर्श, रस, वर्ण आदि अणु के गुणो को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही किया है, फिर भी अणु, जो कि सभी पदार्थो की इकाइयो के रूप मे है, वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखते है, ऐसा माना है ।

अरस्तु (Aristotle) ने प्लुतो को 'विचारो के सिद्धान्तो' (Theory of Ideas) का खण्डन किया और उसके स्थान मे 'पदार्थ' (substance) और 'अस्तित्व' (essence) के सिद्धांत के रूप मे वास्तविकतावाद का समर्थन किया । अरस्तु के दर्शन से प्रभावित होने वाला ईसाई धर्म के अधिकारियो का दर्शन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) वास्तविकवाद का प्रबल पोषक है । पाण्डित्यवादियो ने (जिसमे ईसाई धर्म के सेंट थोमस आदि प्रसिद्ध पादरियो का समावेश होता है), "विश्व मे अनेक पदार्थ हैं और ये अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं," इस रूप मे विश्व की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता स्वीकार की है । [1] आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के आदि दार्शनिक रेने डेकार्टस (Rene Descartes) ने स्पष्ट रूपसे वास्तविकतावाद को स्वीकार किया है । डेकार्टस के अस्तित्ववाद (Ontology) मे वास्तविक अस्तित्व के विषय मे चिन्तन किया गया है । [2] ईश्वर के अतिरिक्त दो प्रकार के पदार्थों का वास्तविक (वस्तु-सापेक्ष) अस्तित्व डेकार्टस ने बताया है । एक तो भौतिक पदार्थ अथवा जड (matter) और दूसरा मानसिक पदार्थ अथवा मन; इस प्रकार के

---

१ देखें, कोस्मोलोजी, ले० जेम्स ए० मेकविलियम्स, पृ० ४८-५७, ७६ ।

२. दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ११ ।

विभागीकरण को तात्त्विक वास्तविकवाद (Metaphysical realism) कहा गया है ।[1]

आधुनिक दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल (Bertrand Russell) ने वैज्ञानिक और गाणितिक तथ्यो के आधार पर एक नया दर्शन दिया है। उन्होंने अपने दर्शन मे गणित को प्रधानता दी है और गणित को प्रधानता देने का कारण यही है कि गणित के द्वारा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिपादन किया जा सकता है ।[2] इन्द्रियो की सहायता से होने वाले पदार्थों के ज्ञान अथवा अनुभूति (perception)के विषय मे वे लिखते हैं [3]"अनुभूति कुछ अ शो मे तो अनुभूत पदार्थ का प्रभाव ही है और इसलिए अनुभूति और अनुभूत पदार्थ मे सादृश्य होना चाहिए, अन्यथा वह अनुभूति पदार्थ का ज्ञान नही करा सकती । . . ." इस प्रकार, पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व हुए विना हमारी अनुभूति पर उसका प्रभाव नही हो सकता तथा अनुभूति और अनुभूत पदार्थ की सदृशता भी तभी हो सकती है, जब अनुभूत पदार्थ का स्वतन्त्र-वास्तविक अस्तित्व हो ।

प्रो० हेनी मार्गेनौ आधुनिक विज्ञान के माने हुए विद्वान् हैं और वैज्ञानिक दर्शन के विषय मे अपना स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टिकोण रखते है । प्रो० मार्गेनौ ने 'आधुनिक भौतिक-विज्ञान के दर्शन' सम्बन्धी **'भौतिक वास्तविकता का स्वरूप'** नामक पुस्तक लिखी है, जिसमे ज्ञान-मीमांसा और वैज्ञानिक पद्धतियो के आधार पर 'वास्तविकता' पर प्रकाश डाला है । वास्तविकता की ज्ञाता-सापेक्षता को अस्वीकार करते हुए वे लिखते हैं । [4] "हम चाहते है कि वास्तविकता हमारे छिछले ऐन्द्रिय-ज्ञान से अधिक शाश्वत हो : वृक्ष तभी वास्तविक है, जब कि वह मेरी खिडकी के सामने सदा ही अस्तित्व मे हो, चाहे मैं उसको किसी समय न देखता हू।" [5] "वास्तविकता पदार्थ-सदृश होनी चाहिए; विचार-सदृश नहीं । . कोई भी व्यक्ति तर्क-सम्मत दृष्टि से ऐसा नही कह सकता कि सरल से सरल प्रकार के पदार्थ के भी सभी गुण बहिर्जन्य है अर्थात् केवल इन्द्रियो की अनुभूति के द्वारा उसमे आरोपित होते हैं ।" इन

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, ले० हाईसेनबर्ग, पृ० ७५ ।
२ देखे, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० ३५९ ।
३ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ८६१ ।
४ दी नेचर ऑफ फिजिकल रीयलिटी पृ० ४ ।
५ वही, पृ० ५, ६ ।

उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का केवल ज्ञाता-सापेक्ष होना, मार्गेनो स्वीकार नहीं करते। मार्गेनो की विचारधारा के अनुसार पदार्थों का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व पूर्ण रूप से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता, फिर भी कुछ एक साधनों के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति और वास्तविक पदार्थों के बीच सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु यह साधन केवल काल्पनिक या आदर्श नहीं हैं। ऐसे साधनों को उन्होंने 'कन्स्ट्रक्ट्स' (Constructs)[1] कहा है। वे मानते हैं कि इनके द्वारा आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के बीच का मार्ग निकलता है।[2]

वैज्ञानिकों का वास्तविकतावाद

वास्तविकतावादी वैज्ञानिकों का यह अभिमत है कि जितने भी पदार्थों का ज्ञान हम करते हैं, वे सभी स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी उनका अस्तित्व बना रहता है। फोन वाइज़सेइकर (von Weizsaker) के शब्दों में 'प्रकृति मनुष्य से पूर्वतर है।' यद्यपि वास्तविकतावाद का निरूपण कुछ सूक्ष्म भेद के साथ किया गया है और जिससे वास्तविकतावाद के सरल वास्तविकतावाद (Simple of naive realism), विवेचनात्मक वास्तविकतावाद (Critical realism), भौतिकवाद (Materialism), विधानवाद (Positivism) आदि अनेक प्रकार होते हैं, फिर भी सभी मुख्य रूप से विश्व को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते हैं।

आधुनिक युग के प्रमुख वैज्ञानिक वरनर हाइसनबर्ग (Heisenberg) वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के निरूपण को ही विज्ञान का लक्ष्य मानते हैं।[3] उदाहरणार्थ क्वांतम सिद्धान्त (Quantum Theory) में 'सम्भावना फलन' (Probability Function), जोकि आणविक कणों के स्थान और वेग संबंधी एक गाणितिक संज्ञा है, के विषय में उन्होंने लिखा है [4] "इसमें ज्ञाता-सापेक्ष और वस्तु-सापेक्ष तत्त्व जुड़े हुए हैं। 'सम्भावना फलन' में वे कथन भी हैं जो कि पूर्णतः वस्तु-सापेक्ष हैं और वे कथन भी हैं, जो कि हमारे ज्ञान के विषय में होने

१. यह पारिभाषिक शब्द है, अतः इसका शब्दशः हिन्दी अनुवाद नहीं दिया गया है।

२. देखें, दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० ७१।

३. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ७६, १२५, १२६।

४. वहीं, पृ० ५३।

के कारण ज्ञाता-सापेक्ष हैं। किन्तु शुद्ध रूप मे, सम्भावना फलन में ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व वस्तु-सापेक्ष तत्त्वो की अपेक्षा मे नगण्य होते हैं।" विश्व का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने मे हम कहा तक समर्थ है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने लिखा है [१] "विज्ञान की यह मान्यता शुरू से रही है कि ज्ञाता-निरपेक्ष दृष्टि मे विश्व का निरूपण किया जा सकता है। वस्तुत यह अधिकाशतया शक्य हुआ है। हम जानते है कि लन्दन शहर का अस्तित्व है, चाहे हम उसे देखें या नही . ... । उसकी (विज्ञान की) सफलता ने विश्व के वस्तु-सापेक्ष विवेचन के लक्ष्य तक हमे पहुचाया है। वस्तु-सापेक्षता' किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष की प्रथम कसौटी बन चुकी है।" लोक, बर्कले, ह्यूम आदि आदर्शवादी दार्शनिको की विचारधारा का खण्डन करते हुए हाइसनबर्ग लिखते हैं [२] "हमारी अनुभूतिया केवल वर्णों और शब्दो की गठरिया नही है, जिस पदार्थ का हम ज्ञान करते हैं, वह 'कोई वस्तु' के रूप मे पहले ही अनुभव मे आ जाता है, यहा 'वस्तु' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अत यदि हम वास्तविकता का पारमार्थिक तत्त्व 'वस्तुओ' को न मानकर, 'अनुभूतियो' को मानते हैं, तो हम नि सदिग्ध रूप से गलती करते है।"

वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को प्राथमिकता देने वाले वैज्ञानिको मे ब्रिटिश वैज्ञानिक सर एडमण्ड व्हीट्टाकर (Whittaker) का नाम उल्लेखनीय है। वास्तविकता की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं [३] "जो सभी ज्ञाताओ द्वारा समान रूप से जाना जाए, वह 'वास्तविकता' है।" इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का स्वरूप ज्ञाता-सापेक्ष न होकर वस्तु-सापेक्ष है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण व्हीट्टाकर ने स्वय किया है: [४] "यद्यपि उक्त परिभाषा से वास्तविकता का ज्ञान, इन्द्रियो द्वारा विषय-ग्रहण और व्यक्तिगत मन द्वारा बुद्धिपूर्वक चिन्तन पर आधारित हो जाता है, फिर भी वास्तविकता स्वय मे किसी भी व्यक्ति के मन (ज्ञाता) से स्वतत्र है और व्यक्तियो (ज्ञाता) के जन्म और मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव नही पडता।" व्हीट्टाकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वैज्ञानिक नियमो को गाणितिक रूप देने से सपूर्णत वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से वास्तविकता का विवेचन

---

१ वही, पृ० ५४, ५५ ।

२ वही, पृ० ७७ ।

३. फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० २ ।

४ वही, पृ० ३-४ ।

किया जा सकता है।[1]

हन्स राइशनबाख (Hans Reichenbach) बीसवीं सदी के माने हुए गणितज्ञ और दार्शनिक थे। राइशनबाख ने वैज्ञानिक दर्शन की चर्चा करते हुए लिखा है कि[2] वैज्ञानिक दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ध्येय है— समस्त दार्शनिक ज्ञान की कसौटी के रूप मे 'वस्तु-सापेक्ष सत्य' की स्थापना करना। राइशनबाख ने गणितिक आधारो पर 'आकाश और काल' सम्बन्धी नवीन-वैज्ञानिक धारणाओ का मौलिक प्रतिपादन करके विश्व के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को सिद्ध किया है।[3]

आधुनिक विज्ञान लेखको मे सी. ई एम. जोड (C E M. Joad) का नाम सुप्रसिद्ध है। जोड ने 'दर्शन का मार्गदर्शन' (Guide to Philosophy) नामक अपनी पुस्तक मे वास्तविकता के स्वरूप-विषयक ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद, वास्तविकतावाद विधानवाद, आधुनिक आदर्शवाद आदि नाना वादो की चर्चा की है। वास्तविकतावाद का निरूपण करते हुए वे लिखते है[4] "यह स्पष्ट है कि जब कभी मैं किसी भी प्रकार की अनुभूति करता हू—चाहे मैं स्वप्न देखता हू या चिन्तन करता हू, चाहे मुझे भ्रम अथवा आभास होता है अथवा मैं केवल अनुभव ही करता हू, तब कोई-न-कोई वस्तु स्वप्न मे दिखाई देती है, चिन्तन मे आती है, भ्रम या आभास के रूप मे आती है अथवा उसका केवल अनुभव ही होता है, और मेरे मस्तिष्क का उस पदार्थ के साथ कोई-न-कोई रूप मे सम्बन्ध होता है।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थ का अपना अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिष्क से (अथवा विचार से) भिन्न है। अत. निष्कर्ष यही निकलता है कि[5] "सभी प्रकार के मानसिक कार्यों मे यह लाक्षणिक समानता है कि ज्ञाता से भिन्न तत्त्व का ज्ञान उनमे होता है। मानसिक कार्य का अर्थ यही होता है कि मन से भिन्न 'कोई पदार्थ' का ज्ञान उसमे होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'कोई अन्य पदार्थ" जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञाता के ज्ञान के कारण किसी भी प्रकार म प्रभावित नही होता है। (वास्तविक) अनुभूति के आधार पर इसी तथ्य को दूसरे शब्दो मे कहा जाये

---

१ देखें, वही, पृ० ४।

२. दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाईम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६।

३ इसके विवेचन के लिए देखें, पृ० ४८ से ५०।

४ गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ६६।

५ वही। पृ० ७४।

तो पदार्थ वस्तुत. वही है, जो यदि ज्ञाता द्वारा ग्रहण न भी होता हो, तो भी उसी रूप मे रहता है।" इस प्रकार, पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व है, इन्द्रियों या मन द्वारा उसके ग्रहण (perceiving) होने से हमारा (ज्ञाता का) उसके साथ सम्बन्ध होता है, किन्तु इस क्रिया से उस पदार्थ के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता ।

भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक आदर्शवाद के कडे विरोधी हैं । इसका कारण केवल यही नही है कि वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, किन्तु वे मानते है कि सभी पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार किये विना विज्ञान वहुत सारी समस्याओ को सुलझाने मे असमर्थ वन जाता है । 'विश्व और परमाणु' के लेखक वैज्ञानिक व० मेजन्तसेव ने लिखा है : [1] 'भौतिक-वाद के दुश्मन आदर्शवादी पदार्थ के वस्तुगत (मनुष्य को छोडकर) अस्तित्व को अस्वीकार कर पदार्थ की अक्षयता के विधान को भी अस्वीकार करते है। ये अपनी हठधर्मी से इस महान् विधान को गलत साबित करने की कोशिश मे लगे रहते हैं ।

"साथ ही वे 'शून्य' से पदार्थ की उत्पत्ति और 'शून्य' मे ही उसके रूपान्तर की सम्भावना के अनर्थक ख्याल को सिद्ध करने की कोशिश करते है।" मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का आधार लेकर सोवियत वैज्ञानिको ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को प्रमाणित किया है । उदाहरणार्थ 'प्रकाश' के विषय मे न्यूटन (Newton) से लेकर अव तक विविध प्रकार के सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् मे आये हैं । प्रकाश तरगरूप' है या 'कणो के समुदाय' के रूप मे है, इस समस्या ने वैज्ञानिकों को काफी व्यथित किया है। कुछ एक प्रक्रियाएं प्रकाश को स्पष्ट रूप से तरगमय वनाती हैं, तो दूसरी ओर कुछ एक प्रक्रियाए उसको कण-समुदाय के रूप मे स्थापित करती हैं। इतना ही नही कुछ प्रक्रियाए पदार्थ-कणो को भी तरगमय वताती हैं । इस प्रकार पदार्थ एव प्रकाश तरगमय भी हैं और कणरूप भी । अत द्रव्य, अर्थात् पदार्थ और प्रकाश मे तरगो एव कणो, दोनो के गुण साथ होते हैं, पर पूर्णरूप मे न तो वह तरगें हैं, न कण और न दोनो का मिश्रण ही । प्रकाश और पदार्थ के वीच मे किस प्रकार का सम्वन्ध है, इसका स्पष्टीकरण अव तक विज्ञान नही कर पाया है, फिर भी प्रकाश और पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने मे वह सफल रहा है, ऐसा

---

१ विश्व और परमाणु (हिन्दी)

सोवियत वैज्ञानिको का मानना है।[1] जे० वी० स्तालिन ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है : [2] "आदर्शवाद के विपरीत, जो विश्व और उसके नियमो को जानने की सभावना को अस्वीकार करता है, जो हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता मे विश्वास नही करता, वास्तविक सत्य को नही मानता, और यह मानता है कि ससार स्वय-सीमित वस्तुओ से, जिन्हे विज्ञान कभी नही जान सकता, भरा है, मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद का मत है कि विश्व और उसके नियम पूर्णत ज्ञातव्य हैं, प्रयोग तथा व्यावहारिकता द्वारा परीक्षित, प्रकृति के नियमो का हमारा ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान है और उसमे वास्तविक सत्य की प्रामाणिकता है तथा ससार मे ऐसी वस्तुए नही है जो अज्ञातव्य हो, उसमे केवल वे वस्तुए है जो अब ज्ञात न भी हो, किन्तु जो विज्ञान की चेष्टाओ एव व्यावहारिकता से प्रकट और ज्ञात हो जाएगी।" स्तालिन के इस कथन मे स्पष्टत आदर्शवाद का खण्डन कर वास्तविकतावाद की स्थापना की गई है।

आकाश और काल का स्वरूप

दार्शनिक दृष्टिकोण मे 'आकाश'

विश्व शब्द की विस्तृत व्याख्या मे सभी वास्तविकताओ का समावेश हो जाता है। उनमे आकाश (Space) और काल (Time) नामक तत्त्व प्राचीन काल से अब तक दर्शन-जगत् मे और विज्ञान-जगत् मे काफी रहस्यमय रहे है। यह सामान्य अनुभव की बात है कि जितने भी दृश्य पदार्थो का ग्रहण हम इन्द्रियो के द्वारा करते हैं, वे स्थान' रोकते है और 'पहले-पीछे', 'नये-पुराने' आदि सम्बन्धो से जुडते है। 'आकाश' और 'काल' की कल्पना इस अनुभूति के आधार पर की जाती है। किन्तु 'आकाश' और 'काल' वस्तुत क्या है ? उनका वास्तविक अस्तित्व है या नही ? यदि वास्तविक अस्तित्व है, तो क्या वे स्वतन्त्र तत्त्व हैं या भौतिक पदार्थों (matter) के रूप हैं या चैतन्यशील आत्मा के रूप हैं ? इत्यादि प्रश्नो की परम्परा चलती है। इस विषय मे भी विभिन्न दार्शनिको का और वैज्ञानिको का चिन्तन एकरूप नही रहा है। यहां पर पहले दार्शनिको के अभिमतो की चर्चा की जाती है।

---

१. देखे, स० इ० वाविलोव द्वारा लिखित नेत्र और सूर्य (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५८, ६१।

२. सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, (सक्षिप्त पाठ्यक्रम) पृ० १७८ (नेत्र और सूर्य, पृ० ६२ से उद्धृत)।

प्राचीन यूनानी दार्शनिको मे अणुवादी दार्शनिक डेमोक्रिटस और ल्यूकिपस्स (Leucipuss) (ई० पू० ४५०), तथा एपिक्युरस (Epicurus) (ई० पू० ३४१) ने अणुवाद के स्थापन मे 'आकाश' तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन किया है। उन्होने अणुओ का और आकाश का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया है। उनके दर्शन मे गति अणुओ का स्वाभाविक धर्म माना गया है। इसके आधार पर ही 'आकाश' को वास्तविकता का रूप दिया गया है। 'अणुओ की गति रिक्त आकाश मे, जो अणुओ के बीच मे अस्तित्ववान् है, होती है।' यह अणुवादियो की स्पष्ट धारणा थी। उन्होने भौतिक तत्त्व (matter) और आकाश तत्त्व का भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व माना। उनके मत मे आकाश असत् नही है, किन्तु एक वास्तविक तत्त्व है, जो कि एक आधार के रूप मे है, जिसमे भौतिक तत्त्व को रहने का स्थान मिलता है। किन्तु यह आवश्यक नही माना गया कि आकाश कोई-न-कोई भौतिक पदार्थ के द्वारा अवगाहित हो ही, अर्थात् शून्य आकाश (void) का अस्तित्व भी वास्तविक है।[1] यूनान के एक अन्य दार्शनिक परमेनिडस (ई० पू० ४५०) ने शून्य आकाश को असत् बताया था और इसके विरोध मे अणुवादी दार्शनिकों ने यह तर्क रखा कि शून्य आकाश का स्वीकार किए बिना किसी भी पदार्थ की गति सम्भव नही हो सकती।

अणुवादी दार्शनिकों के पश्चात् आकाश के विषय मे प्लुतो ने 'तिमेउस' (Timaeus) मे उल्लेखनीय चिन्तन किया है। आकाश को 'कोरा' (Chora) नामक एक तत्त्व माना है, जो सभी भौतिक पदार्थों के लिए एक स धारण तत्त्व है। यदि भौतिक पदार्थों के रग, भार आदि अन्य सभी गुण उनसे पृथक कर दिये जाये, तो भी 'कोरा' तत्त्व उनमे सामान्य रूप मे रह जायेगा। 'कोरा' तत्त्व का अस्तित्व सदैव भौतिक पदार्थों के साथ जुडा हुआ होता है, स्वतन्त्र रूप मे उसका कोई अस्तित्व नही माना गया।

वास्तविकतावादी होने के कारण अरस्तु ने अन्य पदार्थों की तरह आकाश और काल तत्त्व को भी विश्व के वास्तविक तत्त्व माने हैं और यह भी स्वीकार किया है कि उनका अस्तित्व ज्ञाता के ऊपर आधारित नही है। आकाश को एक अगतिशील वर्तन के रूप मे माना है, जिसमे विविध प्रकार के पदार्थों को आश्रय मिलता है। जिस प्रकार एक घडे मे पानी डाला जाता है, तो पानी का आधार घडा हो जाता है। पानी को निकालकर जब उसी घड़े मे शराब

---

१ देखें, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासोफी, लेखक बर्ट्रेण्ड रसल, पृ० ८९, और फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, लेखक वरनर हाइसनवग, पृ० ६३,६४।

डाली जाती है, तब शराब को भी वह (घडा) आश्रय देता है। इस प्रकार आकाश भी अनेक पदार्थों को आश्रय देता है। 'स्थान' की परिभाषा करते हुए अरस्तु ने लिखा है कि 'स्थान' किसी भी पदार्थ के अत्यन्त निकटवर्ती वस्तु की स्थिर आन्तरिक सीमा है।[1] अर्थात् 'स्थान' सापेक्ष ही होता है। अन्य पदार्थ के अभाव मे किसी भी पदार्थ का 'स्थान' नही होता है। इस परिभाषा के आधार पर एक पदार्थ का स्थान दूसरे मे और दूसरे का तीसरे मे, इस प्रकार चलता रहता है। और अन्त मे एक अन्तिम सीमा आती है, जिसमे सभी अन्य पदार्थों का आश्रय होता है। इस अन्तिम सीमा को अरस्तु ने विश्व की अन्तिम सीमा मानी है, जहां विश्व का अन्त हो जाता है।[2] इस प्रकार अरस्तु ने विश्व को सान्त माना है और आकाश की शून्यता को अशक्य बताया है।

अरस्तु के दर्शन पर आधारित पाण्डित्यवाद (Scholasticism) मे भी 'आकाश' के विषय मे विस्तृत चर्चा की गई है। इस दर्शन के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार जेम्स मेकविलियम्स ने 'आकाश' के बारे मे लिखा है कि[3] "आकाश एक अभौतिक विस्तार है जो पदार्थों के लिए आधार के रूप मे होता है। अत ऐसे आकाश की उत्पत्ति केवल मन से होती है, किन्तु इसका आधार बाह्य वास्तविकता में है।" आकाश को अभौतिक विस्तार इसलिए माना है कि वह रग, तापमान आदि भौतिक गुणो से रहित है। इस प्रकार का आकाश सभी पदार्थों को आश्रय देने के कारण सब का आधार है, परन्तु स्वय मे इसका कोई अस्तित्व न होने के कारण इसको मस्तिष्क की उपज माना गया है। यह होते हुए भी बाह्य पदार्थ, जिनको वह आश्रय देता है, वास्तविक हैं। आकाश को मानने के लिए बाध्य करने वाले पदार्थ वास्तविक होने से आकाश का आधार बाह्य वास्तविकता है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार से आकाश को ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता माना गया है।

पाण्डित्यवादियो ने आकाश के तीन प्रकार बताए है —

१. वास्तविक आकाश (Real space)—पदार्थों द्वारा अवगाहित आकाश।

२. शक्य आकाश (Possible space)—पदार्थों द्वारा अनवगाहित आकाश।

---

१. फिज़िक्स, ४-४-२१२ ए।
२ देखें, एरिस्टोटल, लेखक ए० इ० टेलर, पृ० ६४।
३ कोस्मोलोजी, पृ० १०० ।

३ निरपेक्ष आकाश (Absolute space)—उक्त दोनों आकाशों के साथ मिलने से होने वाला आकाश ।

तीसरे प्रकार के आकाश में समग्र आकाश का समावेश हो जाता है। प्रथम में 'निरपेक्ष आकाश' का केवल वह भाग है, जो पदार्थों के द्वारा अवगाहित हो । द्वितीय में 'निरपेक्ष आकाश' का वह भाग है, जो शून्य हो । 'वास्तविक आकाश' पदार्थों की सीमा तक सीमित है । विश्व में जहां कहीं भी पदार्थों का अभाव है, वहां शक्य आकाश' है । 'निरपेक्ष आकाश' की सीमाएं नहीं हैं—वह अनिश्चित रूप में विस्तृत है। 'शक्य आकाश' द्वारा अवगाहित आकाश की बाहरी अन्तिम सीमा से परे असीम रूप से व्याप्त है ।[1]

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ फ्रेन्च दार्शनिक और गणितज्ञ रेने डेकार्टस से (ई० १५९६-१६५०) माना जाता है। डेकार्टस ने वस्तुओं के 'कोरा' तत्त्व के आधार पर अपने दर्शन में आकाश के विषय में चिन्तन किया । डेकार्टस ने विस्तार (extension) को भौतिक पदार्थों का ही मूलभूत गुण माना । पदार्थ (substanee) और गुण का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध विस्तार और भौतिक पदार्थों का है । अत जहां पर भौतिक पदार्थ है, वहां पर ही विस्तार है, अर्थात् 'आकाश' है। जहां भौतिक पदार्थ नहीं है, वहां आकाश नहीं है । किन्तु आकाश सर्वत्र होने के कारण, भौतिक पदार्थों का अस्तित्व भी सर्वत्र है, ऐसा डेकार्टस का मानना था । इस प्रकार आकाश को एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में नहीं स्वीकार कर डेकार्टस ने इसको भौतिक पदार्थों के साथ जोड़ दिया और शून्य आकाश की संभावना को अशक्य बनाया ।

डेकार्टस के समकालीन एक अन्य फ्रेन्च दार्शनिक पीयरी गेसेण्डी (ई० १५९२-१६५५) ने डेकार्टस की उक्त मान्यता का विरोध किया । इसकी आकाश सम्बन्धी मान्यता का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए हो जाता है कि इस मान्यता के आधार पर वैज्ञानिक मान्यताओं का विकास हुआ । गेसेण्डी ने डेकार्टस की इस मान्यता कि 'शून्य आकाश का अस्तित्व नहीं हो सकता', को गलत बताया और प्राचीन यूनानी अणुवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित निरूपण की 'अणुओं की गति शून्य आकाश में होती है' को सिद्ध करने का प्रयत्न किया । गेसेण्डी के इन विचारों को न्यूटन ने अपनाया और विज्ञान-जगत् में 'आकाश' के विषय में प्रथम सिद्धान्त आया, जिसकी चर्चा वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा ।

१ वही पृ० ९८, ९९ ।

न्यूटन के समकालीन जर्मन दार्शनिक और सुप्रसिद्ध गणितज्ञ लाइबनीज् (ई० १६४३-१७०६) का दर्शन पाश्चात्य-दर्शन के इतिहास मे एक अनोखा स्थान रखता है। अन्यान्य मौलिक निरूपणो के अतिरिक्त 'आकाश और काल' सम्बन्धी लाइबनीज के विचार जितने मौलिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं कि बीसवी सदी मे आईन्स्टीन के आकाश और काल सम्बन्धी सिद्धान्त उन तीनसौ वर्ष पुराने मन्तव्यो से अत्यधिक मात्रा मे सदृशता रखते हैं। लाइबनीज ने न्यूटन के आकाश और काल सम्बन्धी सिद्धान्तो का खण्डन[1] किया है। लाइबनीज की मान्यता अनुसार आकाश तत्त्व स्वय मे कोई स्वतन्त्र वास्तविकता नही है, जैसे कि न्यूटन ने माना है। आकाश की परिभाषा लाइबनीज के शब्दो मे इस प्रकार है [2] "सह-अस्तित्वमान (युगपत् अस्तित्व वाले) पदार्थो का क्रम (order) 'आकाश' है।" एक ही समय मे विविध पदार्थ अस्तित्व मे होते हैं। तब उनके एक साथ अस्तित्व को देखकर ही हम आकाश की कल्पना करते हैं। इस प्रकार आकाश स्वय मे न तो पदार्थ है और न पदार्थों का गुण है, किन्तु पदार्थों का क्रम है। 'निरपेक्ष आकाश' जैसा कोई तत्त्व हो ही नही सकता; क्योंकि 'क्रम' स्वय सापेक्षता का सूचक है। वह केवल हमारे मस्तिष्क की उपज है, किन्तु उसका सम्बन्ध वास्तविक विश्व से है। सापेक्ष होने के कारण लाइबनीज का आकाश 'शून्य आकाश' कभी नही हो सकता, वह सदा पदार्थों के साथ सम्बन्धित होता है। सक्षिप्त मे, लाइबनीज का आकाश एक काल्पनिक तत्त्व है, पदार्थो के अस्तित्व के कारण उसकी कल्पना ज्ञाता द्वारा होती है।

लाइबनीज और न्यूटन के पश्चात् पाश्चात्य दार्शनिकों मे प्रमुखतम दार्शनिक काण्ट (ई० १७२४-१८०४) ने आकाश और काल के विषय मे विस्तृत विवेचन किया है। काण्ट आदर्शवादी था, अत आकाश-तत्त्व की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को उसने स्वीकार नही किया। काण्ट के अनुसार आकाश हमारे अनुभव-प्राक् (a priori) अन्त -दर्शन की उपज है। काण्ट ने इसकी

---

१ लाइबनीज और न्यूटन के विचारो को मानने वाले डा० क्लार्क (Clark) के बीच हुए पत्र-व्यवहार मे इस विषय पर विस्तारपूर्ण वाद-विवाद हुआ। देखें, एस० क्लार्क के द्वारा सम्पादित "रिकलैक्शन ऑफ पेपर्स व्हीच पास्ड बिटवीन मि० लाइबनीज़ एण्ड डा० क्लार्क।"

२ लाइबनीज, लेखक हर्बर्ट विलडोन कार, पृ० १६२।

सिद्धि करने के लिए निम्न चार कारण वतलाए है -[1]

१. 'आकाश' की कल्पना हमारे अनुभव पर आधारित नही है। वाह्य पदार्थों का अनुभव करने से पहले ही हम 'आकाश' की कल्पना कर लेते हैं और आकाश के प्राक्कल्पित होने के कारण ही हम वाह्य पदार्थों की अनुभूति कर सकते हैं।

२. आकाश अनुभव-प्राक् कल्पना है। किसी भी पदार्थ की कल्पना करने से पहले हम आकाश की कल्पना करते हैं। हम यह कल्पना नही कर सकते कि 'आकाश नही हैं', यद्यपि हम यह अवश्य सोच सकते हैं कि 'आकाश मे कुछ भी नहीं है।'

३. आकाश पदार्थों के सम्बन्ध से होने वाली सामान्य कल्पना नही है, परन्तु शुद्ध रूप मे अन्तः-अनुभूति है। क्योकि आकाश एक है, इसलिए भिन्न-भिन्न आकाशो की कल्पनाएं 'एक ही आकाश' के कल्पित भाग हैं।

४. आकाश की कल्पना अनन्त 'ज्ञात-राशि' के रूप मे है, जो कि आकाश के भिन्न-भिन्न भागो को अपने मे समाए हुए है। अतः आकाश कोई कल्पना नही है, अन्त -दर्शन की अनुभूति है।

उक्त चारो कारणो मे काण्ट ने आकाश को अनुभव-प्राक् अन्तः-अनुभूति के रूप मे सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त, युक्लिड द्वारा निर्मित भूमिति[2] के नियमो को भी अनुभव-प्राक् वता कर अपने 'आकाश' के सिद्धान्त की काण्ट ने पुष्टि की है।

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिको ने विभिन्न रूप से आकाश का निरूपण किया है। इनका प्रभाव वैज्ञानिको के इस विषय के सिद्धान्त पर पडा है। 'आकाश' तत्त्व का चिन्तन जितना भौतिक विज्ञान के साथ सम्वन्धित है, उतना ही दर्शन से सम्वन्धित है। अत दार्शनिक विचारधाराओ का प्रभाव यदि वैज्ञानिक चिन्तन पर पडता है, तो भी यह आश्चर्यजनक नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन मे काल का स्वरूप

दार्शनिको के चिन्तन मे आकाश तत्त्व का निरूपण वास्तविकता की अपेक्षा से जिस प्रकार हुआ है, अधिकाशतया उससे सादृश्य रखने वाले विचार 'काल' तत्त्व के विषय मे दिए गए हैं। एपिक्युरस ने काल को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे स्वीकार कर उसे वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता माना है। प्लुतो ने माना है कि

१. क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, ट्रासेण्डेण्टल एस्थेटिक्स, सेक्शन १।

२. देखें, पृ० ४०।

ईश्वर ने सृष्टि की रचना के साथ 'काल' को बनाया।[1] "काल और आकाश एक ही साथ अस्तित्व मे आए।"[2] "वास्तविक शाश्वतता के प्रतिबिम्ब के रूप मे काल की रचना ईश्वर द्वारा हुई थी।" इस प्रकार प्लुतो ने काल को एक काल्पनिक वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया है। जब कि, अरस्तु के अनुसार—[3]"पहले और पीछे की अपेक्षा से होने वाले परिवर्तन (अथवा गति) के माप (अथवा गणना) को काल कहते हैं।" इस प्रकार अरस्तु ने काल की परिभाषा का आधार परिवर्तन अथवा गति माना है। उसके अनुसार काल अनुक्रमिक वर्तमान क्षणो से बनता है और काल-प्रवाह अस्खलित है। प्लुतो ने जहा काल को भी ईश्वर द्वारा रचित माना है, अरस्तु के अनुसार काल सदैव अस्तित्व मे था और सदैव रहेगा।

ईसा की चौथी शताब्दी मे हुए सेण्ट ऑगस्टाईन (St. Augustine) ने काल के विषय मे उल्लेखनीय विचार दिए हैं। उनके अनुसार काल ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व है और वर्तमान के अतिरिक्त काल के भूत और भविष्य के भेद अतात्त्विक हैं।[4]

पाण्डित्यवाद मे काल को आकाश की तरह मस्तिष्क की उपज ही माना गया है। किन्तु उसकी कल्पना का आधार वास्तविक तथ्यो पर है। "गतिशील पदार्थ काल नही है, किन्तु काल अभौतिक गति है, जो (वास्तविक) पदार्थों की अवधि का माप है।"[5] वास्तविक पदार्थों की जो गति होती है, अथवा अवधि होती है, वह वास्तविक तथ्य है। उसको मापने के लिए अथवा उसकी गणना करने के लिए काल की कल्पना हम करते हैं। आकाश की तरह काल के भी तीन प्रकार हैं। १ वास्तविक काल, २. शक्य काल और ३. निरपेक्ष काल।[6]

लाइबनीज ने आकाश और काल का समान रूप से वर्णन किया है। जिस प्रकार आकाश को वस्तुओ का क्रम बताया है, उसी प्रकार काल को पौर्वापर्य का क्रम बताया है। आकाश की तरह काल भी 'सापेक्ष' है। न्यूटन

१ तिमेउस; देखें, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० १६६।
२. वही, पृ० १६६।
३. फिजिक्स, ४–२–२२० ए।
४ कन्फेसन्स, ११-१४।
५ कोस्मोलोजी, पृ० ११५।
६ वही, पृ० १११।

ने काल को स्वतन्त्र, निरपेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया है और लाइबनीज ने इसका खण्डन किया है। काण्ट ने अपने काल सम्बन्धी विवेचन मे शब्दशः वही निरूपण किया है, जो उसने आकाश के विषय मे किया है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण . आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व

आईन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पूर्व वैज्ञानिक जगत् मे 'आकाश और काल' सम्बन्धी एक सर्वमान्य सिद्धात था, जो कि सर आइजक न्यूटन (ई० १६४२-१७२७) द्वारा सर्वप्रथम दिया गया था। दार्शनिक गेसेण्डि के आकाश सम्बन्धी विचारो से प्रभावित होकर न्यूटन ने इस सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'प्रिंसिपिया' (Principia) मे 'आकाश' और 'काल' का विवेचन करते हुए न्यूटन ने लिखा है .[1] "निरपेक्ष आकाश, अपने स्वभाव और बाह्य किसी वस्तु की अपेक्षा बिना, सदा एकसा और स्थिर रहता है" और काल के सम्बन्ध मे, [2] "निरपेक्ष, वास्तविक और गाणितिक काल अपने आप और स्वभावत किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा समान रूप से बहता है।" न्यूटन की इन व्याख्याओ से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन ने आकाश और काल को स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविक तत्त्व माना है। इनका अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर, जिनको वे आश्रय देते है अथवा सम्बन्धित करते हैं।

"सभी वस्तुएं आकाश मे स्थान की अपेक्षा से रही हुई हैं।" न्यूटन के इस कथन का तात्पर्य यही है कि आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार के रूप मे है तथा उसमे पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए हैं। यह (आकाश) असीम विस्तार वाला है। चाहे वह किसी द्रष्टा (अथवा ज्ञाता) के द्वारा देखा जाय (अथवा अनुभव किया जाय) या नही और चाहे वह कोई पदार्थ द्वारा अवगाहित हो अथवा नही, इनकी अपेक्षा बिना स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व मे है और सदा से अस्तित्व मे था।[3] जो कुछ भी विश्व मे हो रहा है, वह आकाश मे हो रहा है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ आकाश मे ही कही-न-कही रहा हुआ है और उसमे ही वह अपना स्थान परिवर्तन कर सकता है।

---

१. देखें, मोट्टे और कजोरि द्वारा 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका' का अंग्रेजी-अनुवाद, पृ० ६।

२. देखें, वही।

३. देखे ह्वीट्टाकर के द्वारा न्यूटन के आकाश सम्बन्धी विचारो की व्याख्या, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १३।

न्यूटन के अनुसार आकाश की रचना मे सातत्य है, अर्थात् आकाश 'एक और अखण्ड' तत्त्व है। सर्वत्र एकरूप है, अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उसके गुणो मे परिवर्तन नही आता है।

प्राचीन यूनानी गणितज्ञ युक्लिड के द्वारा भूमिति के जिन नियमो का आविष्कार किया गया था, वे नियम न्यूटन के आकाश में लागू होते हैं। न्यूटन की यह धारणा थी कि आकाश समतल (flat) है। अत युक्लिडीय भूमिति के नियम इसमे कार्यक्षम होते हैं। आकाश मे चलने वाली प्रकाश की किरणें सीधी रेखा में चलती हैं और एक दूसरे के समानान्तर होने के कारण ये परस्पर मे कभी नही मिल सकती। इस प्रकार के प्रकाशिकी सम्बन्धी नियम भी युक्लिडीय भूमिति के नियमो के आधार पर बनाये गए। इसके अतिरिक्त यान्त्रिकी (Mechanics) के क्षेत्र मे जहा पदार्थो की गति का प्रश्न आया, तो न्यूटन ने गति को निरपेक्ष बनाने के लिए स्थिर आकाश को सदर्भ के ढाचे (frame of reference) के रूप मे काम मे लिया। किसी भी पदार्थ की गति होती है, तब वह दूसरे पदार्थों की अपेक्षा मे मानी जाती है। अब यदि कोई ऐसा पदार्थ न हो, जो कि स्वय स्थिर हो, तो पदार्थों की गति सदा सापेक्ष बन जाती है। उदाहरणार्थ, पानी मे जहाज चल रहा है, तो स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि जहाज की गति पानी की अपेक्षा मे होती है, किन्तु पृथ्वी की गति के कारण पानी भी स्थिर नही माना जा सकता। इस प्रकार जहाज भी चल रहा है और पानी भी। इससे आगे पृथ्वी की गति भी सूर्य की अपेक्षा से है, किन्तु सूर्य स्वय ही गतिमान् है और अपने समस्त सौरमण्डल के साथ अन्तरिक्ष मे घूम रहा है। इस प्रकार, स्थिर पदार्थ के अभाव मे किसको गति की अपेक्षा का केन्द्र बनाया जाय ? यह प्रश्न जब न्यूटन के सामने आया, तो सापेक्ष गति और निरपेक्ष गति के बीच भेद करने के लिए पहले तो उसने बताया कि यह सम्भव हो सकता है कि गतिशील नक्षत्र-मण्डल से बहुत दूर अन्तरिक्ष में कोई ऐसा पदार्थ विद्यमान हो सकता है, जो कि निरपेक्षतया स्थिर हो और उसके सदर्भ मे निरपेक्ष गति को समझाया जाय। किन्तु साथ ही उसने यह स्वीकार किया कि ऐसे कोई पदार्थ का ज्ञान हम निरीक्षण द्वारा तो करने मे कैसे समर्थ हो सकते हैं, अतः सबसे सरल हल यही है कि आकाश को ही स्थिर मानकर 'सदर्भ का ढाचा' बनाया जाय।

स्थिर और निरपेक्ष आकाश की मान्यता को उसने बल-विज्ञान (Dynamics) की उस समस्या का समाधान करते हुए सिद्ध किया, जो कि बल और

प्रवेग के सम्बन्ध मे उपस्थित होती थी। सापेक्ष गति मे प्रवेग का मूल्य भी सापेक्ष ही हो जाता है। किन्तु न्यूटन ने गाणितिक तथ्यो के आधार पर बताया कि गतिमान् पदार्थ का प्रवेग गतिजनक बल पर आधारित है और इसीलिए सापेक्ष नही हो सकता। गति-सम्बन्धी न्यूटन के दूसरे नियम मे यही बात बताई गई है कि—

बल = सहति × प्रवेग

इस समीकरण का प्रयोग करके न्यूटन ने चक्रीय गति का अपने ढग से निरूपण किया और केन्द्र-त्यागी (centrifugal) बल-सम्बन्धी ऐसा सिद्धान्त दिया, जो वैज्ञानिको के द्वारा स्वीकार कर लिया गया और परिणामस्वरूप न्यूटन का आकाश-सम्बन्धी सिद्धान्त, 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' से पूर्व एक सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया था।

'काल' के विषय मे भी न्यूटन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक जगत् मे मान्यता मिल गई। अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तो की अपेक्षा मे न्यूटन के काल-सम्बन्धी निरूपण मे यह विशेषता थी कि इसमे काल एक स्वतन्त्र तत्त्व माना गया था। निरपेक्ष काल के निरूपण से न्यूटन ने आकाश और काल को एक दूसरे से स्वतन्त्र रखा है; अतः पदार्थों की गति से 'काल' के प्रवाह पर कोई प्रभाव नही पडता। काल का प्रवाह तो अपने आपमे सदा बिना किसी परिवर्तन के एक रूप से अनन्त भूत से अनन्त भविष्य तक चलता रहता है, यह न्यूटन का मन्तव्य था।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का आविष्कार

न्यूटन के 'निरपेक्ष आकाश' के सिद्धान्त से भौतिक विज्ञान मे उपस्थित होने वाली समस्याओ का हल निकालने का प्रयत्न अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिको द्वारा किया गया। इन समस्याओ मे 'प्रकाश-तरगो' के प्रसार की समस्या मुख्य थी। प्रकाश तरग के रूप मे प्रसारित होता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, किन्तु इसका प्रसार शून्य आकाश मे किस माध्यम से होता है—यह प्रश्न उपस्थित होने पर वैज्ञानिको को किसी ऐसे माध्यम की कल्पना करनी पडी, जो कि प्रकाश-तरगों के प्रसार मे सहायक हो। इस माध्यम को 'ईथर' कहा गया और माना गया कि ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व है, जो कि समग्र आकाश मे व्याप्त है और जो प्रकाश-तरगो के प्रसार मे उसी तरह सहायक होता है जिस तरह समुद्र की तरगो के प्रसार में पानी होता है, अथवा ध्वनि के तरगो के प्रसार मे हवा होती है।

इस प्रकार के ईथर-तत्त्व की कल्पना के बाद यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब गतिशील पदार्थ गति करते हैं, तब ईथर, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, की क्या स्थिति होती है ? यदि वह भी पदार्थ की गति से प्रभावित होता है, तो उसमे से गुजरने वाली प्रकाश-तरगो पर भी उसका प्रभाव होना चाहिए। इस बात की सत्यता को परखने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग किए गये, जिसमे माइकलसन (Michelson) और मोरले (Morley) द्वारा किया गया प्रयोग (१८८१ ई०) उल्लेखनीय है। इस प्रयोग मे गतिमान् पृथ्वी के ईथर मे गुजरने से, ईथर पर क्या प्रभाव होता है, इसका प्रकाश-किरणो के द्वारा परीक्षण किया गया।

यदि आकाशीय पिण्ड ईथर के अनन्त समुद्र मे सचमुच ही तैर रहे हैं, तो उनकी गति का वेग जानना सहज है। जैसे—एक वेगवाली नदी मे एक नौका को एक किनारे से दूसरे किनारे तक ले जाने मे जितना समय लगता है, उससे अधिक समय उस नौका को नदी के प्रवाह की दिशा मे ले जाकर वापस लाने मे लगेगा, भले ही दोनो बार समान दूरी तय की जाती हो। इस प्रकार यदि पृथ्वी ईथर मे वस्तुत. घूमती है, तो प्रकाश की एक किरण पृथ्वी की गति की दिशा मे चलती हुई दर्पण तक पहुच कर वापस लौटने मे अधिक समय लेगी, अपेक्षाकृत उसके कि किरण पृथ्वी की गति की दिशा के साथ लम्बकोण करके चलेगी। यदि वस्तुत ईथर-तत्त्व पृथ्वी की गति से प्रभावित होता है (अर्थात् पृथ्वी की गति से ईथर का प्रवाह भी गति करने लगता है), तो प्रकाश की गति पर ईथर का प्रभाव होना जरूरी है और यह यन्त्रो द्वारा नापा जा सकता है। ईथर का अस्तित्व प्रायोगिक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। माइकलसन और मोरले के प्रयोगो से प्रकाश की गति पर पडने वाला ईथर का प्रभाव किसी भी रूप मे सामने न आया। यह प्रयोग इसके बाद भी अनेक बार दुहराया गया। किन्तु परिणाम शून्य रहा। इसके परिणाम-स्वरूप ईथर के अस्तित्व के विषय मे दो विकल्प रह गये .

१. ईथर तत्त्व है और इस पर पृथ्वी की गति का कोई प्रभाव नही पडता अर्थात् पृथ्वी स्थिर है।

२. ईथर नाम का कोई तत्त्व नही है।

प्रथम विकल्प को स्वीकार करने का अर्थ होता है—पृथ्वी की गति को अस्वीकार करना, जो वैज्ञानिको के लिए असम्भव-सी बात थी। फिर भी दूसरी ओर ईथर को नही मानने से प्रकाश की तरग रूप मे प्रसरण-क्रिया को

नही समझाया जा सकता।

इस प्रकार की दुविधा लगभग पच्चीस वर्ष तक वैज्ञानिकों के सामने रही। इस बीच मे इस समस्या का एक हल फिट्जजेराल्ड (Fitzgerald) (ई० १८९३) और लोरेन्ट्ज़ (१८९५) द्वारा स्वतन्त्र रूप मे दिया गया। माइकलसन और मोरले के प्रयोगो के 'शून्य परिणाम' को समझाने के लिए उन्होने यह तर्क रखा कि यदि गति के साथ नापने वाली छड (measuring rod) की लम्बाई मे हानि हो जाती है, तो प्रकाश की गति पर पडने वाले ईथर के प्रभाव का हमे कोई पता नही लग सकता। इस तथ्य की पुष्टि उन्होने गणितिक पद्धति से की और बताया कि वस्तु की गति का वेग यदि प्रकाश की गति के वेग की अपेक्षा मे गण्य प्रमाण मे हो, तो उसकी गति से उसकी लम्बाई मे होने वाली हानि भी गण्य प्रमाण मे होती है[1]। लोरेन्ट्ज ने अपने प्रसिद्ध 'गणितिक' रूपान्तरो मे यह भी बताया कि गतिमान् पदार्थ की गति का न केवल पदार्थ की लम्बाई पर प्रभाव पडता है, अपितु 'समय' पर भी इसका प्रभाव पडता है।

लोरेन्ट्ज द्वारा दिए गए गणितिक प्रमाणो से भी माइकलसन-मोरले के प्रयोगो के शून्य परिणाम का केवल काल्पनिक हल निकला। वैज्ञानिको के पास नापने के लिए छड के अतिरिक्त अन्य तरीके भी थे। किन्तु इन सभी

---

१. गणित के समीकरण द्वारा इसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

यदि $ल_1$=छड की स्थिरावस्था की लम्बाई हो,

$ल_2$= ,, ,, गति-अवस्था ,, ,, ,,

व=वस्तु का वेग हो,

क=प्रकाश का वेग हो (जो कि एक सैकिण्ड मे लगभग १,८६,००० माईल है) और

स=व वेग से गति करने मे लगने वाला समय हो,

तो

$$ल_2 = \frac{ल_1 - व\,स}{\sqrt{१ - \left(\frac{व^2}{क^2}\right)}}$$

स्पष्ट है कि व जब क की अपेक्षा मे गण्य प्रमाण मे होता है, तो $ल_2$ और $ल_1$ के बीच मे काफी अन्तर हो जाता है।

तरीको के उपयोग का परिणाम भी पूर्ववत् रहा। इस प्रकार, जब कोई समाधान नही निकल रहा था, तब ई० १६०५ मे यूरोप मे एक छब्बीस वर्षीय नवयुवक वैज्ञानिक ने इसका सर्वग्राही समाधान दिया। वह था, अल्बर्ट आईन्स्टीन। आईन्स्टीन ने 'आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (Theory of Relativity) नामक एक निबन्ध लिखा, जिसमे लोरेन्ट्ज द्वारा दिए गए गाणितिक समीकरणो के आधार पर नए तथ्यो की स्थापना की गई। सर्वप्रथम आईन्स्टीन ने 'ईथर' की कल्पना को तिलाजलि दी। 'आकाश' को एक निरपेक्ष गतिशून्य तत्त्व न मानकर आईन्स्टीन ने बताया कि 'किसी भी प्रकार के प्रयोग से यह जानना अशक्य है कि अमुक पदार्थ की गति निरपेक्षतया क्या है?' इससे यह निष्कर्ष निकला कि विश्व मे कोई भी पदार्थ निरपेक्षतया स्थिर नही रह सकता। पदार्थों की गति और स्थिति आपेक्षिक हैं। इसको 'विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (Special Theory of Relativity) कहते हैं।

उक्त सिद्धान्त के स्थापन मे आईन्स्टीन ने इस परिकल्पना का आधार लिया कि प्रकाश की गति सदा अचल रहती है। इसको आईन्स्टीन ने व्यापक रूप दिया और बताया कि "एकरूप से गति करने वाले निकायो में प्रकृति के सभी नियम समान रूप से लागू होते हैं।" इसके परिणामस्वरूप किसी पदार्थ की निरपेक्ष गति क्या है—यह प्रकाश की गति की सहायता से अथवा अन्य किसी भी तरीके से जानना अशक्य हो जाता है। दूसरी ओर प्रकाश की गति को सदा एकरूप और अचल मानने से 'ईथर" का अस्तित्व स्वत समाप्त हो जाता है, क्योकि यदि ईथर अस्तित्व मे होता, तो उसकी गति का प्रभाव अवश्य प्रकाश की गति पर पड़ना चाहिए था।

दूसरा तथ्य जो लोरेन्ट्ज के गाणितिक समीकरणों के उपयोग से सामने आया, वह यह था कि प्रकाश की गति का वेग उत्कृष्टतम वेग है। विश्व मे इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का होना सम्भव नही है। प्रकाश का वेग जैसा कि पहले बताया गया था, एक निश्चित और परिमित 'अचर' है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी पदार्थ की स्थिति के निरीक्षण मे लगने वाला काल चाहें कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो, एक सीमा से अल्प नही हो सकता।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बाद : आकाश और काल

आईन्स्टीन के 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' ने भौतिक विज्ञान मे अनेक

वृहत् परिवर्तन ला दिए। इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन 'आकाश' और 'काल' की धारणा सम्बन्धी थे। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मिन्काउस्की (Minkowski) ने 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' का गाणितिक प्रतिपादन जिस रूप मे किया, उससे यह तथ्य निकला कि विश्व 'आकाश-काल की एक सम्मिलित चतुर्वैमितिक सततता' (Four-dimensional continuum of space and time) के रूप मे है। अधिकाश रूप मे गणित के साथ सम्बन्धित होने से इस तथ्य के यद्यपि व्यावहारिक भाषा मे समझाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उदाहरणो के द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

यह एक सामान्य तथ्य है कि कोई भी पदार्थ जब आकाश मे स्थान रखता है, तो आकाश की तीनो ही विमितियों मे अपनी लम्बाई, चौडाई और ऊंचाई (अथवा गहराई) के कारण फैल जाता है। अब यदि पदार्थ स्थानान्तर करता है (अथवा गति करता है), तो दूसरे स्थान मे जाने के लिए उसे कुछ समय लगता है। इस प्रकार पदार्थ की गति के निरूपण मे हमे दोनो बातो का ज्ञान आवश्यक होता है—स्थान का और समय का। अतः समय (अथवा काल) चतुर्थ विमिति के रूप मे हो जाता है। अब आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार आकाश की तीन विमितिया और काल की एक विमिति मिलकर एक चतुर्वैमितिक अखण्डता का निर्माण करती हैं और हमारे वास्तविक जगत् मे होने वाली सभी घटनाएं इस चतुर्वैमितिक सततता की विविध अवस्थाओ के रूप मे सामने आती हैं।

आकाश और काल एक दूसरे के साथ किस प्रकार जुडे हुए हैं, इसको सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हाइमनबर्ग ने बहुत सरल शब्दों मे समझाया है : [1] "जब हम भूत शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसमे घटित सभी घटनाओ का ज्ञान करने के लिए हम समर्थ हैं, वे घटनाएं घट चुकी हैं। इसी प्रकार से जब हम 'भविष्य' का प्रयोग करते हैं, तो अर्थ होता है कि वे सभी घटनाए, जो अब तक घटित नही हुई हैं, 'भविष्य' की हैं, जिनको हम प्रभावित करने मे समर्थ हैं ...... " इन परिभाषाओ का हमारे दैनन्दिन के शब्द-व्यवहार से सीधा सम्बन्ध है। अत इस अर्थ मे यदि हम इन शब्दों ('भूत' और 'भविष्य') का उपयोग करते हैं, तो बहुत सारे प्रयोगों के परिणामस्वरूप यह बताया जा सकता है कि 'भविष्य' और 'भूत' की घटनाएं द्रष्टा की गतिमान् अवस्था अथवा अन्य गुण-धर्मो से बिलकुल ही निरपेक्ष हैं। .....

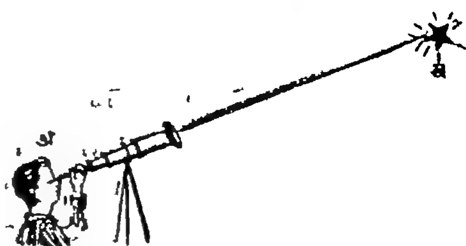
१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १०२, १०३।

यह बात न्यूटन की यान्त्रिकी (mechanics) मे तथा आईन्स्टीन के 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' मे भी सत्य मानी जाती है। किन्तु दोनो में यह फर्क रह जाता है . पुरानी मान्यता मे हम यह मान लेते हैं कि 'भविष्य' और 'भूत' के बीच मे एक अतिसूक्ष्म (अनन्ततया सूक्ष्म) कालान्तर है, जिसको हम वर्तमान क्षण कहते हैं। परन्तु आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे यह बात नही है। यहा पर भविष्य और भूत के बीच जो कालान्तर है, वह परिमित है और उसका दैर्घ्य द्रष्टा के स्थान पर आधार रखता है।" इस कथन को इस उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। (देखें, चित्र न० १) जैसे—अ स्थान पर द्रष्टा है और ब स्थान पर घटना घटती है। द्रष्टा जिस क्षण मे घटना को देखता है, वस्तुत. वह घटना उस क्षण मे नही होती है, क्योकि ब और अ के बीच जो दूरी है, उस दूरी को पार करने के लिए प्रकाश को परिमित समय लगेगा। इस प्रकार जिसको हम 'वर्तमान' कहते हैं, वह केवल अतिसूक्ष्म एक क्षण ही नही है, किन्तु वह सारा काल वर्तमान मे गिना जाता है, जो घटना के होने और द्रष्टा के देखने के बीच गुजरता है और इस काल का दैर्घ्य स्पष्टतया द्रष्टा और घटना-स्थल के बीच की दूरी (चित्र मे अ ब) पर आधारित है। यहा पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अ और ब के बीच की दूरी कितनी भी छोटी क्यो न हो, प्रकाश का वेग (जो कि उत्कृष्टतम वेग है) परिमित होने से उस दूरी को तय करने मे सुनिश्चित किन्तु परिमित समय ही लगेगा।



चित्र न० १

एक व्यावहारिक उदाहरण से उक्त मन्तव्य का महत्त्व समझा जा सकता है। ऊपर दिए गए उदाहरण मे ब को पृथ्वी से ५० प्रकाश-वर्ष[1] दूर का तारा मान लिया जाय और अ को पृथ्वी पर स्थित, दूर-वीक्षणयन्त्र द्वारा निरीक्षण करता हुआ द्रष्टा माना जाए। मान लो कि ब पर कोई विस्फोट होना हुआ द्रष्टा को दिखाई दिया। साधारण भाषा मे हम कहेंगे कि मनुष्य की देखने की घटना और तारा पर विस्फोट की घटना एक ही क्षण मे होती हैं। अर्थात् ये दोनो घटनाए



चित्र न० २

१. प्रकाश की गति एक सैकिण्ड मे लगभग १,८६,००० माईल है; इस गति से चलने वाली प्रकाश-किरण जितना अन्तर एक वर्ष मे काटती है, उसको १ प्रकाश-वर्ष कहते है। प्रकाश-वर्ष = ५.८८ $\times 10^{12}$ माईल लगभग होते हैं।

'युगपत्' (Simultaneous) है। किन्तु वस्तुत क्या ये घटनाए युगपत् हैं ? नही। क्योकि तारा पृथ्वी से ५० प्रकाश-वर्ष दूर है अर्थात् प्रकाश को तारा और पृथ्वी की बीच की दूरी तय करने मे ५० वर्ष लगते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो विस्फोट 'अब' देखा गया, वह वस्तुतः ५० वर्ष पहले हो चुका था। इस प्रकार 'युगपत्' शब्द निरपेक्ष नही रह पाया है, किन्तु दो घटनाओ के बीच की दूरी पर आधारित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे आकाश और काल एक दूसरे से जुडे हुए हैं और विश्व मे होने वाली घटनाओ पर दोनो का सम्मिलित प्रभाव होता है।

आईन्स्टीन के विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त से जो अनेक नए तथ्य वैज्ञानिको के सामने आए, उनमे से दो-तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख सक्षेप मे यहा पर किया जा रहा है। यद्यपि ये आकाश और काल सम्बन्धी प्रस्तुत चर्चा से सीधा सम्बन्ध नही रखते हैं, फिर भी इनका महत्त्व भौतिक विज्ञान मे अत्यधिक है और प्रस्तुत पुस्तक मे अन्य स्थानो पर इसका ज्ञान हमें सहायक हो सकता है।

१. फिट्जजेराल्ड और लोरेन्ट्ज द्वारा दिये गये सिद्धान्तों के अनुसार गति का वस्तु की लम्बाई पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका थोडा-सा उल्लेख माइकलसन-मोरले के प्रयोगो की चर्चा के अन्तर्गत किया गया था। आईन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त में यह बताया गया कि गतिमान् निकाय (System) मे गति की दिशा मे रही हुई आकाशीय विमिति मे सकोच होता है; साथ ही साथ समय की विमिति मे भी सकोच होता है। दूसरे शब्दो मे इस तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है गतिमान् निकाय मे रही हुई नापने वाली छड की लम्बाई मे हानि होती है और निकाय मे स्थित घडी धीमे चलती है। इन परिवर्तनो का आधार गतिमान् निकाय का वेग है। वेग के अनुपात मे ये परिवर्तन होते हैं। ज्यो-ज्यो वेग बढता है, त्यो-त्यो घडी की चाल अधिक शिथिल होती जाती है। यहाँ तक कि यदि वेग प्रकाश के वेग के समान हो जाए (यह केवल कल्पना की जा रही है), तो घडी ठप्प हो जाएगी। इसी प्रकार नापने वाली छड की लम्बाई भी घटती-घटती, अन्तिम दशा मे 'शून्य' हो जाएगी अर्थात् छड की लम्बाई रहेगी ही नही। इसलिए प्रकाश के वेग को पाना अशक्य है, यह मन्तव्य सिद्ध हो जाता है।

२. जैसे गति का प्रभाव 'आकाश' और 'काल' की विमिति पर पड़ता

है, वैसे ही पदार्थ की सहति[1] (mass) पर पडता है। सामान्यतया समझा जाता है कि पदार्थ की सहति सदा अचर रहती है। किन्तु आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने बताया है कि पदार्थ की गति के साथ उसकी संहति भी बढती है।[2] जब तक पदार्थ का वेग प्रकाश के वेग की अपेक्षा मे नगण्य होता है, तब तक पदार्थ की सहति मे होने वाले परिवर्तन का मूल्य भी नगण्य होता है। किन्तु ज्योंही पदार्थ का वेग प्रकाश के वेग के तुल्य होना आरम्भ होता है, त्योंही संहति का मान त्वरा से बढने लगता है और यहां तक कि यदि पदार्थ का वेग प्रकाश के वेग के समान हो जाए, तो पदार्थ की संहति 'अनन्त' हो जाए ! किन्तु यह असम्भव है; इसलिए किसी भी पदार्थ का वेग कभी प्रकाश के वेग के समान नही हो सकता।

३. आईन्स्टीन से पूर्व वैज्ञानिक जगत् मे यह समझा जाता था कि शक्ति और द्रव्य दोनो एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। किन्तु आईन्स्टीन ने इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया। गति के साथ सहति के बढ़ने का फलितार्थ होता है कि शक्ति (जिसका एक रूप गति है) और सहति के बीच सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन के आधार पर गणित की सहायता से आईन्स्टीन ने द्रव्य और शक्ति की तुल्यता का नियम स्थापित किया और विज्ञान के इतिहास मे सदा स्मरणीय 'सहति-शक्ति समीकरण' (Mass-Energy

---

१. 'सहति' और 'भार' (weight) यद्यपि सामान्य व्यवहार मे समानार्थक शब्द हैं, फिर भी वैज्ञानिक परिभाषा मे ये वस्तु के भिन्न-भिन्न गुणो के सूचक है। सहति को 'द्रव्यमान' भी कहते हैं। यह किसी भी भौतिक पदार्थ मे रही हुई द्रव्य की राशि है। जिस पदार्थ की सहति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक बल (force) उस पदार्थ को गतिमान् बनाने मे लगेगा।

२. इस तथ्य को गणित की भाषा मे इस प्रकार रख सकते हैं —

यदि स = पदार्थ की स्थिरावस्था की संहति हो,

सा = पदार्थ की गति-अवस्था की सहति हो,

व = पदार्थ का वेग हो,

और क=प्रकाश का वेग हो, तो

$$\text{सा} = \frac{\text{स}}{\sqrt{१ - \left(\frac{\text{व}^2}{\text{क}^2}\right)}}$$

Equation) का आविष्कार किया। इसमे बताया गया कि जब पदार्थ की कोई निर्दिष्ट सहति विकिरण (Radiation) अथवा ऊर्जा (शक्ति) के रूप में परिणत होती है, तब शक्ति का निर्दिष्ट परिमाण जो प्राप्त विकिरण मे होता है, वह हमेशा उस परिवर्तन के अनुरूप होता है।[1] उदाहरणार्थ—यदि एक किलोग्राम कोयले की सहति को पूर्ण रूप से शक्ति मे रूपान्तरित किया जाए, तो उससे प्राप्त होने वाली ऊर्जा २·५ अरब किलोवाट-पावर की विद्युत्-शक्ति के समान होती है। इस प्रकार द्रव्य का शक्ति के रूप मे परिणमन होना इस शाश्वत सत्य का स्थापन करता है कि द्रव्य और शक्ति एक ही तत्त्व के दो रूप हैं।

सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त

'विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के ग्यारह वर्ष बाद ई० १९१६ मे आईन्स्टीन ने गुरुत्व (gravitation) सम्बन्धी जो नए विचार दिए हैं, उसको 'सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (General Theory of Relativity) कहते हैं। इसमे 'आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता' पर भौतिक पदार्थ की 'सहति' का क्या प्रभाव होता है, इस पर प्रकाश डाला गया है।

'सेब' गिरने की सुप्रसिद्ध घटना से न्यूटन ने 'गुरुत्वाकर्षण' के नियम (Law of Gravitation) का आविष्कार किया था। न्यूटन ने बताया कि विश्व-स्थित प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थों को अपनी ओर खीचता है। इस आकर्षण के बल को 'गुरुत्वाकर्षण बल' (Gravitational Force) कहते हैं। न्यूटन के अनुसार दो पदार्थों के बीच का आकर्षण-बल दोनो पदार्थों की सहतियों के गुणन के अनुसार अनुलोमत परिणमित होता है और इनकी दूरी के वर्ग

---

१. इसका सूत्र (Formula) इस प्रकार है—

$$\text{सहति} = \frac{\text{शक्ति}}{(\text{प्रकाश का वेग})^{2}}$$

गाणितिक विधि मे:—

यदि स=सहति हो,

ऊ=प्राप्त ऊर्जा हो,

और क=प्रकाश का वेग हो,

तो,

$$\text{स} = \frac{\text{ऊ}}{\text{क}^{2}} \text{ अथवा } \text{ऊ} = \text{स}\,\text{क}^{2}$$

के अनुसार प्रतिलोमतः परिणमित होता है।[1] अर्थात् महति मे वृद्धि होने पर बल मे वृद्धि होती है और दूरी मे वृद्धि होने पर बल मे हानि होती है। पृथ्वी पर कोई वस्तु गिरती है, तो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण ही गिरती है। इसी प्रकार ग्रहो की गति आदि को गुरुत्वाकर्षण के आधार पर समझा गया। गुरुत्वाकर्षण के अतिरिक्त न्यूटन का दूसरा प्रसिद्ध सिद्धान्त था 'जडत्व का नियम' (Law of Inertia)। इसके अनुसार वस्तु अपनी स्थिरावस्था मे अथवा समान सरल रेखात्मक गति-अवस्था मे तब तक रहती है, जब तक उसको किसी शक्ति (अथवा बल) के द्वारा प्रभावित न किया जाय। जो वस्तु स्थिति मे है, वह स्थिति मे रहेगी और जो समान रूप से सरल रेखा मे गति करती है, वह उस प्रकार गति करती रहेगी, यदि उस पर कोई बाहरी बल या शक्ति का प्रभाव न हो।

आईन्स्टीन ने 'गुरुत्व' और 'जडत्व' के बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना की और 'गुरुत्व और जडत्व की तुल्यता के नियम' का प्रतिपादन किया, जिस मे यह बताया गया कि गुरुत्वाकर्षण बल द्वारा जनित गति और जडत्व के बल द्वारा जनित गति के बीच भेद नही किया जा सकता। आईन्स्टीन के अनुसार तो 'गुरुत्वाकर्षण' जैसे किसी बल का अस्तित्व ही नही है। विश्व की जो घटनाए आकर्षण रूप से हमे निष्पन्न लगती हैं, वस्तुत वे पदार्थों की महति से जनित अवकाश की वक्रता के कारण है।

आईन्स्टीन ने बताया कि प्रत्येक वस्तु का जडत्व उसकी संहति पर आधारित है। इस जडत्व के कारण आकाश मे एक 'गुरुत्व-क्षेत्र' (Gravitational Field) की उत्पत्ति होती है।[2] यह क्षेत्र पदार्थ की गति के क्षेत्र को निर्धारित करता है। इस प्रकार के क्षेत्र की भूमिति का निर्धारण पदार्थ की 'महति' और 'वेग' से होता है, जिसको आईन्स्टीन ने 'गाणितिक समीकरण' द्वारा व्यक्त किया है। इन समीकरणो के परिणामस्वरूप यह जाना गया कि प्रत्येक पदार्थ अपने आस-पास के आकाश मे जिस गुरुत्व-क्षेत्र की उत्पत्ति

---

१. गाणितिक सूत्र मे इसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है यदि स और सा दो पदार्थों की महतिया हो और 'क्ष' इसके बीच की दूरी हो, तो

$$\text{आकर्षण बल} \propto \frac{\text{स} \times \text{सा}}{\text{क्ष}^2}$$

२. जिस प्रकार चुम्बक के आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है, उसी प्रकार यह 'गुरुत्व-क्षेत्र' पदार्थ के आस-पास मे उत्पन्न होता है।

करता है, वह 'वक्र' है। यथार्थ शब्दावली मे—'पदार्थ की सहति आकाश-काल की चतुर्विमितिक सततता मे वक्रता लाती है।' पदार्थ की गति उस दिशा मे होती है, जिस दिशा मे आकाश वक्र बनता है। इसको स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण दिया जा सकता है—जैसे एक नतोदर कमरे के बीच हम एक तकिया रख दें और फिर वहा बैठकर चार गोलियो को कमरे की जमीन पर चार दिशाओं मे फेंकें। यह स्वाभाविक है कि उस कमरे की नतोदरता के कारण चारो गोलिया उस तकिए से आकर टकराएगी। अब, यदि किसी व्यक्ति को कमरे की नतोदरता का पता न हो, तो वह मानेगा कि तकिए मे कोई आकर्षण-बल है। किन्तु यह भ्रम होगा। वस्तुत तो गोलियो का तकिए से टकराने का कारण कमरे की नतोदरता है। ऐसे ही सेब को नीचे गिरते देख न्यूटन ने पृथ्वी के आकर्षण-बल को उसका कारण माना था। किन्तु आईन्स्टीन ने बताया कि 'आकाश की वक्रता' ही इसका सही कारण है। क्योकि, सेब 'आकाश' मे जो वक्रता उत्पन्न करता है, उससे मानो आकाश नतोदर बन जाता है और सेब उस दिशा मे गिरता है, जिस दिशा में आकाश की नतोदरता अत्यधिक होती है।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' मे सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहा न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धातो मे आकाश, काल और भौतिक पदार्थ, सभी एक दूसरे से स्वतत्र थे, वहा आईन्स्टीन के सिद्धात मे ये तीनो एक-दूसरे से सम्बन्धित हो गए है। विश्व 'आकाश काल की सयुक्त चतुर्विमितिक सततता' बन गया है और उसके गुण-धर्म उसमे समाहित भौतिक पदार्थों पर आधारित हो गए हैं। भौतिक-पदार्थो की गति एव स्थिति का सीधा प्रभाव आकाश-काल की सततता पर पडता है।

युक्लिडियेतर भूमिति और आईन्स्टीन का आकाश

'भूमिति' मे आकाश के आकार-प्रकारो का अध्ययन किया जाता है। बिन्दु, रेखा, तल, कोण आदि सम्बन्धी विचार इसके अन्तर्गत हैं। प्राचीन यूनानी गणितज्ञ युक्लिड (ई पू ३००) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'एलिमेन्टस' (Elements) मे 'भूमिति' के नियमों का प्रतिपादन किया है। इसको 'युक्लि-डीय भूमिति' (Euclidean Geometry) कहते हैं। स्वयसिद्ध तथ्यो (Axioms) के आधार पर युक्लिड ने अपनी भूमिति का निर्माण किया है। अठारहवी शताब्दी तक युक्लिडीय भूमिति के प्रामाण्य के विषय मे कोई सदेह

नहीं हुआ। यहा तक कि काण्ट ने अपने दर्शन की पुष्टि युक्लिडीय भूमिति के आधार पर की। किन्तु अठारहवी शताब्दी मे सबसे प्रथम सच्चेरी (Saccheri) (ई० १६६७–१७७३) ने युक्लिड द्वारा बताए हुए नियमो के अतिरिक्त 'कोण' सम्बन्धी कुछ एक नियमो का प्रतिपादन किया, किन्तु उसे उसमे पूर्णतया सफलता नही मिली। कुछ भी हो, यहा से युक्लिडियेतर भूमिति का इतिहास प्रारम्भ होता है। ई० १७९९ मे गौस (Gauss) नामक गणितज्ञ ने इस क्षेत्र मे थोडी प्रगति की। उसने बताया कि त्रिकोण के तीन कोणो का योग, जो युक्लिडीय नियमों के अनुसार १८० अंश होना चाहिए, १८० अंश से कम भी हो सकता है। वास्तविक आकाश मे इस तथ्य की सिद्धि करने के लिए उसने जर्मनी के तीन स्थान (पर्वत की टोक) इनसेलसबर्ग, ब्रोकन और होहर हेगन के बीच बने त्रिकोण के कोणो को सूक्ष्म यन्त्रो की सहायता से नापा। यद्यपि इस प्रयोग मे निश्चय पूर्वक यह कहना सम्भव न हुआ कि युक्लिडीय नियमो का अतिक्रमण वास्तविक आकाश मे होता है, फिर भी इससे युक्लिडियेतर भूमिति के विकास मे सहायता मिली। युक्लिडियेतर भूमिति के आविष्कार का श्रेय तो रूसी प्रोफेसर एन० आई० लोबासेवस्की (N I Lobachevsky) (ई० १७९३–१८५६) और हगेरियन सैनिक-अफसर ज्होन बोल्यै (John Bolyai) (ई० १८०२–१८६०) को मिला, जिन्होंने ई० १८२३-२९ के बीच एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप मे युक्लिड के नियमो से भिन्न रूप मे भूमिति के नियमो का सर्जन किया। युक्लिड ने जिन स्वय-सिद्ध-तथ्यो के आधार पर अपनी भूमिति का निर्माण किया था, उनमे से 'समानान्तर रेखाओ' से सम्बन्धित तथ्य के विषय मे लोबासेवस्की और बोल्यै ने सशोधन किया। इसके फलस्वरूप जो भूमिति का निर्माण हुआ उसको 'अतिपरवलीय भूमिति' (Hyperbolic Geometry) कहते हैं। 'अतिपरवलीय भूमिति' मे सिद्ध किया गया कि त्रिकोण के तीन कोणो का योग १८० अंश से कम होता है।

युक्लिडियेतर भूमिति का आविष्कार होने के पश्चात् ई० १८५४ मे बर्नहार्ड रीमान (Bernhard Riemann) ने इसको सुव्यवस्थित रूप दिया और एक अन्य प्रकार की भूमिति का निर्माण किया, जिसको 'दीर्घ-वृत्तीय भूमिति' (Elliptic Geometry) कहते हैं। दीर्घ-वृत्तीय भूमिति' मे त्रिकोण के तीन कोणो का योग १८० अंश से अधिक होता है। इसके बाद ई० १८७० में क्लाइन (Klein) ने युक्लिडियेतर भूमिति के प्रामाण्य सम्बन्धी पुष्ट प्रमाण उपस्थित किये। इस प्रकार उन्नीसवी सदी के अन्त तक युक्लिडियेतर भूमिति

का विकास पूर्ण रूप मे हो गया था, किन्तु उसी समय तक 'वास्तविक आकाश' (real space) मे कौनसी भूमिति के नियम लागू होते हैं, इसका निर्णय नही हो सका था।

गणित (अथवा भूमिति) द्वारा प्रतिपादित आकाश के गुण-धर्म केवल काल्पनिक होते हैं। युक्लिडीय और युक्लिडियेतर भूमितियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से आकाश के गुण-धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। अब, प्रश्न यह होता है कि वास्तविक आकाश, जो कि विज्ञान के अध्ययन का विषय है, कौनसी भूमिति के नियमो को मान्य रखता है? उदाहरणार्थ—वास्तविक आकाश मे बने हुए त्रिकोण के कोणो का योग १८० अ श से कम होता है, १८० अ श होता है अथवा १८० अ श से अधिक होता है, इसका निर्णय करना विज्ञान के हाथ मे है। न्यूटन की मान्यता थी कि युक्लिडीय भूमिति के नियम वास्तविक आकाश मे कार्यक्षम होते है। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ पोइनकेर (Poincare) के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वास्तविक आकाश मे कौनसी भूमिति के नियम लागू होते हैं, तब पोइनकेर ने बताया कि[1] "यह केवल सुविधा का प्रश्न है। प्रेक्षणो के आधार पर हम यह निर्णय कभी नही कर सकते। भूमिति के सभी प्रकार के सम्भावित रूपो मे से किसी को भी मानकर हम चल सकते है, बशर्ते कि इसके अनुसार हम भौतिक विज्ञान के नियमो मे तदनुरूप परिवर्तन कर ले। फिर भी वज्ञानिक सदा युक्लिडीय भूमिति को अधिक पसन्द करेंगे, क्योकि वह अन्य भूमितियो की अपेक्षा मे अधिक सरल है।" पोइनकेर की इस मान्यता का खण्डन आइन्स्टीन ने किया। उन्होने 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' मे रीमान द्वारा दिये गए युक्लिडियेतर भूमिति के नियमो का प्रयोग किया। आइन्स्टीन के अनुसार यदि भौतिक विज्ञान के 'दूरी' सम्बन्धी नियमो को हम सरल रखना चाहते हैं, तो हमे युक्लिडियेतर भूमिति को मान्य रखना होगा। इस प्रकार आइन्स्टीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मे आकाश की भूमिति को युक्लिडियेतर माना गया है।

आइन्स्टीन ने 'आकाश' को गाणितिक सज्ञा 'आव्यूह' (Matrix) के द्वारा वर्णित किया है। इसमे 'गुरुत्व' के प्रभाव से आकाश को वक्रता किस प्रकार होती है और दो घटनाओ के बीच की दूरी चतुर्वेमितिक आकाश-काल मे किस प्रकार मापी जाती है, इसके सम्बन्ध मे सूत्र और समीकरण दिये गए

---

१ देखें, साईन्स एण्ड हाइपोथिसिस, पृ० ७२ (मूल पुस्तक 'ला साईन्स ए ला हाइपोथिंसिस' का अंग्रेजी अनुवाद)।

हैं। इसका प्रतिपादित अति गाणितिक होने से यहा नही दिया जा सकता। आकाश-काल की सान्तता और अनन्तता के सदर्भ मे इसका ज्ञान उपयोगी होने से, यहा इसका उल्लेख मात्र किया गया है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दार्शनिक पक्ष

आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे 'आकाश और काल' के सम्बन्ध में जो विचार दिये गए है, उनके दो पहलू हो जाते हैं। भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित इसके पहलू की चर्चा के पश्चात् अब इसके दार्शनिक पक्ष के विषय मे वैज्ञानिको के अभिमतो का अवलोकन करें। आकाश, काल और आकाश-काल की चतुर्वेमितिक् सततता की वास्तविकता कहा तक वस्तु-सापेक्ष है और कहा तक ज्ञाता-सापेक्ष, इसके विषय मे सभी वैज्ञानिक एकमत नही हैं।

डा० अल्बर्ट आइन्स्टीन के अभिमतानुसार [1] "जिस प्रकार रग, आकार अथवा परिमाण हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आन्तरिक कल्पना के ही रूप हैं। जिन वस्तुओ को हम आकाश मे देखते हैं, उनके 'क्रम' के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता नही है। इसी प्रकार जिन घटनाओ के द्वारा हम काल को मापते हैं, उन घटनाओ के 'क्रम' के अतिरिक्त काल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।" 'आकाश' और 'काल' का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व न होने पर भी, 'आकाश-काल की सयुक्त चतुर्वेमितिक सततता' वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतीक है, ऐसा माना गया है।[2] जब इस सततता का 'आकाश' और 'काल' के रूप मे पृथक्करण किया जाता है, तब ये भेद ज्ञाता-सापेक्ष होते हैं, किन्तु जब व चतुर्वेमितिक सततता के रूप मे जुडते हैं, तब उसके द्वारा हमे वस्तु-सापेक्ष विश्व का ज्ञान होता है। इस तथ्य का स्पष्ट निरूपण सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे मिलता है[3]. "हम समग्र प्रकृति को इस ढाचे (चतुर्वेमितिक सततता) मे व्यक्त कर सकते हैं, इसलिए यह वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु 'आकाश' और 'काल' मे इसका विभागीकरण वस्तु-सापेक्ष नही है—वह तो केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही है।........' आपेक्षिकता के सिद्धान्त का मूल तत्त्व यही है कि सततता के आकाश और काल के विभागीकरण के विषय मे प्रकृति कुछ नही जानती।" इसी प्रकार मिन्का-

१. देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० २१, २२।

२ वही, पृ० ७८।

३. दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० ६०।

इन्की ने भी 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' का निरूपण करते हुए लिखा है .[1] " 'आकाश' और 'काल' भिन्न-भिन्न रूप मे तो असत् मे विलीन हो गए है। केवल उनका सयुक्त रूप ही कुछ वास्तविकता रखता है।" यही निरूपण एडिंग्टन, वाइल (Weyl), माख (Mach) आदि वैज्ञानिको ने अपने-अपने शब्दो मे किया है। इन वैज्ञानिको के अभिमत मे 'आकाश' एक 'सदर्भ' का ढाचा है। जिस प्रकार विषुवद् वृत्त (Equator), ग्रीनिच याम्योत्तर (Greenwich meridian), उत्तरी ध्रुव (North pole) आदि काल्पनिक हैं; उसी प्रकार 'आकाश' और 'काल' भी काल्पनिक है।

कुछ एक वैज्ञानिक इस निरूपण को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि 'आकाश और काल की सयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' के भौतिक पहलू के विषय मे ये भिन्न मत नही रखते, फिर भी इन तत्त्वो का—आकाश और काल का केवल ज्ञाता-सापेक्ष अस्तित्व ही है, यह अभिप्राय उनको मान्य नही है। हंस राइशनबाख ने अपनी पुस्तक (आकाश और काल का दर्शन) मे 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के भौतिक पक्ष की चर्चा के साथ साथ दार्शनिक पक्ष की चर्चा भी की है। इसमे राइशनबाख ने आकाश और काल का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व गणित और तर्क-शास्त्र के आधार से सिद्ध किया है। उनके अभिमतानुसार गाणितिक आकाश के विविध भेद हो सकते हैं। इनमे से किसी एक को प्रेक्षण और प्रयोग के आधार पर वास्तविक आकाश माना जा सकता है। इस वास्तविक आकाश का 'वस्तु-सापेक्ष' अस्तित्व है। पोइनकेर आदि वैज्ञानिको द्वारा जो अभिमत प्रकट किया गया था कि यह हमारे अभिसमय (convention) का प्रश्न है कि हम आकाश को चाहे जिस रूप मे बना सकते हैं, इसका खडन करते हुए वे लिखते हैं[2] "अभिसमयवादियो (conventionalists) के अनुसार वास्तविक आकाश की भूमिति के विषय मे वस्तु-सापेक्ष निरूपण करना अशक्य है और इस विषय मे तो हम ज्ञाता-सापेक्षात्मक और मनमाना निरूपण कर सकते हैं। 'वास्तविक आकाश की भूमिति का विचार ही निरर्थक है।' —यह गलत धारणा है। यद्यपि भूमिति सम्बन्धी निरूपण कुछ एक मनमानी व्याख्याओं पर आधारित है, फिर भी यह निरूपण स्वय मे मनमाना नही बन जाता। एक बार व्याख्याओं का निश्चय हम करले, बाद मे वस्तु-सापेक्ष

---

१ तारीख २१ सितम्बर, १६०८ को मिन्काउस्की द्वारा कोलोन मे दिये गए भाषण मे।

२. दी फिलॉसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, पृ० ३६, ३७।

वास्तविकता ही भूमिति के वास्तविक रूप को प्रकट करती है।" इसकी स्पष्टता के लिए उन्होने एक सरल उदाहरण दिया है। जैसे—उष्णतामान के मापने मे सेंटीग्रेड, फारनहाइट आदि विविध प्रकार के मानदण्ड काम मे आते हैं। हम अपने अभिसमय के अनुसार कोई एक मानदण्ड को अंकित कर उष्णतामापक से वस्तु की उष्णता मापते हैं। जो अंक उष्णता को सूचित करता है, वह यद्यपि मानदण्ड के बदलने पर बदल सकता है, फिर भी उसकी 'यथार्थता' मे परिवर्तन नही होता। एक वस्तु का उष्णतामान चाहे १५° से० कहे अथवा ५६° फा० कहे, इसका आधार यद्यपि हमारे मानदण्ड की पसदगी पर है, फिर भी वस्तु का उष्णतामान स्वय मे हमारी पसदगी पर नही है, वह तो वस्तु-सापेक्ष ही हैं।

काल के सम्बन्ध मे प्रचलित गलत धारणाओं का भी राइशनबाख ने खण्डन किया है[1] "काल को चतुर्थ विमिति के रूप मे मानने से, बहुत लोगो की यह मान्यता बनी है कि काल भी आकाश की ही एक 'विमिति' है। किन्तु यह गलत है। चतुर्विमिति मे आकाश और काल को जोडने का अर्थ मात्र यही है कि किसी भी घटना (Event) का निर्देश हम चार निर्देशाको द्वारा कर सकते हैं—आकाश के तीन निर्देशाक और काल का चौथा निर्देशाक। जिस प्रकार तीन मूल रगो—लाल, हरा और नीले—के द्वारा हम किसी भी वस्तु के रग का निर्णय कर सकते हैं कि अमुक वस्तु मे इन तीन की कितनी-कितनी मात्राए हैं; किन्तु ऐसा करने से वस्तु का रग बदल नही जाता, (उस प्रकार) काल का चतुर्थ विमिति के रूप मे निरूपण करने से काल के विषय मे हमारे विचार मे कोई परिवर्तन नही आता है।" उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि चतुर्वैमितिक गाणितिक रूप को मानते हुए भी यह मानना आवश्यक नही है कि आकाश और काल के बीच कोई अन्तर है ही नही। आपेक्षिकता के सिद्धान्त से काल के जिन गुण-धर्मों का ज्ञान हमे होता है, चतुर्थ विमिति के रूप मे काल के प्रतिपादन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। मिन्काउस्की के गाणितिक प्रतिपादन का यह अर्थ करना कि आकाश और काल का केवल सम्मिलित रूप ही वास्तविक है, राइशनबाख के अनुसार गलत है।

आकाश की विमितियो के विषय मे वैज्ञानिको और गणितज्ञो ने यह कल्पना भी की है कि इसकी विमितियो की सख्या चाहे जितनी हो सकती है किन्तु राइशनबाख ने माना है कि वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से तो आकाश की

---

१ दी फिलोसोफी आफ स्पेस एण्ड टाइम, पृ० ११०।

केवल तीन विमितिया हैं। बहु-वैमितिक आकाश गाणितिक हो सकता है, परन्तु वास्तविक आकाश केवल त्रिवैमितिक है।[1] 'वास्तविक आकाश की तीन विमितिया हैं' यह निरूपण उतना ही वस्तु-सापेक्षात्मक है, जितना कि यह निरूपण कि 'भौतिक पदार्थ की तीन अवस्थाए—ठोस, तरल और वायु—होती हैं', यह वस्तु-सापेक्ष विश्व के मूलभूत तथ्य का एक वर्णन है।"

राइशनबाख ने आपेक्षिकता के सिद्धान्त को मान्य रखते हुए यह निरूपण किया है कि 'आकाश' और 'काल' का वस्तु-सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व है। अपनी पुस्तक '**आकाश और काल का दर्शन**' के अन्त मे 'आकाश और काल की वास्तविकता' शीर्षक के अन्तर्गत समग्र वैज्ञानिक व गाणितिक विवेचन के निष्कर्ष मे वे लिखते हैं [2] "अत. हम निम्न कथन को आकाश और काल सम्बन्धी सबसे अधिक सामान्य विधान के रूप मे लिख सकते है. 'सर्वत्र और सदा आकाश-काल की निर्देश-निकाय का अस्तित्व है।' यह निष्कर्ष आकाश और काल के बीच की भेदरेखा को अच्छी तरह प्रमाणित करता है।" वस्तु-सापेक्षता और ज्ञाता-सापेक्षता के बीच क्या अन्तर है तथा इसका आकाश और काल के साथ किस रूप मे सम्बन्ध होता है, इसके विस्तृत विवेचन के बाद अन्तिम निष्कर्ष के रूप मे उन्होने लिखा है [3] "इस समग्र चिन्तन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि आकाश के गुण-धर्म वस्तु-सापेक्ष हैं। जिन ज्ञान-मैमासिक विश्लेपणो (Epistemological analyses) द्वारा हमने बहुत भारी समस्याओ को हल करने का प्रयत्न किया, उनका यह अकाट्य अभिमत है कि 'आकाश' और 'काल' वास्तविक हैं। ··दार्शनिको ने अब तक आकाश और काल के केवल आदर्शवादी प्रतिपादन को ही ज्ञान-मैमासिक विश्लेपण मे शक्य माना है। किन्तु यह इसलिए हुआ है कि उन्होने आकाश की गाणितिक और वास्तविक समस्याओ के द्विपक्षीय स्वरूप की उपेक्षा की है। गाणितिक आकाश काल्पनिक रचना है; अत आदर्श है। भौतिक विज्ञान का कार्य है—इन गाणितिक रचनाओ मे से किसी एक को वास्तविकता के साथ जोडने का। इस कार्य की निष्पत्ति मे भौतिक विज्ञान वास्तविकता के विषय में निरूपणात्मक कथनो का उच्चारण करता है और हमारा लक्ष्य है, इन कथनो के वस्तु-सापेक्ष मूल तत्त्व को, वर्णन की अनिश्चि-

---

१. दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, पृ० २७९।

२. वही, पृ० २८३।

तता के कारण घुसे हुए ज्ञाता-सापेक्ष बाह्य तत्व से विमुक्त करने का।" राइशनबाख के इस समग्र विवेचन का साराश यही है कि वे 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' को स्वीकार करते है, फिर भी 'आकाश' और 'काल' की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के निरूपण को इस सिद्धान्त का फलित प्रतिपादित करते हैं ।

आकाश और काल की वास्तविकता के पक्ष में जिन वैज्ञानिको का अभिमत है, उनमे प्रो० हेन्री मार्गेनौ का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रो० मार्गेनौ के अनुसार : [1]कोई भी पदार्थ सापेक्ष होने से, अवास्तविक नही बन जाता । 'निरपेक्ष आकाश' की मान्यता को यद्यपि आपेक्षिकता का सिद्धात स्वीकार नही करता, फिर भी उससे 'आकाश' की वास्तविकता का अस्वीकार नही होता है । जैसे कि पहले बताया गया कि मार्गेनौ ने 'कन्स्ट्रक्ट्स' के सिद्धान्त से वास्तविकता का वर्णन किया है । आकाश भी ऐसा ही एक 'कन्स्ट्रक्ट्स' माना गया है, जो प्रमाणित है और इसलिए वास्तविक भी है । मार्गेनौ मानते हैं कि 'आकाश' के भौमितिक गुण-धर्मों का वास्तविक जगत् के पदार्थ कहा तक अनुकरण करते हैं, इसमे सदिग्धता तो हो सकती है, परन्तु 'आकाश' की वास्तविकता तो असन्दिग्ध है । उदाहरणार्थ कोई भी 'वास्तविक पदार्थ' पूर्ण रूप मे सरल रेखात्मक हो, ऐसा अनुभव मे न भी आता हो, फिर भी वास्तविक सरल रेखा आकाश के दो बिन्दुओ के बीच अस्तित्व रखती है और आकाश वास्तविक बिन्दुओ का बना हुआ है ।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के दार्शनिक पक्ष की इस चर्चा के निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि आकाश और काल के स्वरूप के विषय मे 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के आधार पर अब तक सर्वमान्य निरूपण नही हो सका है। आकाश और काल वस्तु-सापेक्ष हैं अथवा ज्ञाता-सापेक्ष, यह दुविधा अब तक भी वैज्ञानिको के सामने खडी है ।

उपसहार

"विश्व क्या है ?" विश्व-प्रहेलिका के इस प्रथम पहलू को सुलझाने का प्रयत्न मनुष्य के जिज्ञासु मस्तिष्क द्वारा प्राचीन काल से अब तक किया गया है। प्राचीन युनानी दार्शनिको से लेकर आधुनिक दार्शनिक रसल और मार्गेनौ तक के अनेक पाश्चात्य दार्शनिको के तथा न्यूटन से लेकर आधुनिक

---

१. विवेचन के लिए देखें, दी नेचर ऑफ फिज़िकिल रियलिटी, पृ० ३००, ३०१।

वैज्ञानिक आइन्स्टीन, एडिंग्टन और हाइसनबर्ग तक के वैज्ञानिको के द्वारा किस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, इसका एक सक्षिप्त अवलोकन हमने किया। इसके उपसहार मे यहा कहा जा सकता है कि वास्तविकतावाद और आदर्शवाद की दुविधा ने न केवल दार्शनिको को व्यथित किया है, अपितु वैज्ञानिको मे भी भेद उत्पन्न कर दिए हैं। आदर्शवादी जहा विश्व को ज्ञाता-सापेक्ष दृष्टिकोण से देखते हैं, वहा वास्तविकतावादी विश्व के वस्तु-सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

'आकाश' और 'काल' का स्वरूप भी रहस्यमय बना हुआ है। कुछ एक 'रिक्त आकाश' का प्रतिपादन करते हैं, तो अन्य 'अवगाहित आकाश' का, कई 'निरपेक्ष आकाश' का निरूपण करते हैं, तो कई 'सापेक्ष आकाश' का, आकाश को 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे स्वीकार करने वाले भी हैं और 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे करने वाले भी हैं। दूसरी ओर 'काल' के विषय मे भी इस प्रकार की विभिन्न विचारधाराए हैं।

न्यूटन का अभिमत था—निरपेक्ष आकाश और काल पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते है। इस अभिमत के सहारे वैज्ञानिको ने भौतिक ईथर की कल्पना की और 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' ने भौतिक ईथर को तिलाजलि देकर सापेक्ष आकाश-काल की स्थापना की। 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' से वैज्ञानिक जगत् मे नई क्रान्ति आई। 'आकाश' और 'काल' की सयुक्त चतुर्वैमितिक सततता, प्रकाश की सीमित गति के कारण आकाश और काल की परस्परबद्धता, गति का 'आकाश' और 'काल पर प्रभाव आदि विषय 'विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के परिणाम हैं। भौतिक-पदार्थ की सहति से होने वाली आकाश की वक्रता, आकाश के युक्लिडियेतर भौमितिक गुण-धर्म, गुरुत्व और जडत्व की समानता आदि विषय 'सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के परिणाम हैं। फिर भी 'आकाश' और 'काल' का स्वरूप चिन्तन का विषय बना हुआ है।

●

: २ :

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विश्व कितना बड़ा है ?

दो विचारधाराए

'विश्व-प्रहेलिका' का दूसरा पहलू है . "विश्व कितना बडा है ?" जब हम नीले आकाश की ओर दृष्टिपात करते हैं, सहसा यह प्रश्न हमारे मस्तिष्क मे खडा हो जाता है। दृश्य जगत् के विविध पदार्थों के परिमाण (Size) हमारे अनुभव मे आते हैं। इनका सही-सही माप वैज्ञानिक साधनो के आधार पर निकाला जा सकता है। किन्तु 'विश्व का परिमाण' किस प्रकार से नापा जाय ? विज्ञान के आदिकाल से कोपरनिकस (Copernicus), गेलिलिओ (Galileo), केप्लर (Kepler), न्यूटन (Newton) आदि ज्योतिर्विज्ञान-प्रणेताओ ने इस प्रश्न का समाधान देने का प्रयत्न किया है।

डा० अल्बर्ट आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पहले वैज्ञानिको मे विश्व के परिमाण के बारे मे दो प्रकार की विचारधाराए थी

१. विश्व स्वय ही अनन्त है।

२ विश्व अनन्त आकाश समुद्र मे जड आदि पदार्थों के समूहरूप एक द्वीप समान है।

प्रथम [1] विचारधारा के पीछे यह तर्क था कि यदि विश्व को सान्त (ससीम) मान लिया जाए, तो यह प्रश्न सहसा खडा हो जाता है कि विश्व की सीमा से परे क्या है ? इस विकट प्रश्न का उत्तर नही पाने के कारण, वैज्ञानिको ने यह मान लिया कि विश्व अनन्त (असीम) है।

दूसरी विचारधारा के पीछे न्यूटन के 'गुरुत्वाकर्षण के नियम' का आधार था। यदि हम विश्व को अनन्त मान लें, (और क्योकि अनन्त विश्व मे स्थित सभी पदार्थो की सहति (Mass) समानतया विभाजित होनी चाहिए), तो

---

१ देखे, दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १००।

गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार अनन्त विश्व मे व्याप्त सभी पदार्थो का सगठित 'गुरुत्वाकर्षण बल' सब पदार्थो के अनन्त तक व्याप्त होने के कारण, अनन्त हो जाएगा, और विश्व का समस्त आकाश अनन्त प्रकाश मे चमक उठेगा। किन्तु वास्तव मे यह स्थिति नही है। इसलिए 'अनन्त विश्व' की कल्पना भी सत्य नही है। अत. 'विश्व अनन्त आकाश के अन्दर एक द्वीप के समान है' यह विचारधारा कुछ एक वैज्ञानिको ने मान्य रखी।

'विश्व एक द्वीप' की कल्पना भी आशकाओ से मुक्त नही थी। 'तारा-पुञ्ज या आकाशगगाओ की गति के नियम' (Dynamic Laws of the Motion of Galaxies) इन आशकाओ को उत्पन्न करते हैं।[1] अनन्त आकाश की अपेक्षा मे, ससीम विश्व मे स्थित द्रव्य-राशि इतनी कम है कि आकाश-गगाओ की गति के नियमो के कारण वह राशि बादल के बिन्दुओ की तरह अनन्त आकाश मे विलीन हो जाती और समग्र विश्व रिक्त हो जाता है। किन्तु स्थिति यह नही है। अत इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण आवश्यक थे।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा समाधान

इन सब कठिनाइयो को दूर करने के लिए आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) ने विज्ञान-जगत् मे प्रवेश किया। जैसे कि पहले बताया गया था आइन्स्टीन के अनुसार विश्व के आकार-प्रकार की जो कल्पना हम युक्लिडीय (Euclidean) भूमिति के आधार पर करते हैं, वह ठीक नही है। गुरुत्व-क्षेत्र (Gravitational Field) मे चलने वाली प्रकाश की किरणे सीधी रेखा मे नही चलती हैं, किन्तु वक्र रेखा या वर्तुलाकार मे चलती हैं—इस बात से यह सिद्ध हो जाता है कि युक्लिडीय भूमिति के नियम गुरुत्व-क्षेत्र मे लागू नही होते।

विश्व मे समाहित तारा, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आकाशगगा आदि समस्त पदार्थों के गुरुत्व के कारण उनकी सहति (Mass) और गति (Velocity) के अनुपात मे सारा विश्वाकाश वक्रता धारण करता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने आस-पास के आकाश को वक्र बनाता है। सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धान्तानुसार उस वक्रता के परिणाम का आधार पदार्थ-स्थित सहति पर रहता है। जितनी सहति अधिक होगी, उतनी ही वक्रता भी बढेगी। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक पदार्थ अपनी सहति के अनुसार विश्वाकाश की वक्रता मे योग

---

१ देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १०१।

देता है। अतः सारे विश्व का आकार, विश्व-स्थित सभी द्रव्यों की सामूहिक द्रव्य-राशि पर आधारित है।

इस प्रकार 'सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त' विश्व अर्थात् 'आकाश-काल की चतुर्वेमितिक सततता' की भूमिति और विश्व-स्थित सहति के बीच सीधा सम्बन्ध दर्शाता है। 'विश्व कितना बडा है ?' इस प्रश्न का उत्तर हम तभी दे सकते हैं, जब हमे विश्व की भूमिति का सही ज्ञान हो। किन्तु यदि हम विश्व-स्थित 'सहति' का सही-सही पता लगा सकें, तो आइन्स्टीन के समीकरण हमे विश्व की भूमिति का ज्ञान कराते हैं। आइन्स्टीन ने कल्पना की कि विश्व-स्थित भौतिक पदार्थों की सहति-राशि सीमित है।[1] अतः आइन्स्टीन का विश्वाकाश, जो गाणितिक सज्ञा 'आव्यूह' (Matrix) द्वारा दर्शाया जाता है, युक्लिडियेतर और सान्त (Finite) बन जाता है।

पदार्थों की सामूहिक द्रव्य-राशि के कारण सारा विश्व उस प्रकार से वक्र बना है कि समग्र विश्व-आकाश एक 'बद्ध वक्राकार' धारण करता है। अतः विश्वाकाश ससीम बन जाता है। फिर भी वद्धाकार होने के कारण, यदि प्रकाश की एक किरण एक स्थान से चलेगी, तो सारे विश्व की परिक्रमा कर, फिर मूल स्थान पर आ जाएगी। इस प्रकार आइन्स्टीन का विश्व अनन्त नही है और युक्लिडीय भूमिति के नियमो से भी बाधित नही है।

गणित की भाषा मे विश्व चतुर्वेमितिक (Four-dimensional) सततता है, जो कि गोले (Sphere) की त्वचा (Surface) के समान है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त के द्वारा विश्व का जो नया दर्शन मिला, उसे समझाने के लिए सर जेम्स जीन्स ने साबुन के बुलबुले का उदाहरण दिया है.

[2] "साबुन के बुलबुले की कल्पना कीजिए, जिसकी त्वचा के ऊपरी भाग मे नाना प्रकार की रेखाए आदि हो। विश्व उस बुलबुले का भीतरी भाग नही, परन्तु उसकी बाह्य त्वचा के स्थान मे है। दोनो मे केवल यही अन्तर है कि साबुन का बुलबुला दो ही विमिति वाला है, जब कि विश्व-आकाश का गोला

---

१. सर ए० एस० एडिंग्टन ने इसके आधार पर यह पता लगाया है कि यदि विश्व-स्थित धनाणुओ (Protons) और ऋणाणुओ (Electrons) की सख्याए समान हो, तो यह सख्या १ १६×१०^{७८} है।

(देखें, दी न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० २२१; दी एक्सपाण्डिंग युनिवर्स, पृ० ६८)

२ दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १००।

चार विमिति वाला—तीन विमितिया आकाश की और एक काल की, विश्व जिस पदार्थ का बना है, वह रिक्त आकाश है, जो कि रिक्त काल के ऊपर लपेटा हुआ है।" यह मन्तव्य सुप्रसिद्ध वैज्ञानिको के शब्दो मे अधिक स्पष्ट होगा। जैसे प्रो० सर ए० एस० एडिंग्टन लिखते हैं [1] "प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे यह प्रश्न उत्पन्न होता होगा कि 'क्या आकाश का अन्त है?' यदि है, तो उससे आगे क्या है? यदि नही है, तो 'आकाश के बाद आकाश........' यह कल्पना भी अचिन्त्य है। इस प्रकार हमारी कल्पना दुविधा के झूले मे यहा से वहा और वहा से यहा झूल रही है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पहले जो रूढ विचार प्रचलित था, उसके अनुमार आकाश (विश्व) अनन्त था। यद्यपि अनन्त आकाश की कल्पना अचिन्त्य है, फिर भी भौतिक विज्ञान-जगत् मे इसी कल्पना को स्वीकार कर हमे सतोष मान लेना पडा। यद्यपि यह कल्पना चित्त को अशान्त करने वाली थी, फिर भी अतार्किक नहीं थी। अब आइन्स्टीन का सिद्धान्त हमे इस दुविधा से बाहर ले जाता है। 'आकाश अनन्त है या ससीम?' इस प्रश्न का उत्तर है—दोनो ही नही। 'आकाश सान्त भी है, अनन्त भी' अथवा 'सान्त, किन्तु असीम'—ये शब्द प्राय. आकाश के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।"

वैज्ञानिक वरनर हाइसनवर्ग विश्व की सान्तता-अनन्तता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं:[2] "विश्व द्वारा अवगाहित आकाश सान्त हो, ऐसी सम्भावना है। इसका अर्थ यह नही होता कि कोई एक स्थान पर विश्व का अन्त आ जाता है। उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि विश्व मे किसी एक ही दिशा मे गति करने वाला पदार्थ अन्तत उसी स्थान पर पहुच जाता है, जहा से वह चलना प्रारम्भ हुआ था। चतुर्वैमितिक विश्व की यह स्थिति द्विवैमितिक पृथ्वी-तल (Surface) के सदृश होती है, जहा एक स्थान से पूर्व की दिशा मे निरन्तर चलने वाला व्यक्ति, उसी स्थान पर पश्चिम की ओर से पुन. पहुंच जाता है।"

इसी प्रकार हेन्शो वार्ड (Henshaw Ward) लिखते हैं [3] "गणितज्ञो का यह सिद्धान्त बहुत ही विचित्र लगता है कि विश्व-स्थित जड पदार्थो की राशि, जो अस्तित्व मे है, वह सीमित है, और विश्व का सकल परिमाण

---

१. दी नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ८० ।

२. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १११ ।

३. एक्सप्लोरिंग दी युनिवर्स, पृ० १६ ।

भी सीमित है। वे यह नही मानते कि एक सीमा से परे आकाश नही है, किन्तु उनका कहना है कि आकाश की सकलता (सम्पूर्ण आकाश) इस प्रकार के वक्र है, जिसके कारण प्रकाश की एक किरण सीधी चले, तो वापस वह अपने उदगम स्थान पर पहुच जायेगी।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० एन० आर० सेन, आइन्स्टीन के विचारो को उद्धृत करते हुए लिखते हैं[1] "आइन्स्टीन स्वय प्रतिपादन करते हैं कि छोटे-बडे अनेक जड पदार्थों को धारण करने वाला यह विश्व, जो कि अनन्त आकाश मे लटक रहा है, स्वय अनन्त नही है। उनके सापेक्षवाद-सिद्धान्त से जो एक बात हमे मिलती है, वह यह है कि चतुर्वैमितिक विश्व आकाशीय विमितियो मे सान्त है और काल की विमिति मे अनन्त है। विश्व का आकार बेलनाकार (Cylinderical) है, जिसकी बाह्य सतह उस दिशा मे तो सीमित है, जिसमे रेखाओ के द्वारा बेलनाकार की उत्पत्ति हुई है। यह सीमित विमिति विश्व-बेलन की तीन आकाशीय विमितियो को सूचित करती है। किन्तु बेलन अन्य दो विमितियो मे तो अनन्त है। उसी तरह विश्व भी काल-विमिति मे अनन्त है अर्थात् काल की दृष्टि से वह अनन्त भूत से अनन्त भविष्य तक रहता है।"

वैज्ञानिको के उपरोक्त विचारो से विश्व का आकार और परिमाण, बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। फिर भी आधुनिक विज्ञान के बहुत सारे सिद्धान्तो की तरह आइन्स्टीन का ससीम विश्व उतना ही दृष्टिगम्य हो सकता है, जितना कि अणु मे स्थित ऋणाणु (Electron) या प्रकाशाणु (Photon) दृष्टिगम्य है। परन्तु गणित के आधार पर विश्व का यथार्थ परिमाण निश्चिततापूर्वक निकाला जा सकता है। यदि हम मान लेते हैं कि हमारी आकाशगगा के समीपवर्ती आकाश मे स्थित जड पदार्थ का औसत घनत्व सारे विश्व मे स्थित जड पदार्थ के औसत घनत्व के समान है, तो आइन्स्टीन के समीकरण से विश्व की वक्रता-त्रिज्या निकाली जा सकती है। माउण्ट विलसन वेधशाला के प्रसिद्ध खगोलवेत्ता एड्वीन हबल (Edwin Hubble) ने प्रयोगो के द्वारा इकाई घनफल आकाश मे स्थित औसत सहति-राशि की सख्या निकाली है। उस सख्या[2] का आइन्स्टीन के क्षेत्र-समीकरण मे उपयोग करने से यह निष्कर्ष

---

१ रिलेटिविटी पर डा० सेन का निबन्ध, देखिए **प्रोसिडिंग्स ऑफ दी फिजिक्स सेमिनार**, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जुलाई, १९२५।

२ हबल द्वारा दी गई औसत घनत्व-राशि इस प्रकार है .
०००००००००००००००००००००००००००००००१ ग्राम प्रति घन सेण्टीमीटर (देखें, **दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन**, पृ० १०५।

चार विमिति वाला—तीन विमितिया आकाश की और एक काल की, विश्व जिस पदार्थ का बना है, वह रिक्त आकाश है, जो कि रिक्त काल के ऊपर लपेटा हुआ है।" यह मन्तव्य सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के शब्दो मे अधिक स्पष्ट होगा। जैसे प्रो० सर ए० एस० एडिंग्टन लिखते हैं [1] "प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे यह प्रश्न उत्पन्न होता होगा कि 'क्या आकाश का अन्त है ?' यदि है, तो उससे आगे क्या है ? यदि नही है, तो 'आकाश के बाद आकाश.......' यह कल्पना भी अचिन्त्य है। इस प्रकार हमारी कल्पना दुविधा के झूले मे यहा से वहा और वहा से यहा झूल रही है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पहले जो रूढ विचार प्रचलित था, उसके अनुसार आकाश (विश्व) अनन्त था। यद्यपि अनन्त आकाश की कल्पना अचिन्त्य है, फिर भी भौतिक विज्ञान-जगत् मे इसी कल्पना को स्वीकार कर हमे सतोष मान लेना पडा। यद्यपि यह कल्पना चित्त को अशान्त करने वाली थी, फिर भी अतार्किक नहीं थी। अब आइन्स्टीन का सिद्धान्त हमे इस दुविधा से बाहर ले जाता है। 'आकाश अनन्त है या ससीम ?' इस प्रश्न का उत्तर है—दोनो ही नही। 'आकाश सान्त भी है, अनन्त भी' अथवा 'सान्त, किन्तु असीम'—ये शब्द प्राय आकाश के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।"

वैज्ञानिक वरनर हाइसनवर्ग विश्व की सान्तता-अनन्तता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं [2] "विश्व द्वारा अवगाहित आकाश सान्त हो, ऐसी सम्भावना है। इसका अर्थ यह नही होता कि कोई एक स्थान पर विश्व का अन्त आ जाता है। उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि विश्व मे किसी-एक ही दिशा मे गति करने वाला पदार्थ अन्तत उसी स्थान पर पहुच जाता है, जहा से वह चलना प्रारम्भ हुआ था। चतुर्वैमितिक विश्व की यह स्थिति द्विवैमितिक पृथ्वी-तल (Surface) के सदृश होती है, जहां एक स्थान से पूर्व की दिशा मे निरन्तर चलने वाला व्यक्ति, उसी स्थान पर पश्चिम की ओर से पुनः पहुच जाता है।"

इसी प्रकार हेन्शो वार्ड (Henshaw Ward) लिखते हैं [3] "गणितज्ञों का यह सिद्धान्त बहुत ही विचित्र लगता है कि विश्व-स्थित जड पदार्थों की राशि, जो अस्तित्व मे है, वह सीमित है, और विश्व का सकल परिमाण

---

१. दी नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ८० ।

२ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १११ ।

३ एक्सप्लोरिंग दी युनिवर्स, पृ० १६ ।

प्रकाश मार्ग मे प्रकाशाणु (Photon) के रूप मे शक्ति व्यय कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप लाल रेखा मे परिवर्तन दिखाई देता है।

विश्व-विस्तार के सिद्धान्त मे सदिग्धता का स्पष्ट उदाहरण विख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे मिलता है [1] "किन्तु तारा-पुञ्जो की इन गतिओ के विषय मे सदिग्धता को पूर्ण अवकाश रह जाता है कि ये वास्तविक हैं या नही ? इनका प्रतिपादन कोई भी प्रत्यक्ष माप की प्रक्रिया पर आधारित नही है।" आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं: "दूर-स्थित निहारिकाए अपने से दूर जा रही हैं, इस मान्यता का केवल यही कारण है कि उनका जो प्रकाश हमे दिखाई देता है, वह सामान्यतः जितना होना चाहिए उमसे अधिक लाल है। किन्तु गति के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाए भी प्रकाश को अधिक लाल बना सकती हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य का प्रकाश केवल सूर्य के भार के कारण लाल बन जाता है, उमसे कही और अधिक लाल वह सूर्य के वातावरण के दबाव के कारण बनता है, जैसे कि हम सूर्योदय एव सूर्यास्त के समय देखते हैं। अन्य प्रकार के ताराओ का प्रकाश भी कोई रहस्यमय प्रकार से लाल बनता है, जिस रहस्य का उद्घाटन हम अब तक नही कर सके हैं। इसके अतिरिक्त 'डी सीटर' के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर मात्र दूरी ही प्रकाश के रक्तीकरण का कारण बन सकती है। इसलिए दूरस्थ निहारिकाए आकाश मे स्थिर होने पर भी, उनका प्रकाश अधिक लाल होगा और उस रक्तीकरण के आधार पर 'वे निहारिकाएं हम से दूर जा रही हैं,' इस प्रकार की धारणा के प्रलोभन मे हम आ जाते हैं।"[2]

उक्त रक्तीकरण की प्रक्रिया का दूसरा प्रतिपादन केलिफोर्निया इन्स्टीच्यूट के डा० ज्वीकी (Zwicky) ने दिया है उनके अनुसार जब प्रकाश किसी बडे तारे या निहारिका के समीप से गुजरता है, तब वह प्रकाश न केवल अपने पथ से मुडता है, पर साथ-साथ गुरुत्वाकर्षण के कारण तारे की सहि[illegible] का थोडा-सा हिस्सा भी उससे अलग कर देता है, अर्थात् उससे प्रकाश की ऊर्जा कम हो जाती है। अब, क्वातम सिद्धान्त के अनुसार ऊर्जा मे कमी होने का अर्थ होता है—कम्पन-आवृत्ति (फ्रिक्वेंसी) मे कमी, जिसके परिणामस्वरूप वह हमें अधिक लाल दिखाई देता है। उक्त सिद्धान्त प्रस्तुत होने के बाद आकाशस्थ कई तारापुञ्जो के प्रकाश पर 'टेन ब्रगेनकेट' (Ten Bruggencate

१. दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० ५७।

२ देखें, वही, पृ० ५८।

जो प्रक्रिया वस्तुत देखी गई थी, वह यह थी कि जब दूर-स्थित आकाश-गगाओ का वर्णपट-मापकयन्त्र (spectrometer) द्वारा अध्ययन किया गया, तब उनके वर्णपट (spectrum) मे लाल रेखा (red line) मे परिवर्तन दिखाई दिया। यह परिवर्तन "डोप्लर इफेक्ट"[1] (Doppler Effect) नामक सिद्धान्त पर आधारित है। लाल रेखा के परिवर्तन से अनुमान किया गया कि दूरस्थ आकाशगङ्गाए एक दूसरे से दूर जा रही हैं अर्थात् विश्व विस्तृत हो रहा है।

यह सिद्धान्त सभी वैज्ञानिको को मान्य नही है, क्योकि कुछ वैज्ञानिको के अभिमतानुसार लाल रेखा के परिवर्तन का कारण कोई अन्य है[2]। कुछ उसको 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के आधार पर समझाते हैं अर्थात् उसको आकाश की वक्रता का परिणाम बतलाते हैं, तो कुछ उसे यह कह कर समझाते हैं कि

---

१ विज्ञान के अनुसार प्रकाश 'तरग' के रूप मे होता है और प्रकाश का रग उसके तरग-दैर्घ्य (Wave-length) पर आधारित है। तरग-दैर्घ्य-और कम्पन की आवृत्ति, परस्पर मे व्यस्त प्रमाण मे (inverse proportion) सम्बन्धित है। अर्थात् तरग-दैर्घ्य के बढने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और उसके घटने के साथ बढती है। सूर्य का प्रकाश त्रिपार्श्व काच (Prism) में गुजरने पर प्रकाश विक्षेपण के कारण सात रगो मे विभक्त होता दिखाई देता है। उस रग-पक्ति को वर्णपट (Spectrum) कहते है। उनमेसे लाल रग का तरग-दैर्घ्य सबसे अधिक और बैगनी (violet) रग का तरग दैर्घ्य सबसे कम होता है। दूसरे शब्दो मे लाल प्रकाश की कम्पन-आवृत्ति सबसे कम और बैगनी प्रकाश की सबसे अधिक होती है। अब, डोप्लर इफेक्ट के अनुसार प्रकाश का मूल स्रोत जब गति करता है तब प्रकाश की आवृत्ति पर इसका प्रभाव पडता है। जब प्रकाश के स्रोत की गति द्रष्टा की ओर होती है, तब प्रकाश की आवृत्ति मे वृद्धि होती है और जब उसकी गति द्रष्टा से विरुद्ध दिशा मे होती है, तब प्रकाश की आवृत्ति मे कमी होती है। जब प्रकाश की आवृत्ति मे वृद्धि होती है, तब वर्णपट पर रेखा का स्थानान्तर बैगनी रग की ओर होता है और जब आवृत्ति मे कमी होती है, तब वर्णपट मे रेखा का स्थानान्तर लाल रग की ओर होता है। इस प्रकार, यदि आकाश-गगाओ की गति हमारी पृथ्वी से विरुद्ध दिशा मे हो रही हो, तो हमे उनका प्रकाश अधिक लाल दिखाई देगा।

२ दी बुक ओफ पोपुलर साईन्स वोल्युम ३, पृ० ९८७।

यत वैज्ञानिक भी असीम विश्व का प्रतिपादन करते हैं। सुप्रसिद्ध सोवियत लेखक वं० मेजेन्तसेव ने 'विश्व और परमाणु' नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है . [1] "अगर हम यह विचार स्वीकार करें कि विश्व-आकाश की कहीं सीमा है, तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है—इस सीमा के पार क्या है ?

"विश्वाकाश मे ब्रह्माण्ड की कोई सीमा नही हो सकती । महाजागतिक द्वीपपुंज पर नक्षत्र-जगत् की गठन क्या है, हम अभी नही जानते, लेकिन चाहे ये असख्य 'द्वीप' मदाकिनिया (आकाशगगाए) हो या ब्रह्माण्ड अनेक विशाल 'महाजागतिक द्वीप-समूहों'—मेटागैलक्टिको (बाह्य मदाकिनियो) से बना हो, हर सूरत मे हमारे चारो तरफ की दुनिया असीम है ।"

फिर भी विश्व सान्त है, या अनन्त ? इस प्रश्न का पूर्ण रूप से समाधान नहीं हो पाया है, क्योकि विश्व की वक्रता गाणितिक रूप मे ऋण (negative) अथवा धन (positive)—दोनो मे से एक हो सकती हैं और इसके अनुसार ही विश्व अनन्त या सान्त हो जाता है । विश्व-सम्बन्धी मूलभूत समीकरणो (equation) को हल करने पर विश्व सान्त और बद्ध (closed) न होकर, अनन्त और खुला (open) पाया जाता है । जब कि हबल के द्वारा की गई तारापुञ्जो के तेज की गणना हमें बद्ध एव बहुत ही छोटे (सान्त) विश्व, जिसका त्रिज्या केवल थोडे करोड प्रकाश-वर्ष ही है, की कल्पना पर पहुंचाती है ।[2]

विश्व का परिमाण स्थिर या बढता हुआ ?

आइन्स्टीन के उपरोक्त विश्व-परिमाण के निश्चय के अनन्तर एक ऐसी प्रक्रिया वैज्ञानिको के सामने आई, जिससे विश्व के परिमाण और आकार के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना, उनके लिए सम्भव नही रहा । यह प्रक्रिया दूरवीक्षण यन्त्र (telescope) के द्वारा वैज्ञानिको के सामने आई । दूरवीक्षण यत्र से जब विश्व के अति दूर भागो मे स्थित आकाश-गगाओ (galaxies) की गति का अध्ययन किया गया, तब पता चला कि ये आकाश-गगाए एक दूसरे से दूर जा रही हैं—अर्थात् ऐसा लगा कि विश्व बडा होता जा रहा है । जिस प्रकार गुब्बारे मे (baloon) हवा भरने से वह फूलता है—विस्तृत होता है, उस प्रकार विश्व भी विस्तृत हो रहा है । इस प्रकार की प्रक्रिया से वैज्ञानिको मे दो मत हो गए ।

---

१. विश्व परमाणु, पृ० ६१ ।

१. डा० ज्योर्ज गैमो का इवोल्युशनरी युनिवर्स नामक निबन्ध, दी युनिवर्स, पृ० ७१-७२ ।

निकलता है कि विश्व की वक्रता-त्रिज्या (radius of curvature) ३५,०००,०००,००० प्रकाश-वर्ष है अर्थात् २.१×१०^{२३} माईल है। दूसरे शब्दो मे एक प्रकाश की किरण, जिसकी गति प्रति सैकिण्ड लगभग १,८६,००० माईल की है, अगर विश्व की परिक्रमा करने निकले, तो उसे एक चक्कर लगाने मे २० अरब से भी अधिक वर्ष लग जाएगे।[1] आइन्स्टीन के उक्त निर्णय के बाद, जब विश्व-विस्तार का सिद्धान्त आया, तब उसके आधार पर विश्व की वक्रता-त्रिज्या फिर निकाली गई। यह करीब ५० करोड प्रकाश-वर्ष है।[2]

आइन्स्टीन के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त भी वैज्ञानिको ने रखे। उनमे से डच गणितज्ञ विलियम डी० सीटर का सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है। उसके अनुसार विश्व आकाश और काल की चतुर्वैमितिक इकाई के रूप मे है, जिसमें आकाश के साथ काल की विमिति भी वक्र है।[3]

आइन्स्टीन द्वारा किया गया विश्व का चित्रण प्रिकल्पनाओ पर आधारित है। विश्व के विविध प्रकार के चित्रण भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक प्रस्तुत करते हैं। इन विविध चित्रणो मे से वस्तुत कौनसा विश्व का सही निरूपण हैं, वर्तमान ज्योतिर्वैज्ञानिक ज्ञान-राशि के आधार पर इसका निर्णय करना सम्भव नही माना गया है।[4] आइन्स्टीन की कल्पना ससीम विश्व की है, किन्तु कुछ एक वैज्ञानिक असीम विश्व का प्रतिपादन भी करते हैं। डा० फ्रेड होयल के विश्व-सिद्धान्त मे 'अनन्त विश्व' का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त सोवि-

---

१ देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १०६।

२ डा० ज्योर्ज गेमो का **'मोडर्न कास्मोलॉजी'** नामक निवन्ध, दी न्यू एस्ट्रोनॉमी, पृ० १४।

एडिंग्टन ने 'आइन्स्टीन-विश्व' की वक्रता-त्रिज्या विस्तारमान विश्व' के सिद्धान्त के बाद गणना द्वारा निकाली है। एडिंग्टन के अनुसार यदि 'आइन्स्टीन-विश्व' की स्थिति को विस्तार की आदि स्थिति मान लिया जाय, तो उस समय विश्व की त्रिज्या १,०६८,०००,००० प्रकाश-वर्ष थी। यह मान जिस वेग से दूरस्थ आकाशगगाए दूर जा रही हैं, उस 'वेग' पर आधारित है। एडिंग्टन ने इस मूल्याकन मे यह वेग '५२८ किलोमीटर प्रति सैकिण्ड प्रति दश लाख प्रकाश-वर्ष' माना है। (देख, दी **एक्सपाण्डिग युनिवर्स**, पृ० ६७)

३ डा० ज्योर्ज गेमो का 'इवोल्युशनरी युनिवर्स'-नामक निवन्ध, दी युनिवर्स, पृ० ६६।

४. देखें, फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १११।

यत वैज्ञानिक भी असीम विश्व का प्रतिपादन करते है। सुप्रसिद्ध सोवियत लेखक व० मेजेन्तसेव ने 'विश्व और परमाणु' नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है . [1] "अगर हम यह विचार स्वीकार करें कि विश्व-आकाश की कही सीमा है, तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है—इस सीमा के पार क्या है ?

"विश्वाकाश मे ब्रह्माण्ड की कोई सीमा नही हो सकती। महाजागतिक द्वीपपुंज पर नक्षत्र-जगत् की गठन क्या है, हम अभी नही जानते, लेकिन चाहे ये असख्य 'द्वीप' मदाकिनिया (आकाशगगाए) हो या ब्रह्माण्ड अनेक विशाल 'महाजागतिक द्वीप-समूहो'—मेटागैलिक्टको (बाह्य मदाकिनियो) से बना हो, हर सूरत मे हमारे चारो तरफ की दुनिया असीम है।"

फिर भी विश्व सान्त है, या अनन्त? इस प्रश्न का पूर्ण रूप से समाधान नही हो पाया है, क्योकि विश्व की वक्रता गाणितिक रूप मे ऋण (negative) अथवा धन (positive)—दोनो मे से एक हो सकती है और इसके अनुसार ही विश्व अनन्त या सान्त हो जाता है। विश्व-सम्बन्धी मूलभूत समीकरणों (equation) को हल करने पर विश्व सान्त और बद्ध (closed) न होकर, अनन्त और खुला (open) पाया जाता है। जब कि हबल के द्वारा की गई तारापुञ्जो के तेज की गणना हमें बद्ध एव बहुत ही छोटे (सान्त) विश्व, जिसकी त्रिज्या केवल थोडे करोड प्रकाश-वर्ष ही है, को कल्पना पर पहुचाती है।[2]

विश्व का परिमाण स्थिर या बढता हुआ ?

आइन्स्टीन के उपरोक्त विश्व-परिमाण के निश्चय के अनन्तर एक ऐसी प्रक्रिया वैज्ञानिको के सामने आई, जिससे विश्व के परिमाण और आकार के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना, उनके लिए सम्भव नही रहा। यह प्रक्रिया दूरवीक्षण यन्त्र (telescope) के द्वारा वैज्ञानिको के सामने आई। दूरवीक्षण यत्र से जब विश्व के अति दूर भागो मे स्थित आकाश-गगाओ (galaxies) की गति का अध्ययन किया गया, तब पता चला कि ये आकाश-गगाए एक दूसरे से दूर जा रही हैं—अर्थात् ऐसा लगा कि विश्व बडा होता जा रहा है। जिस प्रकार गुब्बारे मे (baloon) हवा भरने से वह फूलता है—विस्तृत होता है, उस प्रकार विश्व भी विस्तृत हो रहा है। इस प्रकार की प्रक्रिया से वैज्ञानिको मे दो मत हो गए।

---

१. विश्व परमाणु, पृ० ६१।

१. डा० ज्योर्ज गैमो का इवोल्युशनरी युनिवर्स नामक निबन्ध, दी युनिवर्स, पृ० ७१-७२।

जो प्रक्रिया वस्तुत देखी गई थी, वह यह थी कि जब दूर-स्थित आकाश-गंगाओ का वर्णपट-मापकयन्त्र (spectrometer) द्वारा अध्ययन किया गया, तब उनके वर्णपट (spectrum) मे लाल रेखा (red line) मे परिवर्तन दिखाई दिया। यह परिवर्तन "डोप्लर इफेक्ट"[१] (Doppler Effect) नामक सिद्धान्त पर आधारित है। लाल रेखा के परिवर्तन से अनुमान किया गया कि दूरस्थ आकाशगङ्गाए एक दूसरे से दूर जा रही है अर्थात् विश्व विस्तृत हो रहा है।

यह सिद्धान्त सभी वैज्ञानिको को मान्य नही है, क्योकि कुछ वैज्ञानिको के अभिमतानुसार लाल रेखा के परिवर्तन का कारण कोई अन्य है[२]। कुछ उसको 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के आधार पर समझाते हैं अर्थात् उसको आकाश की वक्रता का परिणाम बतलाते हैं, तो कुछ उसे यह कह कर समझाते हैं कि

---

१. विज्ञान के अनुसार प्रकाश 'तरग' के रूप मे होता है और प्रकाश का रग उसके तरग-दैर्घ्य (Wave-length) पर आधारित है। तरग-दैर्घ्य-और कम्पन की आवृत्ति, परस्पर मे व्यस्त प्रमाण मे (inverse proportion) सम्बन्धित है। अर्थात् तरग-दैर्घ्य के बढने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और उसके घटने के साथ बढती है। सूर्य का प्रकाश त्रिपार्श्व काच (Prism) में गुजरने पर प्रकाश विक्षेपण के कारण सात रगो मे विभक्त होता दिखाई देता है। उस रग-पक्ति को वर्णपट (Spectrum) कहते है। उनमेसे लाल रग का तरग-दैर्घ्य सबसे अधिक और बैंगनी (violet) रग का तरग दैर्घ्य सबसे कम होता है। दूसरे शब्दो मे लाल प्रकाश की कम्पन-आवृत्ति सबसे कम और बैंगनी प्रकाश की सबसे अधिक होती है। अब, डोप्लर इफेक्ट के अनुसार प्रकाश का मूल स्रोत जब गति करता है तब प्रकाश की आवृत्ति पर इसका प्रभाव पडता है। जब प्रकाश के स्रोत की गति द्रष्टा की ओर होती है, तब प्रकाश की आवृत्ति मे वृद्धि होती है और जब उसकी गति द्रष्टा से विरुद्ध दिशा मे होती है, तब प्रकाश की आवृत्ति मे कमी होती है। जब प्रकाश की आवृत्ति मे वृद्धि होती है, तब वर्णपट पर रेखा का स्थानान्तर बैंगनी रग की ओर होता है और जब आवृत्ति मे कमी होती है, तब वर्णपट मे रेखा का स्थानान्तर लाल रग की ओर होता है। इस प्रकार, यदि आकाश-गगाओ की गति हमारी पृथ्वी से विरुद्ध दिशा मे हो रही हो, तो हमे उनका प्रकाश अधिक लाल दिखाई देगा।

२ दी बुक ओफ पोपुलर साईन्स वोल्युम ३, पृ० ६८७।

प्रकाश मार्ग मे प्रकाशाणु (Photon) के रूप मे शक्ति व्यय कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप लाल रेखा मे परिवर्तन दिखाई देता है।

विश्व-विस्तार के सिद्धान्त मे सदिग्धता का स्पष्ट उदाहरण विख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे मिलता है [1] "किन्तु तारा-पुञ्जो की इन गतिओ के विषय मे सदिग्धता को पूर्ण अवकाश रह जाता है कि ये वास्तविक हैं या नही ? इनका प्रतिपादन कोई भी प्रत्यक्ष माप की प्रक्रिया पर आधारित नही है।" आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं : "दूर-स्थित निहारिकाए अपने से दूर जा रही हैं, इस मान्यता का केवल यही कारण है कि उनका जो प्रकाश हमे दिखाई देता है, वह सामान्यत. जितना होना चाहिए उससे अधिक लाल है। किन्तु गति के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाए भी प्रकाश को अधिक लाल बना सकती है। उदाहरणार्थ, सूर्य का प्रकाश केवल सूर्य के भार के कारण लाल बन जाता है; उससे कहीं और अधिक लाल वह सूर्य के वातावरण के दबाव के कारण बनता है, जैसे कि हम सूर्योदय एव सूर्यास्त के समय देखते हैं। अन्य प्रकार के ताराओ का प्रकाश भी कोई रहस्यमय प्रकार से लाल बनता है, जिस रहस्य का उद्घाटन हम अब तक नही कर सके हैं। इसके अतिरिक्त 'डी सीटर' के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर मात्र दूरी ही प्रकाश के रक्तीकरण का कारण बन सकती है। इसलिए दूरस्थ निहारिकाए आकाश मे स्थिर होने पर भी, उनका प्रकाश अधिक लाल होगा और उस रक्तीकरण के आधार पर 'वे निहारिकाए हम मे दूर जा रही हैं,' इस प्रकार की धारणा के प्रलोभन मे हम आ जाते हैं।"[2]

उक्त रक्तीकरण की प्रक्रिया का दूसरा प्रतिपादन केलिफोर्निया इन्स्टीच्यूट के डा० ज्वीकी (Zwicky) ने दिया है उनके अनुसार जब प्रकाश किसी बडे तारे या निहारिका के समीप से गुजरता है, तब वह प्रकाश न केवल अपने पथ से मुडता है, पर साथ-साथ गुरुत्वाकर्षण के कारण तारे की सहति का थोडा-सा हिस्सा भी उससे अलग कर देता है, अर्थात् उससे प्रकाश की ऊर्जा कम हो जाती है। अब, क्वान्तम सिद्धान्त के अनुसार ऊर्जा मे कमी होने का अर्थ होता है—कम्पन-आवृत्ति (फ्रिक्वेंसी) मे कमी, जिसके परिणामस्वरूप वह हमें अधिक लाल दिखाई देता है। उक्त सिद्धान्त प्रस्तुत होने के बाद आकाशस्थ कई तारापुञ्जो के प्रकाश पर 'टेन ब्रगेनकेट' (Ten Bruggencate)

---

१. दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० ५७।

२ देखें, वही, पृ० ५८।

के द्वारा प्रयोग किये गए। इन प्रयोगो के परिणाम से ज्वीकी के सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जो कि इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि दूरस्थ आकाशगगाओ के दूर जाने का सिद्धान्त सत्य न हो।[1]

इस चर्चा का उपसंहार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि विश्व-परिमाण की स्थिरता के बारे मे वैज्ञानिको मे दो मत हैं—

१. विश्व का परिमाण स्थिर है।

२. विश्व का परिमाण विस्तृत हो रहा है।

'विश्व की आयु' के विषय मे जो सिद्धान्त प्रस्तुत हो रहे हैं, वे भी इन दो विचारधाराओ पर आधारित हैं, जिनका विवेचन हम अब करेंगे। विश्व-परिमाण-सम्बन्धी विवेचन की समालोचना 'समीक्षा' प्रकरण मे करना अधिक उपयुक्त होगा।

विश्व की आयु क्या है?

सादि और सान्त विश्व के सिद्धान्त

विश्व-प्रहेलिका का तीसरा पहलू है—"विश्व की आयु क्या है?" इस प्रश्न के दो अर्थ होते हैं—वर्तमान मे विश्व की आयु क्या है अर्थात् जब से विश्व की आदि हुई है, तब से आज तक कितना काल बीत चुका? दूसरा अर्थ है "विश्व की सम्पूर्ण आयु क्या है? अर्थात् जब से विश्व का प्रारम्भ हुआ तब से लेकर जब तक इसका अन्त होगा, तब तक कितना काल बीतेगा?

"विश्व की आयु क्या है?" इस प्रश्न का विज्ञान मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भी वैज्ञानिको के दो मत रहे हैं—

१. विश्व भूतकाल मे किसी एक निश्चित समय पर अस्तित्व मे आया और भविष्य मे किसी एक निश्चित समय पर वह अस्तित्व-विहीन भी हो जायेगा।

२ विश्व काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है।

प्रथम मान्यता का आधार मुख्यतः तो 'विश्व-विस्तार' का सिद्धान्त है। प्रयोगो के द्वारा दूरस्थ आकाशगगाओ के बढने की गति का माप निकाला गया और जाना गया कि जिस वेग से आकाशगङ्गाए अन्तरिक्ष मे बढ रही है, वह अत्यधिक तीव्र है। अपनी पृथ्वी के समीप रही हुई आकाशगगाए एक सैकिंड मे करीब १०० माईल दूर निकल जाती हैं, जबकि जो आकाश-गगाए

---

१ देखें, वही, पृ० ५६।

२२½ करोड प्रकाश-वर्ष दूर हैं, वे लगभग २४,००० माईल प्रति सैकिण्ड की गति से दूर हो रही हैं। प्रयोगो के आधार पर एड्वीन हबल (Edwin Hubble) ने एक नियम इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत किया है। इस नियम के अनुसार ६० लाख प्रकाश-वर्ष की मर्यादा मे स्थित आकाशगगाओ के लिए, गति का आधार उनकी पृथ्वी से दूरी है।[1] इसका अर्थ यह होता है कि ज्यो-ज्यो आकाश-गगाए पृथ्वी से दूर जाती हैं, त्यो त्यो उनकी गति बढती जाती है। इस नियम के आधार पर यदि आकाशगङ्गाओ की भूतकालीन गति का अध्ययन किया जाए, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि इस विश्व मे करीब २०० करोड[2] वर्ष पूर्व सभी आकाशगङ्गाए एक ही स्थान मे थी। यद्यपि इस निर्णय की कल्पना का आधार यह है कि आकाशगङ्गाओ की गति जैसी वर्तमान मे है, वैसी ही सदा थी।[3] इस निर्णय के बाद किये गए प्रयोगो के आधार पर यह सख्या १००० करोड वर्ष हो जाती है।[4]

विश्व-विस्तार के आधार पर विश्व की आदि को समझाने के लिए कुछ वैज्ञानिको ने प्रयत्न किया है, जिनमे से एबे लेमैत्रे (Abbe Lemaitre) और डा० ज्योर्ज गेमो (George Gamow) 'विश्व की आदि है', इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

वेल्जियम के सुप्रसिद्ध विश्व विज्ञानवेत्ता एबे लेमैत्रे के विचारानुसार यह विश्व प्रारम्भिक स्थिति मे एक अद्भुत अणु के रूप मे था। जब उस अणु का विस्फोट हुआ, तब से उसका विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। आज तक वह इतने विशाल रूप को पा चुका है तथा और भी विस्तृत हो रहा है।[5]

इसी से सादृश्य रखने वाला एक और सिद्धान्त वाशिंगटन विश्व-विद्यालय के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० ज्योर्ज गेमो ने कुछ समय पूर्व ही प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आज से करीब ५० करोड वर्ष पूर्व, इस विश्व का आदि रूप समप्रकार की किरणो का गोला था, जिसका तापमान इतना अधिक था कि जिसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। वर्तमान में किसी भी आकाशीय ताराओ के अन्तरतम गर्भ मे भी वह तापमान विद्य-

---

१ दी युनिटी ऑफ दी युनिवर्स, लेखक डा०डी०डब्ल्यु सीयामा, पृ० ६८।

२. इस सख्या को 'हबल का अचल' (Hubble's constant) कहते हैं।

३. दी युनिटी ऑफ दी युनिवर्स पृ०, ६९।

४ वही, पृ० ७०।

५ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १०९।

के द्वारा प्रयोग किये गए। इन प्रयोगों के परिणाम से ज्वीकी के सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाण मिलते है, जो कि इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि दूरस्थ आकाशगगाओ के दूर जाने का सिद्धान्त सत्य न हो।[1]

इस चर्चा का उपसहार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि विश्व-परिमाण की स्थिरता के बारे मे वैज्ञानिको मे दो मत है—

१. विश्व का परिमाण स्थिर है।

२ विश्व का परिमाण विस्तृत हो रहा है।

'विश्व की आयु' के विषय मे जो सिद्धान्त प्रस्तुत हो रहे हैं, वे भी इन दो विचारधाराओ पर आधारित हैं, जिनका विवेचन हम अब करेंगे। विश्व-परिमाण-सम्बन्धी विवेचन की समालोचना 'समीक्षा' प्रकरण मे करना अधिक उपयुक्त होगा।

विश्व की आयु क्या है ?

सादि और सान्त विश्व के सिद्धान्त

विश्व-प्रहेलिका का तीसरा पहलू है—"विश्व की आयु क्या है ?" इस प्रश्न के दो अर्थ होते हैं—वर्तमान मे विश्व की आयु क्या है अर्थात् जब से विश्व की आदि हुई है, तब से आज तक कितना काल बीत चुका ? दूसरा अर्थ है "विश्व की सम्पूर्ण आयु क्या है ? अर्थात् जब से विश्व का प्रारम्भ हुआ तब से लेकर जब तक इसका अन्त होगा, तब तक कितना काल बीतेगा ?

"विश्व की आयु क्या है ?" इस प्रश्न का विज्ञान मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भी वैज्ञानिको के दो मत रहे हैं—

१. विश्व भूतकाल मे किसी एक निश्चित समय पर अस्तित्व मे आया और भविष्य म किसी एक निश्चित समय पर वह अस्तित्व-विहीन भी हो जायेगा।

२. विश्व काल की दृष्टि मे अनादि और अनन्त है।

प्रथम मान्यता का आधार मुख्यतः तो 'विश्व-विस्तार' का सिद्धान्त है। प्रयोगो के द्वारा दूरस्थ आकाशगगाओ के बढ़ने की गति का माप निकाला गया और जाना गया कि जिस वेग से आकाशगङ्गाए अन्तरिक्ष मे बढ रही है, वह अत्यधिक तीव्र है। अपनी पृथ्वी के समीप रही हुई आकाशगगाए एक सैकिंड मे करीब १०० माईल दूर निकल जाती हैं, जबकि जो आकाश-गगाए

---

१ देखें, वही, पृ० ५६।

मार्टीन रीले और उनके अन्य पाच साथियो द्वारा रखा गया विश्व-सिद्धान्त है।[1] इन ब्रिटिश वैज्ञानिको के अभिमतानुसार 'विश्व का एक निश्चित आरम्भ है' इस तथ्य की पुष्टि हुई है। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप निम्न चार तथ्य सामने आये हैं।

१ विश्व का विस्तार हो रहा है।

२. विश्व मे स्थित सारा द्रव्य, जिसका हमारी पृथ्वी केवल एक अ शी मात्र है, तेज गति से दूर हटता जा रहा है। इस प्रकार मध्य मे केवल एक छिद्र हो गया है।

३. विश्व का निश्चित आरम्भ है। कुछ पत्रकारों ने इस सिद्धान्त से 'बाईबिल सही थी' इस विचार को व्यक्त किया है। किन्तु स्वय प्रो० रीले ने पत्रकार-सम्मेलन मे बताया था कि यद्यपि विश्व के निश्चित प्रारम्भ के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु ये बाईबिल के विचारो से मेल नही खाते।

४ विश्व का अन्त कभी-न-कभी होगा।

उक्त सिद्धान्त 'मुलार्ड रेडियो-ऑबजरवेटरी' मे रेडियो-दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा किए गए निरीक्षणो पर आधारित है। इस यत्र के द्वारा वैज्ञानिक ८,०००,०००,००० प्रकाश वर्ष दूरी तकके आकाश का तथा ८,०००,०००,००० वर्ष तक भूतकाल का अध्ययन कर पाए हैं।

यह सिद्धान्त लेमैत्रे के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है। इसके अनुसार सहस्रो वर्षो पूर्व सारा विश्व अत्यधिक सूक्ष्म आयतन (वोल्यूम) मे समाहित था। सहसा इसका विस्फोट हुआ और तबसे विश्व-स्थित आकाश-गङ्गाए एक दूसरे से दूर होनी शुरू हुई हैं।

इस सिद्धान्त के आविष्कर्ताओ ने विश्व की आदि के विषय मे निश्चित काल बताया है, जिसके अनुसार दस अरब वर्ष पूर्व विश्व का प्रारम्भ माना गया है। किन्तु 'विश्व के अन्त' के विषय मे इन्होंने कोई निश्चित काल नही बताया है। फिर भी उनकी यह मान्यता तो है ही कि विश्व अनन्त काल तक नही रहेगा।

थोडे ही वर्ष पूर्व जो 'स्थायी-अवस्थावान्-विश्व' का सिद्धान्त कैम्ब्रिज

---

१. इस सिद्धान्त की घोषणा १० फरवरी, १९६१ को हुई थी। समाचार-पत्रो के आधार पर इसका विवेचन किया गया है। देखें, नवभारत टाइम्स, दिल्ली, १२ फरवरी, १९६१ तथा हिन्दुस्तान टाइम्स (अंग्रेजी), १२ फरवरी, १९६१, नई दिल्ली।

मान नही है। वह १५० करोड डिग्री से भी अधिक था। विश्व की इस प्रारम्भावस्था मे न तो कोई पदार्थ (एलिमेण्ट) था, न कोई लघुतम द्रव्यकण (मोलिक्यूल) ही और न कोई अणु (एटम) भी। केवल स्वैरविहारी न्यूट्रोन[1] इधर-उधर घूम रहे थे। जब यह गोला विस्तृत होना शुरू हुआ, तब इसका तापमान क्रमश घटने लगा। पाच मिनट के अस्तित्व मे वह तापमान घटकर करीब १० करोड डिग्री हो गया। तब इधर-उधर घूमने वाले न्यूट्रोनो की गति थोडी मन्द हुई; वे एक-दूसरे से मिलने लगे व परस्पर जुडने लगे, ऋणाणुओ को बाहर निकालने लगे और अणु का निर्माण होने लगा। इस क्रम से काल बीतने पर लघुतम द्रव्यकण और पदार्थ बनने लगे। इस प्रकार वर्तमान सभी पदार्थ विश्व के उषाकाल के थोडे-से क्षणो मे बने थे और आज ५० करोड वर्ष से विस्तारमान विश्व मे अपना कार्य कर रहे हैं।[2] 'विश्व का वर्तमान रासायनिक निर्माण आज से ५० करोड वर्ष पूर्व केवल पाच मिनट के अल्प काल मे ही हो चुका था', इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए डा० ज्योर्ज गेमो एक प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं:"सन् १९५२ मे अणु-बम का विस्फोट किया गया, तब उसके परिणामस्वरूप जो विघटन-तत्त्व (फिशन प्राडक्ट) उत्पन्न हुए, उनके अध्ययन से उक्त सिद्धान्त को पुष्टि मिलती है।"[3] इस विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आज से ५० करोड वर्ष पूर्व विश्व का जन्म हुआ था।

नवीनतम विश्व-सिद्धान्तो मे केम्ब्रिज रेडियो-ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर

---

१. आधुनिक अणु-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के अणु मे केन्द्र होता है, जिसे नाभि (न्युक्लीअस) कहते हैं। उसके चारो ओर उससे भी सूक्ष्म ऋण-आवेशित कण, जिन्हें इलेक्ट्रोन कहते हैं, बहुत तेज गति से चक्कर काटते रहते हैं। सूक्ष्म धन-आवेशित कण, जिन्हे प्रोटोन कहते हैं और सूक्ष्म आवेश-रहित कण, जिन्हें न्यूट्रोन कहते हैं, नाभि मे स्थिर रूप से रहते हैं। इलेक्ट्रोन का भार समग्र अणु के भार के सहस्रांश से भी कम होता है। नाभिक कणो मे ही अणु का अधिकांश भार स्थित होता है। इस प्रकार प्रोटोन और न्यूट्रोन अधिक भारवान् होते हैं, जब कि इलेक्ट्रोन अल्प भारवान्। इलेक्ट्रोन ऋण-आवेशित, प्रोटोन धन-आवेशित और न्यूट्रोन आवेश-रहित होते हैं।

२. देखें, दी न्यु एस्ट्रोनोमी, पृ० १८; दी यनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १०६।

३. दी युनिवर्स, पृ० ७६, ७७।

मार्टीन रीले और उनके अन्य पांच साथियो द्वारा रखा गया विश्व-सिद्धान्त है।[1] इन ब्रिटिश वैज्ञानिको के अभिमतानुसार 'विश्व का एक निश्चित आरम्भ है' इस तथ्य की पुष्टि हुई है। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप निम्न चार तथ्य सामने आये हैं।

१ विश्व का विस्तार हो रहा है।

२. विश्व मे स्थित सारा द्रव्य, जिसका हमारी पृथ्वी केवल एक अंश मात्र है, तेज गति से दूर हटता जा रहा है। इस प्रकार मध्य मे केवल एक छिद्र हो गया है।

३. विश्व का निश्चित आरम्भ है। कुछ पत्रकारों ने इस सिद्धान्त से 'बाईबिल सही थी' इस विचार को व्यक्त किया है। किन्तु स्वय प्रो० रीले ने पत्रकार-सम्मेलन मे बताया था कि यद्यपि विश्व के निश्चित प्रारम्भ के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु ये बाईबिल के विचारो से मेल नही खाते।

४ विश्व का अन्त कभी-न-कभी होगा।

उक्त सिद्धान्त 'मुलार्ड रेडियो-ऑबजरवेटरी' मे रेडियो-दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा किए गए निरीक्षणो पर आधारित है। इस यत्र के द्वारा वैज्ञानिक ८,०००,०००,००० प्रकाश वर्ष दूरी तकके आकाश का तथा ८,०००,०००,००० वर्ष तक भूतकाल का अध्ययन कर पाए हैं।

यह सिद्धान्त लेमैत्रे के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है। इसके अनुसार सहस्रो वर्षो पूर्व सारा विश्व अत्यधिक सूक्ष्म आयतन (वोल्यूम) मे समाहित था। सहसा इसका विस्फोट हुआ और तबसे विश्व-स्थित आकाश-गङ्गाए एक दूसरे से दूर होनी शुरू हुई हैं।

इस सिद्धान्त के आविष्कर्ताओ ने विश्व की आदि के विषय मे निश्चित काल बताया है, जिसके अनुसार दस अरब वर्ष पूर्व विश्व का प्रारम्भ माना गया है। किन्तु 'विश्व के अन्त' के विषय मे इन्होंने कोई निश्चित काल नही बताया है। फिर भी उनकी यह मान्यता तो है ही कि विश्व अनन्त काल तक नही रहेगा।

थोडे ही वर्ष पूर्व जो 'स्थायी-अवस्थावान्-विश्व' का सिद्धान्त कैम्ब्रिज

---

१. इस सिद्धान्त की घोषणा १० फरवरी, १९६१ को हुई थी। समाचार-पत्रो के आधार पर इसका विवेचन किया गया है। देखें, नवभारत टाइम्स, दिल्ली, १२ फरवरी, १९६१ तथा हिन्दुस्तान टाइम्स (अंग्रेजी), १२ फरवरी, १९६१, नई दिल्ली।

के ही सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० फ्रेड होयल द्वारा प्रस्तुत हुआ था, उसका कड़ा विरोध प्रो० मार्टीन रीले ने अपने सिद्धान्त मे किया है।

विश्व का अन्त भी आएगा, इस सिद्धान्त की आधारशिला [1]उष्णता-गति-विज्ञान (थर्मो-डायनेमिक्स) का दूसरा नियम है। इस नियम के अनुसार प्रकृति की सभी मूलभूत प्रक्रियाए अप्रतिगामी है अर्थात् परिवर्तन की दिशा एक है। इसी विज्ञान के अनुसार विश्व-स्थित जड़-द्रव्यो की राशि मे भी परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन ह्रास की दिशा मे है। प्रकृति की सभी प्रक्रियाएं बता रही हैं कि विश्व की जड–राशि (शक्तिरूप एव द्रव्यरूप) शून्य आकाश मे विलीन हो रही है। इस प्रकार सारा विश्व मानो मृत्यु की ओर दौड रहा है। इस अवस्था को वैज्ञानिक परिभाषा मे[2] 'उत्कृष्ट ताप-अनुपात अन्त्रोपी' (Maximum Entropy) की अवस्था कहते हैं।' "आज से अरबो वर्ष पश्चात्

१ जिन प्रक्रियाओ मे उष्णता का परिवर्तन होता है, उन प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे उष्णता और गति का सम्बन्ध दर्शाने वाले नियमो का अध्ययन विज्ञान की इस शाखा मे किया जाता है, इसके मुख्य रूप से तीन नियम हैं।

(क) उष्णता और यान्त्रिक-कार्य परस्पर परिवर्तित हो सकते हैं। एक केलरी' उष्णता करीब $४\cdot१८ \times १०^{७}$ अर्ग यान्त्रिक-कार्य के समान होती है।

(ख) किसी भी ठण्डे पदार्थ से गर्म पदार्थ मे उष्णता का वहन अपने आप मे होने वाली किसी भी प्रक्रिया से नही हो सकता।

(ग) 'निरपेक्ष शून्य' अंश तापमान किसी भी पदार्थ का नही किया जा सकता।

२ उष्णता-सम्बन्धी गणनाओं की सुविधा के लिए और उष्णता-गति-विज्ञान-सम्बन्धी परिमाणो को स्पष्ट करने के लिए 'अन्त्रोपी' की कल्पना की गई है। अन्त्रोपी को समझने के लिए 'अन्त्रोपी मे परिवर्तन' की की परिभाषा दी जाती है। जब किसी भी निकाय की 'उष्णता-राशि' मे परिवर्तन होता है, तब उस निकाय द्वारा प्राप्त उष्णता-राशि को जिस 'निरपेक्ष तापमान पर वह उष्णता प्राप्त होती है, उसका भाग देने से, निकाय की 'अन्त्रोपी' के परिवर्तन की राशि प्राप्त होती है। किसी भी 'निकाय' की 'अव्यवस्था' की मात्रा का सूचन 'अन्त्रोपी' द्वारा होता है। किसी भी स्वतन्त्र निकाय की अन्त्रोपी किसी भी प्रकार के परिवर्तन मे घट नही सकती। यदि परिवर्तन की प्रक्रिया अप्रतिगामी हो तो अन्त्रोपी बढेगी और प्रतिगामी हो, तो अचल रहेगी।

जब यह अवस्था आएगी, तब विश्व की सभी प्रवृत्तियां स्थगित हो जाएगी। सारे विश्व का उष्णतामान एक ही हो जाएगा। तब न तो प्रकाश रहेगा, न जीवन और न उष्मा। केवल नैरन्तरिक और अटल स्थिरता या जडता ही रहेगी। काल स्वय समाप्ति को प्राप्त होगा। इस भवितव्यता से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ......सब कुछ, जो प्रकृति मे देखा जाता है, उससे इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि विश्व निश्चित रूप से अन्तिम अन्धकार और विनाश की ओर आगे बढ रहा है।"[1]

यह मन्तव्य हमे 'विश्व का अन्त है' इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है। कुछ वैज्ञानिको के अनुसार 'यदि विश्व का अन्त है, तो उसकी आदि भी होनी चाहिए,' यह सहज अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है। तात्पर्य किसी-न-किसी समय विश्व की सारी गतिविधिया प्रारम्भ हुई होगी, नक्षत्र व तारे प्रकाशित किए गए होगे और विश्व का यह विशाल आडम्बर अस्तित्व मे आया होगा।[2] डा० गेमो का सिद्धान्त और एबे लेमैत्रे का सिद्धान्त, जिनका विवेचन पहले हो चुका है, विश्व की आदि का एक निश्चित काल बताते है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ आधार मिले हैं, जो इस निष्कर्ष पर हमे पहुचाते हैं। इन आधारो मे रेडियो-क्रिया तत्त्व[3] (रेडियो एक्टीव एलीमेण्ट) की प्रक्रिया जो कि समय सूचित करती है, मुख्य है। रेडियो-क्रिया के विश्लेषण से यह अनुमान लगा है कि विद्यमान रेडियो-क्रिया तत्त्व करीब आज से ५० करोड वर्ष पूर्व अस्तित्व मे आए थे।[4] यह सख्या पहले २० करोड वर्ष

---

१ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ११०,१११,११४।

२. वही, पृ० ११४।

३. कुछ पदार्थ के अणु स्वाभाविक रूप से विद्युत् आवेशित कणो और विशिष्ट प्रकार की किरणो को उत्सर्जित करते रहते है। इस प्रकार की उत्सर्जन प्रक्रिया को 'रेडियो-क्रिया' कहते हैं और उन पदार्थो को 'रेडियो-क्रिया तत्त्व' कहा जाता है। ये जिन कणो को उत्सर्जित करते है, उनमे 'आल्फा' और 'बीटा' नामक कण होते हैं और 'गामा' नामक किरणो का उत्सर्जन होता है। इस प्रकार के उत्सर्जन के परिणामस्वरूप मूल तत्त्व का दूसरे तत्त्व मे परिणमन हो जाता है। उदाहरणार्थ—रेडियम नामक धातु रेडियो-क्रिया के कारण निश्चित काल के पश्चात् सीसे के रूप मे परिणत हो जाती है।

४. दी युनिवर्स, पृ० ६८।

थी,[1] किन्तु नवीन शोध के आधार पर यह गलत पाई गई है। इसके अतिरिक्त जड-द्रव्य का जड-शक्ति मे परिणमन भी खगोलवेत्ताओ को आकाशस्थ पृथ्वियो की आयु के बारे मे जानकारी देता है और इसके अनुसार विश्व की आदि करीब २० करोड वर्ष पूर्व हुई थी, जो कि पहले की भू-विज्ञान सख्या के साथ मेल खाती थी, किन्तु वर्तमान मे नही। फिर भी गेमो के द्वारा दी गई सख्या और भू विज्ञान के द्वारा निकाली गई सख्या परस्पर मे काफी मेल खाती है। यद्यपि हवल के द्वारा निर्णीत सख्या (हवल का अचल) १००० करोड वर्ष के करीब है।[2] यह सख्या गेमो के द्वारा निर्णीत एव खगोलवेत्ताओ के द्वारा अन्यथा निर्णीत सख्या से बहुत ही अधिक है। इस प्रकार विश्व की आदि को स्वीकृत करने वाले सिद्धान्तो मे भी विश्व की आदि कब हुई, इसके निर्णय मे ऐक्य नही है।

अनादि और अनन्त विश्व के सिद्धान्त

जो सिद्धान्त हमे शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त विश्व की बात सुझाता है, उसमे पाच महत्त्वपूर्ण भेद हैं—

१. स्वत· सचालित कम्पनशील (सेल्फ-पल्सेटिंग) विश्व।
२ अतिपरवलीय (हाइपरबोलिक) विश्व।
३. चक्रीय (साइक्लीक) विश्व।
४. स्थायी-अवस्थावान् (स्टेडी स्टेट) विश्व।
५ आइन्स्टीन का विश्व।

स्वत. सचालित कम्पनशील विश्व और अतिपरवलीय विश्व—स्वतः सचालित कम्पनशील विश्व का सिद्धान्त और अतिपरवलीय विश्व का सिद्धान्त विस्तारमान विश्व के सिद्धान्त पर आधारित है। आइन्स्टीन के द्वारा दिए गए समीकरण के हल मे फ्रीडमान ने दो प्रकार के विश्व की सभावना की है—एक[3] प्रकार के विश्व को हम 'कम्पनशील विश्व' कह सकते हैं। इस कल्पना के अनुसार विश्व का विस्तार जब एक उत्कृष्ट स्थिति तक पहुचता है, तब वह फिर सिकुडना शुरू होता है। सिकुडते हुए विश्व मे रहे हुए द्रव्य जब उत्कृष्ट घनता को प्राप्त होते हैं, तब वह पुनः विस्तृत होना आरम्भ हो जाता है, और इस प्रकार अनन्त काल तक यह क्रम चलता रहता है। अर्थात् सिकुडने और

---

१. देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ११४।
२ देखें, दी युनिटी ऑफ दी युनिवर्स, पृ० ७०।
३ दी युनिवर्स, पृ० ६८।

विस्तृत होने का यह 'कम्पन' अनन्त काल तक चलता रहता है।

इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन 'केलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी' के प्रोफेसर डा० आर० सी० टोलमेन (R C. Tolman) द्वारा स्वतन्त्र रूप से अन्य आधारो पर भी किया गया है।[1] डा० टोलमेन का सिद्धान्त 'उष्णता-गति-विज्ञान' के दूसरे नियम पर आधारित 'विश्व का अन्त है', इस सिद्धान्त के विरुद्ध निरूपण करता है। डा० टोलमेन ने यह बताया है कि कुछ निश्चित परिस्थितियो मे विश्व के विस्तार और सकोच की क्रिया प्रतिगामी हो सकती है अर्थात् 'विश्व की प्रक्रियाए एक ही दिशा मे हो रही हैं, यह मान्यता गलत हो सकती है। डा० टोलमेन ने साथ मे यह परिकल्पना भी की है कि यह सम्भव है कि विश्व मे कही नई जड-राशि उत्पन्न हो रही हो। इस परिकल्पना के आधार पर उन्होने यह प्रतिपादन किया है कि वर्तमान मे जो विश्व का विस्तार हो रहा है, कुछ काल पश्चात् विश्व पुन सिकुडना आरम्भ हो जायगा और इस प्रकार विस्तार-सकोच के चक्र शाश्वत काल के लिए चलते रहेंगे।

दूसरे प्रकार का विश्व अतिपरवलीय है; अर्थात् आज से अनन्त काल पूर्व विश्व अत्यन्त विस्तृतावस्था मे था, जब कि उसमे रहे हुए जड द्रव्यो की घनता बहुत ही कम थी। उसके बाद वह सिकुडना शुरू हुआ और तब तक सिकुडता रहा जब तक उत्कृष्ट घनता को प्राप्त न हुआ। उसके बाद वह पुन विस्तार की ओर अग्रसर होना आरम्भ हुआ है और अनन्त काल तक इसी तरह होता रहेगा। इन दोनो सम्भावनाओ के पक्ष मे और विपक्ष मे प्रमाण[2] मिलते हैं और वर्तमान स्थिति मे इनका निर्णय करना सम्भव नही है।

चक्रीय विश्व—स्वत सचालित कम्पनशील विश्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन दूसरे आधार पर भी स्वतन्त्रतया किया जा सकता है। इसका आधार है—आइन्स्टीन का 'द्रव्य और शक्ति की तुल्यता का सिद्धान्त' (प्रिंसिपल ऑफ इक्वीवेलेन्स ऑफ मास एण्ड एनर्जी)। जैसे पहले विवेचन हो चुका है कि उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम के अनुसार विश्व की जड-राशि का विनाश हो रहा है। [3]"विश्व का इस प्रकार करुण अन्त आ जाएगा, इस सिद्धान्त को

---

१. देखें, **फ्रॉम युक्लिड टू एडिंग्टन**, पृ० ४६, **दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन**, पृ० ११०।

२. विवेचन के लिए देखें, **दी युनिवर्स**, पृ० ७०, ७६।

३ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १११-११२; और दी **मिस्टीरियस युनिवर्स**, पृ० १३२-१३३।

कुछ वैज्ञानिक स्वीकार नही करते। इन वैज्ञानिको का कहना है कि विश्व एक ओर जहा विनाशोन्मुख हो रहा है, वहा यह सम्भावना भी हो सकती है कि किसी प्रकार से और कही-न-कही, उसका पुन निर्माण भी हो रहा होगा। आइन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की तुल्यता के सिद्धान्त' के आधार पर यह परिकल्पना की जा सकती है कि जो शक्ति विकिरण (रेडिएशन) के रूप मे आकाश मे लीन हो रही है, वही पुन इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य-रूप मे परिणत होकर, क्रमश ऋणाणु अणु और लघुतम द्रव्य-कण का रूप धारण करती है। ये स्वय एक दूसरे के साथ जुड कर स्थूल पदार्थ का रूप धारण करते है। ये स्थूल पदार्थ गुरुत्व-प्रभाव के कारण एक-दूसरे मे मिल-कर निहारिका, तारापुञ्ज आदि आकाशीय पिण्डो का निर्माण करते हैं, जो अन्त मे बडी-बडी आकाशगङ्गाओ के रूप मे विश्व मे फिर से अपना अस्तित्व धारण करते हैं। इस क्रम से विश्व का जीवन-क्रम शाश्वत काल के लिए चलता हो।" इन सम्भावनाओ को पुष्ट करने वाले कुछ प्रयोग भी प्रयोगशालाओ मे किए गए है। इन प्रयोगो ने बताया है कि जब गामा किरण के रूप मे प्रकाशाणु किसी भी द्रव्यकणो के साथ टकराते हैं, तब ऋणाणु और धनाणु (पाज़िट्रॉन) की उत्पत्ति होती है। थोडे काल पूर्व ही खगोलवेत्ताओ ने यह निश्चित किया है कि आकाश-स्थित हलके पदार्थो के अणु एक-दूसरे के साथ मिल कर रज और वायु के सूक्ष्म कणो के रूप मे परिणत होते रहते हैं। इससे आगे हावर्ड के डा० फ्रेड एल० ह्वीपले (Fred L Whipple) ने अपनी सुप्रसिद्ध 'रजोमेघ-कल्पना' (डस्ट-क्लाउड हाइपोथिसिस) मे यह बताया है कि आकाश-स्थित सूक्ष्म रजकण, ताराओ के प्रकाश के दबाव से एक-दूसरे के निकट आते हैं और एकीभूत हो जाते है। इसके परिणामस्वरूप कणो का एक समूह बनता है, जो कि बडा होने पर एक छोटे मेघ का स्वरूप धारण करता है। यह छोटा-सा रजोमेघ क्रमशः बढता हुआ अन्यान्य भौतिक प्रक्रियाओ के परिणामस्वरूप अन्तत प्रकाशमान ताराओ का स्वरूप धारण करता है। अपने सारे सौरमण्डल की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी, ऐसा ह्वीपले का मानना है।

इस प्रकार विकिरण से क्रमश समग्र विश्व के सभी सूक्ष्म-स्थूल पदार्थो की उत्पत्ति सिद्ध होने पर "हम एक स्वय सचालित कम्पनशील विश्व की कल्पना पर पहुचते है, जिस विश्व में अनन्त काल तक निर्माण और ध्वस, प्रकाश और तम, सघटन और विघटन, ताप और शीत, विस्तार और

सकोच आदि के चक्र स्वत चलते रहते हैं।"[1]

उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम मे और उक्त प्रकार के चक्रवत् चलने वाले विश्व मे परस्पर विरोध-सा दिखाई देता है। इस विषय मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स लिखते हैं, "यह कल्पना शक्य है कि विशेष प्रकार की आकाशीय स्थितियो मे जिनका हमे ज्ञान नही है, उष्णता-गति-विज्ञान का दूसरा नियम कार्यक्षम न हो।... " चक्रीय विश्व का सिद्धान्त अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त और मान्य है, इस विषय मे कोई सन्देह नही है।"[2]

इस प्रकार 'स्वय सचालित कम्पनशील विश्व' का सिद्धान्त विश्व को अनादि और अनन्त प्रमाणित करता है। वस्तुत तो डा० गेमो का सिद्धात भी अतिपरवलीय विश्व की कल्पना को स्वीकार करता है। इसलिए डा० गेमो ने भी वास्तविक दृष्टि से 'अनादि विश्व' को ही स्वीकार किया है। स्वय डा० गेमो के शब्दो मे देखे, तो "इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारा यह विश्व शाश्वत काल मे अस्तित्व मे था और अब से करीब ५० करोड वर्ष पूर्व तक वह समान रूप से सिकुड रहा था। आज से ५० करोड वर्ष पूर्व तक वह उस स्थिति को प्राप्त हुआ, जहा पर कि सकोच की उत्कृष्ट स्थिति आ जाने से विश्व की सभी जड-राशि केवल अणु के सूक्ष्म केंद्र के अन्दर समाहित हो गई।...... जिसके बाद मे वह पुन. विस्तृत होना शुरू हुआ है, जो अनन्त काल तक विस्तृत होता रहेगा।......"[3]

अनादि विश्व की कल्पना को स्वीकार करना ही पडेगा, इस बात को स्पष्ट करते हुए, 'विश्व की आदि' नामक प्रकरण के अन्त मे लिंकन बारनेट लिखते है, "विश्व के निर्माण का चिन्तन, विश्व की आदि को अनन्त भूत मे ढकेल देता है। यद्यपि वैज्ञानिको के द्वारा नाना सिद्धान्तो से तारापुज, तारा, तारा-रज, अणु और अणु के सूक्ष्म अवयवो का निर्माण भी गाणितिक विधि से समझाया गया है, फिर भी प्रत्येक सिद्धान्त को एक अनुमान या कल्पना का आधार लेना पडता है कि 'इससे पूर्व कुछ विद्यमान् था' चाहे वह 'कुछ' स्वतन्त्र-विहारी न्यूट्रोन के रूप मे हो, चाहे विकिरण के रूप मे हो अथवा अकल्पनीय 'विश्व-उत्पादन' के रूप मे हो, उसी मे से इस बहुरूपधारी

१ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टोन, पृ० ११३।
२ मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० १३३।
३ दी न्यु एस्ट्रोनोमी, पृ० २३।

आइन्स्टीन के एतद्विषयक विचार डा० एन० आर० सेन के शब्दो में पहले ही उद्धृत किये जा चुके है। वे लिखते है 'अपने विश्व की काल-विमिति अनन्त है और अनन्त भूत की ओर से अनन्त भविष्य की ओर चलती है।"[1] यही विचार व्यक्त करते हुए प्रो० ए० सी० बनर्जी, एम० ए० (केण्ट), एम० एस० सी०, एफ० आर० ए० एस०, आई० ई० एस० ने सन् १९३० में बम्बई साईन्स कान्फ्रेन्स मे 'विस्तारमान विश्व' (एक्सपाडिग युनिवर्स) के विषय मे दिए गए अपने भाषण मे कहा था "आइन्स्टीन के बेलनाकारीय विश्व मे काल-विमिति अवक्र है, अत वह अनन्त तक जा सकती है।"[2] एडिंग्टन काल की अनन्तता को बताते हुए लिखते हैं—"विश्व क्षेत्र-विमितियो मे गोले की तरह बद्धाकार है, किन्तु काल-विमिति मे वह दोनो ओर अबद्ध हैं। क्षेत्र की दृष्टि मे विश्व वक्र है—अर्थात् 'पूर्व' ही अन्तत 'पश्चिम' हो जाता हैं, किन्तु काल की दृष्टि से वक्र नही है अर्थात् 'भूत' कभी 'भविष्य' नही हो सकता।"[3]

इस समग्र विवेचन के उपसहार मे हम कह सकते हैं कि विश्व-आयु-सम्बन्धी वैज्ञानिको के द्वारा अब तक दिये गए सिद्धान्तो मे अधिकाश सिद्धान्त एक या दूसरे रूप मे, विश्व का अस्तित्व अनन्त काल मे है', इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। दूसरा विचार यह है कि विश्व की आदि किसी निश्चित समय पूर्व हुई और किसी समय इसका अन्त भी हो जाएगा। यह विचार आधुनिक वैज्ञानिको के द्वारा अल्प आश्रित रहा है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिको ने भी विश्व की आदि का काल भिन्न-भिन्न बताया है।

'काल और क्षेत्र सान्त है या अनन्त ?' इस प्रश्न के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक जगत् मे जो अनिश्चितता है, उसकी स्पष्ट झाकी हमे प्रो० हेन्री मार्गेनो के 'आधुनिक विज्ञान के दर्शन' पर लिखी हुई पुस्तक से मिलती है[4]—"क्या काल और आकाश अनन्त है ? आज का विज्ञान, इस अधिकतम रोचक प्रश्न पर दुर्भाग्यवश अनिश्चित रहा है। इसका कारण यही है कि अब तक ds^2 नामक 'आव्यूह' (मेट्रिक्स) के विषय मे अनिश्चितता है। इस सज्ञा के गाणितिक प्रतिपादन के आधार पर काल और आकाश की सान्तता और अनन्तता

---

१ रिलेटिविटी पर डा० सेन का निबन्ध, देखें **प्रोसिडिंग्स ऑफ दी फिजिक्स सेमिनार, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जुलाई, १९२५।**

२. देखें, **कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ५५**

३ **दी नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड, पृ० ८३।**

४. **दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटी, पृ० १६३।**

का आधार है ।" अब तक किए गए प्रतिपादनो मे से सबसे अधिक सफल वह प्रतिपादन है, जो सान्त आकाश-काल का प्रतिपादन करता है । किन्तु कुछ वैज्ञानिक सान्त आकाश और अनन्त काल का प्रतिपादन करते है, जबकि कुछ दोनो को सान्त स्वीकार करते है । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मीन्काउस्की का आव्यूह, जो आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे प्रयुक्त है, दोनो को अनन्त प्रतिपादित करता है ।"



४८१ ।

का, १-३ ।

—वही, १-४२ ।

विश्व का निर्माण हुआ है।"[1]

इस प्रकार अब तक विवेचित सिद्धान्त प्राय एक या दूसरे रूप से इस तथ्य को तो स्वीकार करते ही हैं कि यह विश्व शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त है।

स्थिरावस्थावान् विश्व—नव्यतम प्रचलित सिद्धान्तो मे एक सिद्धान्त, जो 'स्थिरावस्थावान् विश्व' की कल्पना करता है, का विवेचन करना भी बहुत उपयोगी होगा। यह सिद्धान्त भी शाश्वत विश्व के विचार को ही स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त फ्रेड होयल, थोमस गोल्ड आदि वैज्ञानिको के द्वारा रखा गया है। इसके अनुसार यद्यपि विश्व विस्तृत हो रहा है, फिर भी उसमे नई जड-राशि उत्पन्न हो रही है, जिसके परिणामस्वरूप विश्व स्थित जड-राशि की महति बढती है, किन्तु विश्व-विस्तार के कारण नए जड की उत्पत्ति होने पर भी, विश्व मे जड की घनता स्थिर रह जाती है।[2]

इस सिद्धान्त को समझाते हुए फ्रेड होयल लिखते हैं, "विश्व-विस्तार के सम्बन्ध मे एक प्रश्न उठता है कि यदि दूरस्थ आकाशगङ्गाए एक-दूसरे से दूर जा रही हैं, तो आकाश अधिक से अधिक रिक्त क्यो नही होता ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार यह है कि विश्व मे नई आकाश-गङ्गाए, आकाशगङ्गाओ के नये गुच्छ (क्लस्टर्स) निरन्तर बन रहे है। उनका निर्माण विस्तारमान आकाशगङ्गाओ के दूरीकरण से जनित रिक्ताकाश को पुन भर देता है। परिणामस्वरूप आकाश की स्थिति जैसी पहले थी, वैसी रह जाती है।"[3]

इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार काल-क्रम के साथ विश्व की स्थूल आकृतियो मे परिवर्तन नही आता—अर्थात् स्थिर अवस्था रहती है। केवल आकाशगङ्गा अथवा आकाशगङ्गाओ के गुच्छो मे परिवर्तन आता है। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कुछ एक विस्मयोत्पादक तथ्य सामने आए हैं।[4]

१. विश्व अनादि और अनन्त है (काल की दृष्टि से)।

२. आकाश और काल अनन्त हैं।

---

१. दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ११५।

२. दी युनिटी ऑफ दी युनिवर्स, पृ० १४३।

३. इसके लिए देखें, 'दी युनिवर्स' पुस्तक मे फ्रेड होयल द्वारा लिखित निबन्ध, 'दी स्टैडी स्टेट युनिवर्स' पृ० ७७।

४ वही, पृ० ७७।

३ समस्त आकाश मे निरन्तर रूप से नया जड उत्पन्न हो रहा है।

इसी सिद्धान्त को गणित के आधार पर रखा गया है और आइन्स्टीन के विश्व-विख्यात समीकरणो का उपयोग इसमे हुआ है। इस सिद्धान्त के पक्ष एव प्रतिपक्ष मे[1] प्रमाण मिलते है। उद्विकासी (इवोल्युशनरी) विश्व-सिद्धान्त' के प्रतिपादक डा० ज्योर्ज गेमो ने इस सिद्धान्त को अत्यन्त सदिग्ध बता कर, इसके विरोध मे अनेक तर्क रखे हैं, जबकि इस सिद्धान्त के व्याख्याताओ ने डा० गेमो के विश्व-सिद्धान्त के प्रतिपक्षी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

प्रो० मार्टीन रीले का सिद्धान्त, जो कि नव्यतम विश्व-सिद्धान्त है, होयल के 'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त का विरोधी है। प्रो० मार्टीन के अनुसार स्थायी-अवस्थावान् सिद्धान्त का यह निरूपण कि 'विश्व मे नये उद्‌जन-परमाणु उत्पन्न हो रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप नये ताराओ का और आकाशगङ्गाओ का निर्माण हो रहा है,' गलत है। यद्यपि प्रो० रीले का सिद्धान्त विस्तारमान-विश्व को स्वीकार करता है, फिर भी रेडियो-दूरवीक्षण यन्त्र के निरीक्षण के आधार पर 'नये जड की उत्पत्ति' को स्वीकार नही करता। प्रो० रीले के अनुसार यह निरीक्षण बताता है कि पृथ्वी के समीपवर्ती स्थानों की अपेक्षा मे पृथ्वी से दूर स्थित भागो मे जड की राशि अधिक घनता मे है और यह तथ्य 'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' के साथ मेल नही खाता, प्रत्युत उसका खण्डन करता है। प्रो० रीले के द्वारा किए गए खण्डन को प्रो० होयल ने स्वीकार नही किया है।[2]

इस प्रकार से वर्तमान मे ऐसा एक भी सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् मे नही है, जो कि सर्वमान्य हो।

आइन्स्टीन का विश्व—यदि विस्तारमान विश्व के सिद्धान्त को स्वीकार न करें, तो भी आइन्स्टीन के द्वारा दिए गए विश्व-सिद्धान्त के आधार पर विश्व अनादि और अनन्त सिद्ध होता है। जैसे कि रिचार्ड ह्यूजिस (Richard Hughes) अपने **फिजिक्स, एस्ट्रोनोमी एण्ड मेथेमेटिक्स** नामक लेख मे लिखते हैं "इस प्रकार काल-विमिति क्षेत्र-विमिति की तरह पूर्ण वर्तुल (बद्ध परिमिति) मे समाहित नही होता है। अर्थात् हम भविष्य काल मे चाहे जितने दूर चले जाएं, फिर भी हम भूत काल को प्राप्त नही कर सकते। तथापि यह कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है कि काल की आदि है और अन्त भी।"[3]

---

१ विस्तृत वर्णन के लिए देखें, वही, पृ० ८५, ८६।

२ देखें, **हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली**, दिल्ली, १२ फरवरी, १९६१।

३ **कोसमोलोजीओल्ड एण्ड न्यू**, पृ० २२९, मे उद्धृत।

: ३ :

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

विश्व क्या है ?

द्रव्य-मीमांसा

जैन दर्शन मे 'विश्व' के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'लोक' का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है—जो देखा जाता है, वह लोक है।[1] यह 'लोक' की केवल स्थूल परिभाषा है। 'लोक' की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है .[2] "जिसमे छः प्रकार के द्रव्य हैं, वह लोक है।" इन छः द्रव्यो के नाम इस प्रकार हैं·

१. धर्मास्तिकाय	:	गति-सहायक द्रव्य
२. अधर्मास्तिकाय	:	स्थिति-सहायक द्रव्य
३. आकाशास्तिकाय	.	आश्रय देने वाला द्रव्य
४ काल	:	समय
५ पुद्गलास्तिकाय	.	मूर्त जड पदार्थ (Matter)
६. जीवास्तिकाय	·	चैतन्यशील आत्मा (Soul)

इन छः द्रव्यो की सह-अवस्थिति 'लोक' है। इस प्रकार की द्रव्य-मीमासा जैन दर्शन की अपनी विशेपता है। इन छः द्रव्यो मे से काल को

---

१ जो लोक्कइ से लोए।

—भगवती सूत्र, ५-९-२२५,

नि यो लोक्यते विलोक्यते प्रमाणेन स लोको—लोकशब्दो वाच्यो भवतीति। (—वृत्ति)

२ षड्-द्रव्यात्मको लोक ।

स सेमिनार —श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-८,

२. धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल-जन्तवो।

३ दी नेचर एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि ॥

४ दी नेचर &. —उत्तराध्ययन सूत्र, २८-७।

छोडकर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। 'अस्तिकाय' का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी[1]—सावयवी है। 'काल' द्रव्य के प्रदेश नही होते; अतः उसे अस्तिकाय नही कहा गया है। इस कारण से कही कही लोक की चर्चा करते हुए लोक को 'पचास्तिकायरूप' बताया गया है।[2] सक्षेप मे जिसको हम 'विश्व' (युनिवर्स) की सज्ञा देते है, वह 'लोक' है।

'द्रव्य' की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।"[3] अर्थात् द्रव्य वह है, जिसमे गुण और पर्याय (अवस्थाए) होते हैं। प्रत्येक द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म रहते हैं एक तो सहभावी धर्म (गुण), जो द्रव्य मे नित्य रूप से रहता है, दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय), जो परिवर्तनशील होता है। गुण भी दो प्रकार के हैं · सामान्य गुण और विशेप गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो किसी भी द्रव्य मे निश्चित रूप से होते हैं। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशवत्त्व, और अगुरु-लघुत्व।[4] ये छ गुण सामान्य गुण है, अत प्रत्येक द्रव्य मे ये गुण होते ही हैं। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं, जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो अर्थात् द्रव्य सदा विद्यमान रहे—कभी नष्ट न हो। वस्तुत्व का अर्थ होता है—द्रव्य का सदा किसी-न-किसी प्रकार की अर्थक्रिया करते रहना। प्रत्येक द्रव्य अन्य पदार्थो के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धो से जुडता है और अन्य पदार्थों के द्वारा प्रभावित भी होता रहता है। किन्तु इन क्रिया-प्रतिक्रियाओ मे भी द्रव्य 'वस्तुत्व' गुण के कारण अपनेपन को नही छोडता। 'द्रव्यत्व' गुण वह है, जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायो को धारण करता है। प्रति-क्षण प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती रहती है। इन अवस्थाओ के परिवर्तन

---

१ 'प्रदेश' शब्द का अर्थ है, द्रव्य का 'निरंश अवयव'।
निरश प्रदेश।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-२३।

२. किमिय भन्ते! लोएत्ति पवुच्चइ ?
गोयमा! पचत्थिकाया, एस ण एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ, तजहा—धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए।
—भगवती सूत्र, १३-४-४८१।

३. गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३।

४ आद्योऽस्तित्वद्रव्यत्वप्रमेयत्वप्रदेशवत्त्वाऽगुरुलघुत्वादि।
—वही, १-४२।

से द्रव्य मे 'उत्पत्ति और विनाश' का क्रम चलता रहता है। 'प्रमेयत्व' गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। जो प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) का विषय बन सकता है, वह 'प्रमेय' है। प्रदेशवत्व गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशो का माप होता है। प्रत्येक द्रव्य का विस्तार उसके प्रदेशवान् होने के कारण होता है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य मे अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—विखर कर अलग-अलग नही हो जाते। इसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के 'स्वरूप' की अविचलता होती है।

इस प्रकार से छ 'सामान्य गुण' प्रत्येक द्रव्य मे होते हैं। विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने होते हैं, जिनकी चर्चा स्वतन्त्र रूप से न करते हुए द्रव्यो के वर्णनान्तर्गत करना उपयुक्त होगा।

आकाश · लोक और अलोक

ऊपर बताये गये छ द्रव्यो मे तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय आकाश (स्पेस) का सूचक है। आकाशास्तिकाय को सक्षेप मे आकाश भी कहा जा सकता है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "वह द्रव्य, जो अन्य सब द्रव्यो को अवगाह अथवा आश्रय देता है, उसको 'आकाश' कहते हैं।"[1] जब भगवान् महावीर के शिष्य गौतम ने उनसे प्रश्न किया—

"भगवन् ! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है ?" तब भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—

"गौतम ! आकाश स्तिकाय जीव और अजीव द्रव्यो के लिए भाजन-भूत है। अर्थात् आकाश नहीं होता, तो ये जीव कहा होते ? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहा व्याप्त होते ? काल कहा बरतता ? पुद्गल का रगमच कहा बनता ? यह विश्व निराधार ही होता।"[2]

आकाश वास्तविक द्रव्य है, अत द्रव्य मे बताये गये छ सामान्य गुण

---

१. अवगाह लक्खणेण आगासत्थिकाए।

—भगवती सूत्र, १३-४-४८१।

अवगाहलक्षण आकाश ।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-६।

२ आगासत्थिकाएण भन्ते ! जीवाण अजीवाण य किं पवत्तति ?

गोयमा ! आगासत्थिकाएण जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए।

—भगवती सूत्र, १३-४-४८१।

आकाश मे भी होते हैं। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है अर्थात् उसकी रचना मे सातत्य है। क्षेत्र की दृष्टि से आकाश अनन्त और असीम माना गया है। यह सर्वव्यापी है और इनके प्रदेशो की सख्या अनन्त[1] है। काल की दृष्टि से आकाश अनादि और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है। स्वरूप की दृष्टि से आकाश अमूर्त है—वर्ण, स्पर्श, गध आदि गुणो से रहित है अर्थात् अभौतिक है—भौतिक अथवा जड (मैटर) द्रव्य से भिन्न है; चैतन्य-रहित होने से अजीव है, गति रहित होने से अगतिशील है।

समस्त आकाश-द्रव्य अन्य द्रव्यो के द्वारा अवगाहित नही है, अत. एक होने पर भी, अन्य द्रव्यो के अस्तित्व के कारण वह दो भागो मे विभाजित हो जाता है -

१ लोकाकाश।

२. अलोकाकाश।[2]

आकाश का वह भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्-गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पाच द्रव्यो द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहा आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नही होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या असख्यात[3] है, अलोकाकाश के प्रदेशो की सख्या अनन्त है। लोकाकाश एक, अखण्ड, सान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम—अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारो ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

जब महावीर को उनके प्रमुख शिष्य गौतम द्वारा पूछा गया कि "भगवन् ! अलोक का सस्थान (आकार) कैसा है?" भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम ! शुषिर (खाली) गोले मे रही हुई पोलाई जैसा

---

१ देखें परिशिष्ट—३।

२ गोयमा ! दुविहे आयासे पण्णत्ते तजहा—लोयागासे य अलोयागासे य।

—भगवती सूत्र, २-१०-१२०।

लोकोऽलोकश्च।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-७।

३. देखें, परिशिष्ट—२।

भवेदभ्रास्तिकायस्तु लोकालोकभिदा द्विधा।

लोकाकाशास्तिकाय स्यात्तत्राऽसख्यप्रदेशक ॥

—लोकप्रकाश २-२५।

उसका आकार है।"[1] अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पाच द्रव्यो को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र मे एक द्वीप के समान है। यहा पर यह बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि आकाश—लोक और अलोक—एक और अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यो के अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते हैं। अलोकाकाश का अस्तित्व तर्क के आधार पर निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है–लोकाकाश अथवा सक्रिय विश्व के अस्तित्व के विषय मे कोई सन्देह नही करता, क्योकि वह इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्षतया जाना जाता है और सबके द्वारा ग्राह्य है। किन्तु यदि लोकाकाश का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो अलोकाकाश का अस्तित्व स्वत प्रमाणित हो जाता है, क्योकि तर्कशास्त्र के अनुसार[2] जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है। 'घट' शब्द विधि-वाचक है, अघट निषेधवाचक है। इसी तरह अलोकाकाश लोकाकाश का निषेध-वाचक है—विपक्ष है, अत अलोकाकाश का अस्तित्व लोकाकाश के साथ स्वीकृत हो ही जाता है।

धन और ऋण ईथर

छ द्रव्यो मे से प्रथम दो द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को हम क्रमशः धन ईथर[3] (पाजिटिव ईथर) और ऋण ईथर (नेगेटिव ईथर)

---

१. अलोएण भन्ते ! किं सठिए पण्णत्ते ?
गोयमा ! झुसिरगोलसठिए पण्णत्ते।
—भगवती सूत्र, ११-१०-४२०।

स मात्यलोकाकाशेन परीतोऽतिगरीयसा।
गोलक मध्यशुषिर महान्तमनुकुर्वता॥
—लोकप्रकाश. २-२६।

२ यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेय, स स सविपक्ष। यथा घटोऽघट विपक्षक। यश्च लोकस्य विपक्ष सोऽलोक।
—न्यायावतार,

३. यह शब्द-प्रयोग श्री जे० एस० झवेरी द्वारा सर्व प्रथम हुआ है। देखे, **'जैन सिद्धान्त दीपिका'** पर श्री जे० एस० झवेरी की अंग्रेजी व्याख्या:
जैन भारती, वर्ष ८ अङ्क ९, पृ० १३६।

कह सकते हैं। ये दोनो तत्त्व धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित विश्व-सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्मास्तिकाय वह तत्त्व है, जो लोक मे सभी पदार्थों की सभी प्रकार की गति मे असाधारण रूप से सहाय्य करता है।[1] दूसरे शब्दो मे वह गति का असाधारण माध्यम (मीडियम) है। अधर्मास्तिकाय का लक्षण है—सब पदार्थों की स्थिति मे—अगति मे असाधारण रूप से सहाय्य करना।[2] केवल 'ईथर' शब्द 'गति के माध्यम' के लिए प्रयुक्त होता है। गति और स्थिति को यदि हम अभिसमयानुसार 'धन' और 'ऋण' मान लें, तो धर्मास्तिकाय को धन ईथर और अधर्मास्तिकाय को ऋण ईथर की सज्ञा दी जा सकती है। इन तत्त्वो के विषय मे गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर इस प्रकार हुए थे

गौतम—हे भगवान् धर्मास्तिकाय (गति-सहायक द्रव्य) से जीवो को क्या लाभ होता है ?

भगवान्—हे गौतम ! धर्मास्तिकाय न होता तो गमनागमन कैसे होता ? शब्दों की तरगें कैसे फैलती ? आखो का उन्मेष कैसे होता ? मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाए कैसे होती ? यह विश्व अचल ही होता। विश्व के सभी चल-भाव धर्मास्तिकाय की सहायता से ही होते हैं। 'गति' मे सहाय करना धर्मास्तिकाय का लक्षण है।[3]

अधर्मास्तिकाय के विषय मे—

गौतम—भगवन् ! अधर्मास्तिकाय (स्थिति-सहायक द्रव्य) से जीवो को क्या लाभ होता है ?

भगवान्—गौतम ! अधर्मास्तिकाय नही होता, तो सब प्रकार के स्थिर-भाव—खडा रहना, बैठना, सोना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, शरीर

---

१ गत्यसाधारणसहायो धर्म.।

—जैन सिद्धान्त दीपिका १-४।

२ स्थित्यसाधारणसहायोऽधर्मः।

—वही, १-५।

३. धम्मत्थिकाएण भते ! जीवाण किं पवत्तति ?

गोयमा ! धम्मत्थिकाएण जीवाण आगमणगमण भासुम्मेस मणजोगा वइजोग, कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तन्ति, गइलक्खणे धमत्थिकाए।

—भगवती सूत्र, १३-४-४८१।

को निस्पन्द बनाना, आखो का निमेष होना आदि—से कैसम्भव होते ? यह विश्व गतिमान ही होता । जो स्थिर है, उन सबका आलम्बन अधर्मास्तिकाय है । स्थिति मे सहायता करना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है ।[१]

ये दोनो ईथर द्रव्य की दृष्टि मे एक, अखण्ड और स्वतन्त्र वास्तविक द्रव्य हैं । क्षेत्र की दृष्टि मे ये केवल लोकाकाश मे व्याप्त हैं, अलोकाकाश मे दोनो का ही अस्तित्व नही माना गया है, अत. जितनी 'लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या है, उतनी ही इनके प्रदेशो की सख्या है–अर्थात् 'असख्यात' हैं । काल की दृष्टि मे ये अनादि और अनन्त हैं अर्थात शाश्वत हैं । स्वरूप की दृष्टि से ये अभौतिक है, अमूर्त हैं, अगतिशील है, चैतन्य-रहित हैं ।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व अधिकाश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप मे स्वीकार करते हैं; जबकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व केवल जैन दर्शन ही स्वीकार करता है । जैन आगमो मे इनके लिए तर्क पर आधारित प्रमाण दिये गये हैं । कार्य-कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं—उपादान और निमित्त । उपादान कारण वह है, जो स्वय कार्यरूप मे परिणत हो जाए । निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने मे सहायक हो । यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमे उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वय है । किन्तु निमित्त कारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमे कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जिसकी सहायता पदार्थ की गति मे अनिवार्य हो । यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाये, तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा आदि की) गति मे कौनसा निमित्त कारण है ? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणो की परम्परा चलती ही जाती है और 'अनवस्था दोष' (Regresus ad infinitum) की उत्पत्ति हो जाती है । इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जो स्वय गतिमान् न हो ।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यो को निमित्त कारण के रूप मे माना

---

१ अहम्मत्थिकाएण जीवाण किं पवत्त नि ?

गोयमा ! अहम्मत्थिकाएण ,जीवाण ठाणनिसीयणतुयट्टण मणस्स य एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्त ति, ठाणलक्खणेण अहम्मत्थिकाए ।

—भगवती सूत्र, १३- -४८१ ।

जाता है, तो भी यह युक्त नही होता है, क्योकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नही है। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप मे जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पडती है, जो—

१. स्वय गतिशून्य हो,

२ समस्त लोक मे व्याप्त हो,

३. दूसरे पदार्थो की गति मे सहायक हो सके।

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहा यदि धर्मास्तिकाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश द्रव्य को ही इन लक्षणो से युक्त माना जाए, तो भी एक बडी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योकि यदि आकाश द्रव्य ही पदार्थो की गति में सहायक हो, तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान् पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश मे शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणामस्वरूप अनन्त आत्माए और अनन्त जड़ पदार्थ अनन्त आकाश मे निरकुशतया गति करने लग जाते है और उनका परस्पर सयोग होना और व्यवस्थित, सान्त और निर्वासित विश्व के रूप मे लोकाकाश का होना, असम्भव हो जाता है। किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है, विश्व एक क्रमबद्ध ससार (Cosmos) के रूप मे दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर (Chaos) की तरह। ये तथ्य हमे इस निर्णय पर ले जाते हैं कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतन्त्र नियम पर है। परिणामस्वरूप हमे यह निर्णय करना पडता है कि पदार्थों की गति-अगति मे सहायक आकाश नही, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतन्त्र द्रव्य है।

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप मे धर्म और अधर्म द्रव्यो की उपधारणा (पोस्च्युलेशन) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन मे भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नही मिलता। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है "लोक सीमित है और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है। इसलिए पदार्थों की और प्राणियो की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व होना चाहिए—यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का अस्तित्व ही नही रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।"[१] लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है, अत इसके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत

---

१ पचास्तिकायसार, श्लोक १००-१०१।

होने चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नहीं हो सकता; अत ऊपर बताये गए छ द्रव्यो मे से ही विभाजक तत्त्व हो सकते है। यदि हम आकाश को ही विभाजक मानें, तो यह उपयुक्त नही होगा, क्योंकि आकाश स्वय विभज्यमान है, अतः वह विभाजन का हेतु नही बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्त्व माना जाए तो भी तर्क-सगत नही होता, क्योकि काल वस्तुत (निश्चय दृष्टि से) तो जीव और अजीव की पर्याय मात्र है।[1] यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र मे ही विद्यमान है, जबकि नैश्चयिक काल लोक और अलोक दोनो मे है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं, अत ये विभाजक तत्त्व के योग्य नही है। इस प्रकार छ द्रव्यों मे से केवल दो द्रव्य शेष रह जाते है, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सकें। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते हैं। जहा-जहा ये दो विद्यमान हैं, वहा-वहा जीव और पुद्गल गति करते है और स्थिर रहते हैं। जहा इनका अस्तित्व नही है, वहा किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नही है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है—"धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो, तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने ?"[2]

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति-निमित्तक और लोक-अलोक-विभाजक द्रव्यो के रूप मे स्वीकार किए गए है। उक्त समग्र विवेचन को सक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है धर्मास्तिकाय (धन ईथर), अधर्मास्तिकाय (ऋण ईथर), आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छ द्रव्यो से बना हुआ यह लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमे ईथरो के अभाव के कारण कोई भी जड पदार्थ या जीव गति करने मे या ठहरने मे समर्थ नही है।

काल द्रव्य

छ द्रव्यो मे 'काल-द्रव्य' एक ऐसा तत्त्व रहा है, जिसके स्वरूप के विषय मे सभी जैनाचार्य एकमत नही रहे है, जबकि आकाश, धर्म और अधर्म—इन

---

१ देखे, पृ० ८६।

२ तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ॥
—न्यायावतार।

तीन द्रव्यों के स्वरूप के विषय मे विभिन्न जैनाचार्य प्राय एकमत हैं। 'काल' शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं, किन्तु जैन दर्शन की द्रव्य-मीमासा मे प्रयुक्त 'काल' शब्द का पर्यायवाची 'समय' है। वैसे 'समय' का पारिभाषिक अर्थ जैन दर्शन के अनुसार 'काल का अविभाज्य अ श' है। किन्तु सामान्य व्यवहार मे प्रयुक्त 'समय' शब्द 'काल' का ही सूचक है। जहा द्रव्यो की गणना आई है, वहां काल को भी गिना गया है। जहा अस्तिकायो का वर्णन है, वहा काल को नही गिना गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा इस विषय मे तो एकमत हैं ही कि 'काल' अस्तिकाय नही है। 'अस्तिकाय' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है: "जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म तथा आकाश—ये पाचो द्रव्य विद्यमान हैं। इसलिए इनको 'अस्ति' (है) ऐसा कहा गया है और ये 'काय' के समान बहु प्रदेशो को धारण करते हैं, इसलिए इनको 'काय' कहते हैं। 'अस्ति' तथा 'काय' दोनो को मिलाने से 'अस्तिकाय' होता है।"[1] अर्थात् ये पाच द्रव्य केवल अस्तित्ववान ही नही हैं या केवल प्रदेश-समूह ही नही है, किन्तु दोनो ही हैं; अत: 'अस्तिकाय' सज्ञा से बताए गए हैं। इनके प्रदेशो की विद्यमानता के कारण ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध[2] के रूप मे हैं और विस्तार इनका सहज गुण हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धो के परमाणु जितने काल्पनिक विभाग किए जाए, तो आकाश के अनन्त और शेष तीनो के असख्य होते हैं। ये विभाग 'प्रदेश' कहलाते हैं। इस प्रकार आकाश अनन्त प्रदेशात्मक और धर्म, अधर्म और एक जीव असख्यात प्रदेशात्मक है। पुद्गल के परमाणु जब जुडते हैं, तब स्कन्धो का निर्माण होता है। दो परमाणुओ के मिलने से द्विप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बनता है यावत् अनन्त परमाणुओ के जुड़ने से अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध बनता है। इस प्रकार 'काल' को छोड कर शेष पाचो ही द्रव्यो के 'प्रदेश' होते हैं। केवल काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व मे होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है—नष्ट हो चुका है और अनागत (भविष्य) समय अनुत्पन्न है। वर्तमान समय 'एक' होता है, इसलिए इसका तिर्यक्-प्रचय नही होता, अर्थात् काल 'अस्तिकाय' नही है।

काल की वास्तविकता के विषय मे जैनाचार्यो मे परस्पर मतभेद रहा है। श्वेताम्बर-परम्परा मे आचार्यो ने काल के दो भेद कर दिए हैं. व्यावहा-

---

१. बृहद् द्रव्य सग्रह, गाथा २४।

२. तीनो विमिति मे विस्तार होने से 'तिर्यक्-प्रचय' कहलाता है। केवल एक ही वैमितिक विस्तार 'ऊर्ध्व-प्रचय' कहलाता है।

रिक काल और नैश्चयिक काल। नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यो के परिवर्तन का हेतु है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यो मे प्रत्येक समय मे जो परिणमन होता रहता है—पर्याय बदलती रहती है, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से है। दूसरे शब्दो मे, नैश्चयिक काल को जीव और अजीव की पर्याय कहा गया है। इस अभिमत की पुष्टि आगम के इस कथन से की जाती है कि जब भगवान् महावीर से उन के शिष्य गौतम द्वारा प्रश्न पूछा गया—

"हे भगवन् ! काल किसको कहते हैं ?"

तब भगवान् महावीर ने उत्तर मे कहा—

"हे गौतम ! जीव को भी और अजीव को भी।"[१]

जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अन्तर्गत ही है; अतः जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है, तब वह 'नैश्चयिक काल' कहलाता है, अत. वास्तविक काल 'नैश्चयिक काल' ही माना गया है। दूसरी ओर काल का जब व्यवहार नय की दृष्टि से निरूपण होता है, तब वह 'व्यवहारिक काल' कहलाता है। व्यवहारिक काल को 'द्रव्य' कहा गया है। काल को व्यवहार-दृष्टि से 'द्रव्य' मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार अथवा लक्षण व्यवहार मे अत्यन्त उपयोगी हैं और जो 'उपकारक' होता है, उसको द्रव्य कहा जा सकता है।[२] जिन उपकारो के कारण काल 'द्रव्य' की कोटि मे गिना जाता है, वे मुख्यतया पाच हैं · वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

'वर्तना' का अर्थ है—वर्तमान रहना—किसी भी पदार्थ के 'वर्तमान रहने' का अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व कुछ 'अवधि' तक होता है। यह 'अवधि' शब्द काल का ही सूचक है। यद्यपि 'काल' किसी भी द्रव्य को अस्तित्व की अवस्थिति प्रदान नही करता, फिर भी जिस अवधि तक पदार्थ रहता है, वह काल के उन सब क्षणो की सूचक है, जिसमे पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है। 'वर्तना' की तरह 'परिणमन' को भी 'काल' के बिना नही समझाया जा सकता। जब किसी पदार्थ मे परिणमन होता है, तब स्वाभाविक रूप से उस

---

१ किमय भन्ते ! कालोति पवुच्चइ ?
गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव।

—भगवती सूत्र

२ उपकारक द्रव्यम्।

परिवर्तन की कालावधि का सूचन हमें होता है। 'क्रिया' मे गति आदि का समावेश होता है। 'गति' का अर्थ है—आकाश प्रदेशो मे क्रमशः स्थान-परिवर्तन करना। अत किसी भी पदार्थ की गति मे स्थान-परिवर्तन का विचार उसमे लगने वाले काल के साथ किया जाता है। इसी प्रकार, अन्य क्रियाओं मे भी समय का व्यय होता है। परत्व और अपरत्व अर्थात् 'पहले होना' और 'बाद मे होना' अथवा 'पुराना' और 'नया', ये विचार भी काल के बिना नही समझाये जा सकते। इस प्रकार व्यवहार मे वर्तना आदि को समझने के लिए 'काल' को 'द्रव्य' माना गया है।

व्यवहारिक काल 'गणनात्मक' है। काल के सूक्ष्मतम अंश समय से लेकर पुद्गल-परावर्तन तक के अनेक मान व्यवहारिक काल के ही भेद हैं।[1] इनमे घडी, मुहूर्त, अहोरात्र, मास, वर्ष आदि (अथवा सैकिण्ड, मिनिट, घण्टा आदि) के भेद भी समाविष्ट हैं। सूर्य-चन्द्र की गति के आधार से इनका माप किया जा सकता है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार विश्व के सब स्थानो मे सूर्य-चन्द्र की गति नही होती है। एक मर्यादित क्षेत्र को छोडकर शेष स्थानो मे जहा ये आकाशीय पिण्ड अवस्थित हैं, वहा दिन, रात्रि आदि काल-मान नही होते। इसलिए यह माना गया है कि व्यवहारिक काल केवल 'समय क्षेत्र' तक सीमित है।[2]

इस समग्र विवेचन का साराश यही है कि काल स्वय मे कोई स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' नही है, किन्तु 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं' का ही

---

१. देखे, परिशिष्ट—२।

२ जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार विश्व के एक भाग 'तिर्यक्-लोक' मे असख्य द्वीप-समुद्र हैं। वे सब एक-दूसरे को परिवेष्टित करते हुए वलयाकार मे हैं। सबके मध्य मे जम्बूद्वीप है और अन्त मे 'स्वयभूरमण' नामक समुद्र है। इसके बीच मे द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप; इस प्रकार का क्रम चलता रहता है। जम्बूद्वीप का व्यास १ लाख योजन है और उसके बाद मे प्रत्येक वलय का बाहुल्य उत्तरोत्तर दुगुना-दुगुना है। जम्बूद्वीप के बाद क्रमशः लवणसमुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और पुष्करद्वीप हैं। पुष्कर-द्वीप के प्रथम अर्धांश तक का सारा क्षेत्र 'समय क्षेत्र' कहलाता है। इसमे 'अढाई द्वीपो' का समावेश होने मे इसे 'अढाई द्वीप' भी कहते हैं। इसका समग्र व्यास ४,५००,००० योजन है। समय क्षेत्र का समग्र क्षेत्रफल १५९,०००,०००,०००,०० वर्ग योजन है।

एक अंग—पर्याय है।

कुछ एक अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार नैश्चयिक काल वास्तविक द्रव्य है, जबकि व्यवहारिक काल नैश्चयिक काल का पर्याय रूप है।

दिगम्बर परम्परा मे 'काल' के विषय मे जो प्रतिपादन किया गया है, वह उक्त मन्तव्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। दिगम्बर आचार्यों ने यद्यपि काल के दो भेद—नैश्चयिक और व्यवहारिक काल स्वीकार किये हैं, फिर भी इनकी परिभाषाएं भिन्न प्रकार से की हैं। सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई० १०वी शताब्दी) काल के विषय मे लिखते हैं . "जो द्रव्यो के परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है, वह तो व्यवहारिक काल है और 'वर्तना लक्षण' का धारक जो काल है, वह नैश्चियिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे रत्नो की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक एक स्थित हैं, वे कालाणु है और असख्यात द्रव्य हैं।"[1] नैश्चयिक काल, जोकि कालाणुओ के रूप मे है, वास्तविक द्रव्य है और सख्या की अपेक्षा से—असख्यात है, क्योकि लोकाकाश के असख्यात प्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। ये कालाणु एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, इसीलिए काल द्रव्य अस्तिकाय नही बनता। कालाणु रूप नैश्चयिक काल 'वर्तना' लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय मे होने वाले परिणमनो मे उपादान कारण तो वे स्वयं ही होते है। किन्तु उन परिणमनो मे निमित्त रूप से सहायक कालाणु होते है और उनकी इस सहकारिता को 'वर्तना' कहते हैं।[2] कुछ एक आचार्यों के अनुसार द्रव्यो से होने वाले पर्याय रूप परिवर्तनो मे भी प्रति समय जो द्रव्य के ध्रौव्य की अनुभूति होती है, वह वर्तना है।[3]

---

१. दव्वपरिवट्टरूपो जो सो कालो हवइ ववहारो।
परिमाणादिलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥
लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाण रासी इव ते कालाणु असखदव्वाणि॥
—बृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा २१-२२।

२. पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्व सा वर्तना भण्यते।
—बृहद् द्रव्य सग्रह, वृत्ति।

३. प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतकममया स्वसत्तानुभूतिर्वर्त्तना।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ५ २१।४;
तथा देखें, तत्त्वार्थसार, ३-४१।

इस वर्तना लक्षण का धारक जो कालाणु द्रव्य है, वह नैश्चयिक काल है। तात्पर्य यही है कि कालाणु के निमित्त से द्रव्यो मे परिवर्तन (पर्याय) होता है और साथ-साथ उनके अस्तित्व की भी ध्रुवता बनी रहती है। कालाणु स्वय भी उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य रूप त्रिपुटी मे युक्त माना गया है। वर्तमान 'समय' की उत्पत्ति होती है, अतीत समय का विनाश और इन दोनो के आधारभूत कालाणु ध्रुव रह जाते है। इस प्रकार जो द्रव्य की परिभाषा है,[1] वह कालाणु के लिए लागू होती है और परिणामरूप कालाणु वास्तविक द्रव्य माना गया है।

द्रव्यो मे नवीन और प्राचीन आदि पर्यायो का समय, घडी, मुहूर्त आदि रूप स्थिति को 'व्यवहारिक काल' की सज्ञा दी गई है।[2] अर्थात् द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो समय, घटिका आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही 'व्यवहार काल' सज्ञा की धारक होती है, किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है, वह 'व्यवहार काल' नही है। यह व्यवहारिक काल परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणो से जाना जाता है, व्यवहारिक काल आदि और अन्त सहित होता है, जबकि नैश्चयिक काल (कालाणु) शाश्वत है—आदि-अन्त रहित है। व्यवहारिक काल स्वय द्रव्य नही है।

इस प्रकार नैश्चयिक काल (जो स्वतन्त्र द्रव्य है) के निमित्त से अन्य द्रव्यो मे पर्यायरूप परिवर्तन होता है और इन पर्यायो की स्थिति मे 'व्यवहारिक काल' जाना जाता है।

श्वेताम्बर-परम्परा मे नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्याय रूप माना गया है। दिगम्बर-परम्परा मे नैश्चयिक काल को वस्तु-सापेक्ष स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है।

पुद्गल और जीव

छ द्रव्यो मे यद्यपि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण द्रव्य तो पुद्गल और जीव हैं, फिर भी इनका विवेचन अपने आप मे अति विस्तृत होने से स्वतन्त्र चर्चा की अपेक्षा रखता है। जैसे कि पहले बताया जा चुका है, प्रस्तुत पुस्तक का

---

१ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५-३०।

२ तस्य पर्याय सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थिति सा व्यवहार कालसज्ञा भवति न च पर्याय इत्यभिप्राय।

—बृहद् द्रव्य संग्रह, वृत्ति.।

मुख्य विषय 'विश्व-प्रहेलिका' के उन पहलुओ से है, जो विश्व-आकाश से सम्बन्धित हो। अत. पुद्गल और जीव का केवल संक्षिप्त विवेचन ही यहा किया गया है।

'पुद्गल' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वर्ण, स्पर्श, गन्ध और रस इन—गुणो से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल का आधुनिक पर्यायवाची शब्द जड अथवा भौतिक पदार्थ हो सकता है। किन्तु ऊर्जा, जोकि वस्तुत जड का ही एक रूप है, पुद्गल के अन्तर्गत आ जाती है। पुद्गल के सूक्ष्मतम अविभाज्य अ ण को परमाणु कहा जाता है। विश्व (लोकाकाश) मे परमाणुओ की सख्या अनन्त है और प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है। जब ये परमाणु परस्पर जुडते है, तब स्कन्ध का निर्माण होता है। स्कन्ध मे दो से लेकर अनन्त परमाणु हो सकते है। लोकाकाश के जितने भाग को एक परमाणु अवगाहित करता है, उतने भाग को 'प्रदेश' कहा जाता है। किन्तु पुद्गल की स्वाभाविक अवगाहन-सकोच-शक्ति के कारण लोकाकाश के एक प्रदेश मे 'अनन्त-प्रदेशी' (अनन्त परमाणुओ से बना हुआ) स्कन्ध ठहर सकता है। समग्र लोकाकाश मे (जो कि असख्यात प्रदेशात्मक है) अनन्त 'अनन्त-प्रदेशी' स्कन्ध विद्यमान हैं। इस प्रकार द्रव्य-सख्या की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं, क्षेत्र की दृष्टि मे स्वतन्त्र परमाणु एक प्रदेश का अवगाहन करता है और स्वतन्त्र स्कन्ध एक से लेकर असंख्यात प्रदेशो का अवगाहन करता है तथा समग्र पुद्गल द्रव्य समस्त लोक मे व्याप्त है, काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है, स्वरूप की दृष्टि मे वर्ण, स्पर्श आदि गुणो से युक्त, चैतन्य-रहित और मूर्त हैं।

छ द्रव्यो मे केवल जीव द्रव्य ही चैतन्य-युक्त माना गया है। 'जीव' शब्द 'आत्मा' (soul) का पर्यायवाची है। चैतन्य (consciousness) इसका मुख्य लक्षण है। द्रव्य की दृष्टि मे जीव की सख्या अनन्त है और प्रत्येक जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र इकाई है। क्षेत्र की दृष्टि से एक स्वतन्त्र जीव कम से कम लोक के असख्यात भाग प्रमाण, किन्तु असख्यात-प्रदेशात्मक आकाश का अवगाहन करता है और अधिक मे अधिक समग्र 'लोकाकाश' का अवगाहन भी कर सकता है। समस्त जीव द्रव्यो की अपेक्षा मे समग्र लोक मे जीव द्रव्य व्याप्त है। काल की दृष्टि से प्रत्येक जीव अनादि और अनन्त है। स्वरूप की दृष्टि मे जीव अमूर्त, वर्ण आदि गुणो से रहित और चैतन्य-युक्त है। ज्ञान चैतन्य की ही प्रवृत्ति होने से जीव का गुण है।

जीव और विशेष प्रकार के पुद्गल-स्कन्ध जिनको 'कर्म' कहा जाता है,

परस्पर में सम्बन्धित होते हैं। जीव की विविध प्रवृत्ति और क्रियाओ के कारण कर्म-पुद्गलो का जीव के साथ सम्बन्ध होता है और उन क्रियाओ के अनुसार कर्म-पुद्गल विविध रूप मे जीव को प्रभावित करते हैं। विश्व मे जितने भी प्राणी (जीव) हैं, वे सभी जहा तक कर्म-पुद्गलो से युक्त होते है, सुख, दु:ख, जन्म, मृत्यु आदि परिणामो को भोगते रहते हैं और कर्म-पुद्गलो से जो मुक्त हो जाते हैं, वे इन सभी परिणामो से भी मुक्त हो जाते हैं और 'परमात्मा' अथवा 'सिद्धि' की सज्ञा को प्राप्त करते हैं।

चतु: पक्षात्मक विश्व-सिद्धान्त

जैन दर्शन मे लोक (विश्व) को समझाने के लिए चार दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम ने प्रश्न पूछा—हे भगवन् ! लोक कितने प्रकार का कहा है ?

भगवान्—हे गौतम ! लोक चार प्रकार का कहा है (१) द्रव्य लोक, (२) क्षेत्र लोक, (३) काल लोक और (४) भाव लोक।[1]

इसको 'चतु पक्षात्मक विश्व-सिद्धान्त' कहा जा सकता है। विश्व-सिद्धान्त के प्रथम पक्ष द्रव्य-लोक का सक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है। दूसरे और तीसरे पक्ष का विवेचन यथास्थान किया जाएगा। चतुर्थ पक्ष को सक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है—लोक षड्-द्रव्यात्मक है। उनमे प्रत्येक द्रव्य अनन्त (सख्या मे) गुण और पर्यायो के धारक हैं। इन दोनो के कारण परिणामी-नित्यत्ववाद स्थापित होता है। पर्याय की परिवर्तनशीलता के कारण प्रत्येक पदार्थ सतत रूप से बदलता रहता है, वह पूर्वावस्था को छोड़-कर उत्तरावस्था को धारण करता रहता है। किन्तु गुण के नित्यत्व के कारण वह अपना अस्तित्व नही खो देता। इस प्रकार द्रव्य उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी और इस परिवर्तन मे भी उसका अस्तित्व नही मिटता। इस परिणामी-नित्यत्ववाद का विस्तृत विवेचन यहा अपेक्षित नही है। किन्तु यहा

---

१ कतिविहेण भन्ते ! लोए पण्णत्ते ?
गोयमा ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तजहा—दव्वलोए, खेत्तलोए, काल-लोए, भावलोए।

—भगवती सूत्र . ११-१०-४२०;

प्रस्तूयतेऽथ प्रकृत स्वरूप लोकगोचरम्।
द्रव्यत क्षेत्रत कालभावतस्तच्चतुर्विधम्॥

—लोकप्रकाश २-२।

पर केवल संक्षिप्त मे इसका उल्लेख किया गया है ।

'द्रव्य' की परिभाषा दूसरे प्रकार से भी की गई है जो सत् है, वह द्रव्य है ।[1] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रिपुटी से जो युक्त है, वह सत् है ।[2] गुण और पर्यायो के धारक द्रव्य मे उत्पत्ति और व्यय रूप परिणमन सदा चलता रहता है, फिर भी 'ध्रौव्य' के कारण द्रव्य सदा अस्तित्ववान रह जाता है । यहा पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विश्व की शाश्वतता की समस्या को हल करने मे यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी होगा ।

क्षेत्र-लोक

विश्व का आकार क्या है ?

अनन्त-असीम आकाश के बहुमध्यभाग मे स्थित सान्त-ससीम 'लोक' का निश्चित आकार माना गया है । जो धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का आकार है, वही लोक का आकार बन जाता है । दूसरे शब्दो मे जिस आकार मे धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश मे स्थित हैं, उसी आकार से 'लोक' स्थित है । जिज्ञासु शिष्य गौतम के विश्व के आकार के सम्बन्ध मे प्रश्न और सर्वज्ञ भगवान् महावीर के उत्तर इस प्रकार रहे हैं :

गौतम—भगवन् ! इस लोक का क्या आकार है ?

भगवान्—गौतम ! यह लोक सुप्रतिष्ठित आकार वाला है । अर्थात् नीचे से विस्तीर्ण, मध्य मे सक्षिप्त और ऊपर मे विशाल—नीचे पर्यक सस्थान वाला, मध्य में वरवज्र के आकार और ऊपर मे ऊर्ध्व मृदग के आकार से सस्थित है ।[3]

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् ।

—तत्वार्थ सूत्र, ५-२९ ।

२ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ।

—वही ५-३०;

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् ।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, ६-३१ ।

३ किं सठिए ण भन्ते ! लोए पण्णत्ते ?"

गोयमा ! सुपइट्ठगसठिए लोए पण्णत्ते, तजहा—

हेट्ठा विच्छिन्ने, उप्पि मज्झे सक्खि विसाले, अहे पलियकसठिए, मज्झे वरवइ-रविग्गहिते, उप्पि उद्धमुइगाकार सठिए ..

—भगवती सूत्र, ७-१-२६० ।

सुप्रतिष्ठित आकार का अर्थ है—त्रिशरावसम्पुटाकार। एक शिकोरा (शराव) उल्टा, उस पर एक शिकोरा सीधा, फिर उस पर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है, उसे त्रिशरावसम्पुटाकार कहते हैं। इस प्रकार से बने आकार मे नीचे चौडाई अधिक और मध्य मे कम होती है पुन ऊपर चौडाई अधिक होती है और अन्त में पुन कम हो जाती है। सामान्य मनुष्य को लोक का आकार समझाने के लिए विविध पदार्थों की उपमा दी गई है। अधो लोक पर्यङ्क के सदृश, तप्र के सदृश[1] और वेत्रासन के सदृश सस्थान वाला[2] कहा गया है। पर्यङ्क, वेत्रासन और तप्र (उडुपक) का विस्तार नीचे अधिक और ऊपर कम होता है, इसलिए अधोलोक को इनकी उपमा दी गई है। इस प्रकार मध्यलोक को वरवज्र, झल्लरी,[3] और ऊर्ध्व (खड़े किए हुए) मृदग के ऊर्ध्व भाग के समान आकार का[4] कहा गया है, क्योकि मध्यलोक के विस्तार की अपेक्षा मे उसका उत्सेध बहुत कम है। 'ऊर्ध्व लोक' को ऊर्ध्व मृदग के आकार का[5] बताया गया है, क्योकि मृदग के बीच मे अधिक चौडा और ऊपर-नीचे कम चौडा होता है। अन्यत्र समग्र लोक का आकार पुरुष-सस्थान भी बतलाया गया है। दोनो हाथ कटि तट पर रख कर जैसे कोई पुरुष वैशाख सस्थान की तरह (पैर चौडे रखकर) खडा हो, वैसा ही सर्वथा यह लोक

---

१. अहोलोग खेत्तलोए ण भन्ते ! किं सठिए पण्णत्ते ?
गोयमा ! तप्पागार सठिए पण्णत्ते ।
—वही, ११-१०-४२०।

२. हेट्ठि मलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण ।
—तिलोयपण्णत्ति, १-१३७।

३. तिरयलोय खेत्तलोए ण भन्ते कि सठिए पण्णत्ते ?
गोयमा ! झल्लरि सठिए पण्णत्ते ।
—भगवती सूत्र, ११-१०-४२०;
हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासण-झल्लरी-मुइ गणिहो ।
—जम्बूदीवपण्णत्ति-सगहो, ११-१०६।

४. मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो ।
—तिलोयपण्णत्ति, १-१३७।

५. उड्ढलोय खेत्तलोयपुच्छा—उड्ढमुइ गाकार सठिए पण्णत्ते ।
—भगवती सूत्र, ११-१०-४२०,
उवरिमलोयायारो उब्भियरवेण होइ सरिसत्तो ।
—तिलोयपण्णत्ति, १-१३८।

है।[1] इस प्रकार विविध उपमाओ के द्वारा लोक का आकार स्पष्ट किया गया है। लोक के 'आयतन' का विवेचन गाणितिक होने से लोक का आकार कहा किस प्रकार का है, इसकी स्पष्ट कल्पना गाणितिक विवेचन के द्वारा हो सकती है।

विश्व कितना बडा है ?

लोकाकाश शान्त और ससीम है, अत. उसका निश्चित 'आयतन' माना गया है। इसके गाणितिक विवेचन के अतिरिक्त इसको भी उपमा के द्वारा समझाया गया है। "यह लोक कितना बडा है ?"[2] गौतम के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! यह लोक बहुत बडा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व और अधो दिशाओ मे असख्यात योजन का लम्बा-चौडा कहा गया है।" इसी भाव का स्पष्टीकरण एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा किया गया है।[3] इस दृष्टान्त मे देवो की 'शीघ्र गति' के आधार पर लोक की बृहत्ता समझाई गई है। जैन दर्शन के अनुसार १,००,००० योजन व्यास और ३,१६,२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष्य १३॥ अगुल और कुछ अधिक परिधि वाले[4] जम्बूद्वीप के मध्य मे १ लाख

---

१. नर वैशाखसस्थानस्थितपाद कटीतटे।
न्यस्तहस्तद्वय सर्वदिक्षुलोकोऽनुगच्छति ॥

—लोकप्रकाश, १२-३ ।

२. के महलाए ण भन्ते ! लोए पण्णत्ते ?

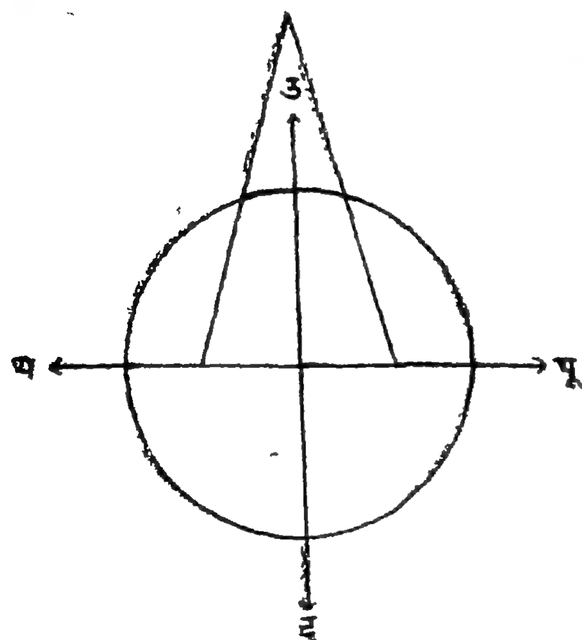
गोयमा ! महति महालए लोए पण्णत्ते, पुरच्छिमेण असखेज्जाओ जोअण कोडाकोडिओ, दाहिणेण असखिज्जाओ एव पच्चच्छिमेणवि एव उत्तरेणवि, एव उड्ढपि, अहे असखेज्जाओ जोयण कोडाकोडिओ आयाम-विक्खभेण।

—भगवती सूत्र, १२-७-४५७ ।

३ भगवती सूत्र, ११-१०-४२१ ।

४ परिधि का यह मूल्य व्यास का १० के वर्गमूल द्वारा गुणाने पर निकाला गया है। युक्लिडीय सूमिति के नियमानुसार परिधि व्यास से π गुणी होती है, जहा π का मूल्य करीब ३·१४२ ... होता है। यहा लिया गया मूल्य इस मूल्य मे कुछ अधिक है। युक्लिडियेतर सूमितियो मे π का मूल्य ३·१४२ ... से अधिक अथवा कम भी हो सकता है। इसकी विस्तृत चर्चा के लिए देखे, परिशिष्ट—४ ।

योजन ऊंचा मेरु पर्वत है। समतल भूमि से नीचे इसकी ऊंचाई के १००० योजन और ६६००० योजन समतल भूमि से ऊपर है। इस पर्वत के ऊपर ४० योजन ऊंची चूलिका है।[1] अब कल्पना की जाती है कि जम्बूद्वीप की परिधि[2] पर चार दिक्कुमारियां (देवियां) अपनी-अपनी दिशाओं में बाहर की ओर मुख करके खड़ी हैं और चार बलिपिण्डों को उन-उन दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं (देखें चित्र नं० ३)। चूलिका के ऊपर छः देव खड़े हैं। उनमें से कोई एक देव अपनी शीघ्र गति से नीचे आकर पृथ्वी पर पड़ने से पहले ही उन चारों बलिपिण्डों को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की शीघ्र गति से चलने वाले वे छः देव लोक का अन्त पाने के लिए चलते हैं। तिर्यक्-लोक,[3] जो १ रज्जु[4] लम्बा चौड़ा है, के मध्य में मेरु-



चित्र नं० ३

१. सहस्रान्नवनवतिं योजनानां स उन्नत।
योजनानां सहस्रं चावगाढो वसुधान्तरे॥
लक्षयोजनमानोऽसौ सर्वाग्रेण भवेदिति।
चत्वारिंशदधिकानि चूलाया योजनानि तु॥
—लोकप्रकाश, १८-१५, १६।

२. एक अभिमत के अनुसार दिक्कुमारियां जम्बूद्वीप की परिधि पर स्थित आठ योजन ऊंची जगती (दीवार) पर खड़ी हैं। (देखें, लोकप्रकाश, १२-१४५ का मोतीचंद ओधवजी शाह द्वारा किया गया अनुवाद)।

३. तिर्यक् लोक समग्र लोक के लगभग मध्य में है। वस्तुतः तिर्यक्-लोक के ऊपर का भाग (ऊर्ध्व लोक) सात रज्जु से कुछ कम है, जबकि नीचे का भाग (अधो लोक) सात रज्जु में कुछ अधिक है।

४. रज्जु की व्याख्या और गणना के लिए देखें, पृ० १२५।

पर्वत है। छ देव क्रमश मेरु से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधो दिशा मे गति करते हैं। उसी समय एक हजार वर्ष के आयुष्य वाले एक बालक का जन्म हुआ। उसके माता-पिता का आयुष्य समाप्त हो गया। बाद मे उसका आयुष्य भी समाप्त हो गया। तत्पश्चात् उसकी हजार-हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढिया बीत गई। तब तक भी देव लोक के अन्त को नही पा सके। उसके बाद जब उनके नाम-गोत्र भी नष्ट हो गए, तब तक भी वे देव लोक के अन्त को नही पा सके। किन्तु उस समय तक उन्होने जो अन्तर तय किया, वह शेष रहे भाग से बहुत अधिक था। तय किये हुए मार्ग से असख्यातवा भाग केवल बाकी रह गया।[1]

इस शास्त्रीय उदाहरण के द्वारा लोक का आयतन कितना बडा है, इसकी एक झाकी मिलती है। किन्तु इसमे दिये गये गाणितिक तथ्य पूर्ण नही होने से 'लोक-आयतन' का यथार्थ गाणितिक निरूपण इस दृष्टान्त के द्वारा नही किया जा सकता; क्योकि इस दृष्टान्त के पूर्ण गाणितिक विवेचन मे दो बातो का ज्ञान आवश्यक है .

(१) देव जिस गति से चलते हैं, उस गति का यथार्थ मूल्य;

(२) जितने समय मे वे लोक का अधिकतर मार्ग पार कर लेते हैं, उसका यथार्थ मूल्य।

प्रथम आवश्यकता की पूर्ति के लिए बलि-पिण्डो की नीचे गिरने की गति का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु यह इसलिए सम्भव नही है कि 'गुरुत्व'-

१ छः देव तिर्यग्-लोक के मध्य से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाओ मे चलने वाले देवो को लोक के अन्त तक जाने मे $\frac{7}{2}$ रज्जु की दूरी तय करनी पडेगी, जबकि ऊची (ऊर्ध्व) दिशा मे चलने वाले देव को 'सात रज्जु से कुछ कम' और अधो दिशा मे चलने वाले देव को 'सात रज्जु से कुछ अधिक' अन्तर तय करना होगा। इस प्रकार सभी देव एक समान दूरी तय नही करेंगे। किन्तु समान समय मे और समान वेग से चलने वाले, ये समान दूरी तय कर पायेंगे। अतः बताये गये समय मे सभी का तय किया हुआ मार्ग, बाकी रहे मार्ग के असख्यात गुणा अधिक है, यह बात कैसे हो सकती है? इस तर्क का समाधान नवागी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने इस प्रकार किया है कि यदि लोक का आकार वस्तुत जिस प्रकार है, उस प्रकार न मानकर घनचतुरस्राकार (Cube) के रूप मे मान लिया जाये तो उसके मध्य से सभी दिशाओ मे समान अन्तर रह जायेगा।

—देखें, भगवती सूत्र वृत्ति, ११-१०-४२१।

सम्बन्धी उन स्थलो के नियम ज्ञात नही हैं। दूसरी आवश्यकता की पूर्ति भी नही हो सकती, क्योंकि 'नाम-गोत्र के नष्ट' होने का कोई निश्चित काल नही बताया गया है। इस प्रकार, यद्यपि उक्त दृष्टान्त से लोक के आयतन के यथार्थ मूल्य की जानकारी हमें नहीं हो सकती है, फिर भी लोक की अति-बृहत्ता का अनुमान तो हो ही सकता है।

'अलोकाकाश कितना बडा है ?' इसको समझाने के लिए उक्त दृष्टान्त से समानता रखने वाला अन्य दृष्टान्त दिया गया है।[1] यहाँ पर आठ दिक्-कुमारिया चार दिशाओ मे और चार विदिशाओ मे (पूर्व-उत्तर, उत्तर-पश्चिम, पश्चिम-दक्षिण, दक्षिण-पूर्व) बलि-पिण्डो को फेंकती है और चूलिका पर खडा हुआ देव इन सब को पृथ्वी पर पडने से पूर्व ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की शीघ्र गति वाले दश देव अलोक के अन्त को पाने के लिए चलते है।[2] ये देव पूर्वोक्त दृष्टान्त मे बताये गये समय मे अलोक का जितना भाग तय करते है, उसमे बाकी का भाग अनन्त गुणा अधिक है। अर्थात् केवल अनन्तवा भाग ही वे तय कर पाते हैं। इस दृष्टान्त से अलोकाकाश किस प्रकार अनन्त-असीम है इसका अनुमान हो सकता है।[3]

गाणितिक विवेचन

लोक के आकार और आयतन के विषय मे जैन साहित्य में विस्तृत गाणितिक विवेचन मिलता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-परम्परा मे यह विवेचन भिन्न-भिन्न रूप से मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार लोक का गाणितिक-विवेचन निम्नोक्त है[4] :

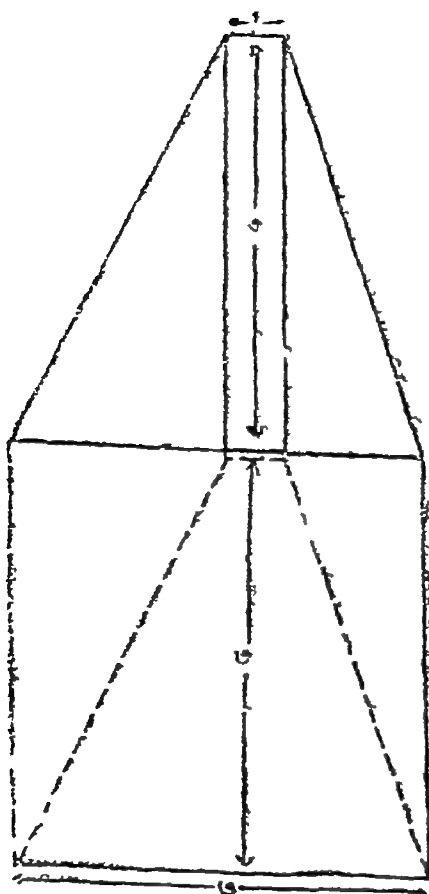
---

१. देखें, भगवती सूत्र, ११-१०-४२१।

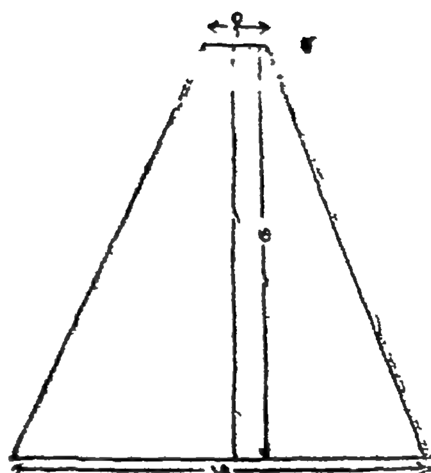
२. यह असद्भाव कल्पना है, क्योकि वस्तुत अलोक में गति हो ही नहीं सकती।

३. अनन्त का गाणितिक विवेचन और जैन दर्शन में अनन्त की परिभाषा के लिए देख, परिशिष्ट—३।

४. तिलोयपण्णत्ति, १—१४० से २०० के आधार पर।

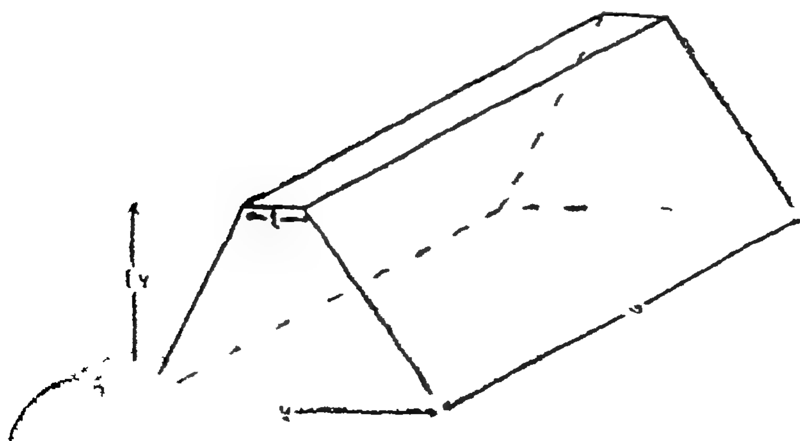


चित्र नं० ६



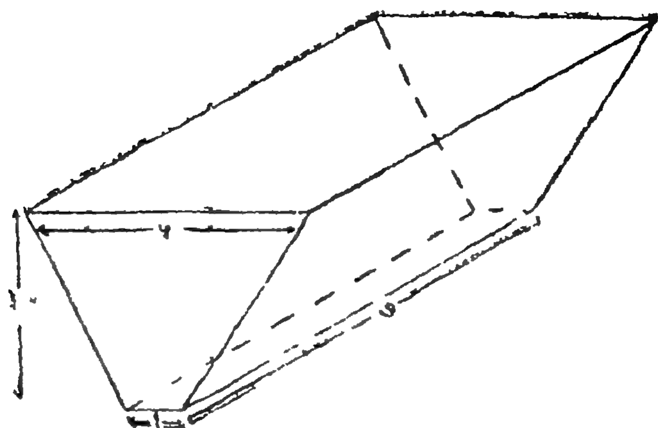
चित्र नं० ७

नीचे १ रज्जु, बीच में ५ रज्जु और ऊपर १ रज्जु है। इस प्रकार, ऊर्ध्वलोक



चित्र नं० ८

दो समान समलम्ब चतुर्भुजाधार समपार्श्व का बना हुआ है (चित्र न० ८, ९)।



चित्र न० ९

प्रत्येक समपार्श्व का घनफल=समलम्ब-चतुर्भुज का क्षेत्रफल × ऊंचाई।

यहा पर समलम्ब-चतुर्भुज की दो समानान्तर भुजाएं १ रज्जु और ५ रज्जु है तथा ऊंचाई $३\frac{१}{२}$ रज्जु है (देखें चित्र न० १०), अतः

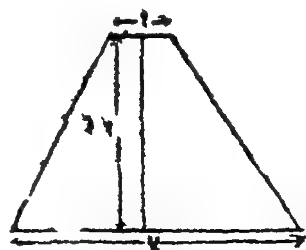
समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल

$= \{\frac{१}{२}(५ + १) \times \frac{७}{२}\}$

$= \frac{२१}{२}$ वर्ग रज्जु

अत प्रत्येक समलम्ब-चतुर्भुज समपार्श्व का घनफल $= \frac{२१}{२} \times ७$

$= \frac{१४७}{२}$ घन रज्जु



चित्र न० १०

अत समग्र ऊर्ध्व लोक का घनफल $= २(\frac{१४७}{२})$

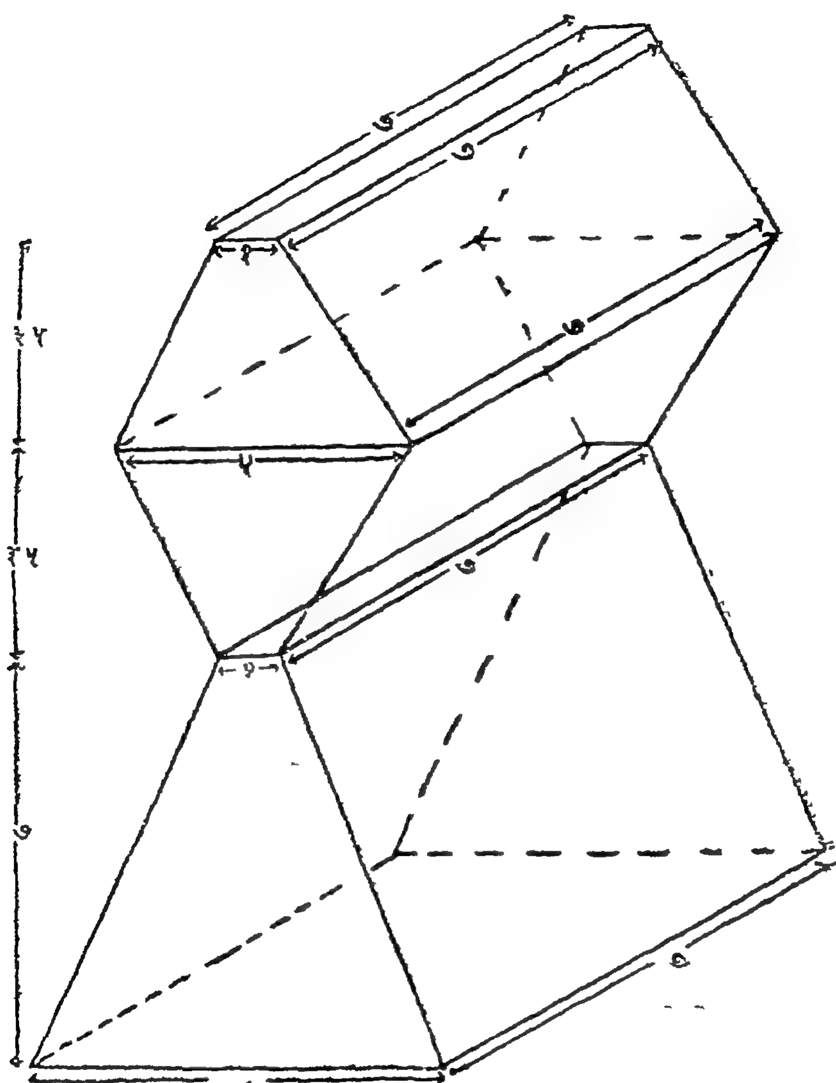
$= १४७$ घन रज्जु

इस प्रकार ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन रज्जु है। अधोलोक और ऊर्ध्व लोक के घनफलो को मिलाने पर समग्र लोक का घनफल निकलता है, अत

समग्र लोक का घनफल $= १९६ + १४७$

$= ३४३$ घन रज्जु

(देखें चित्र न० ४) "लोक के तीन परिमाणों में से (ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई)

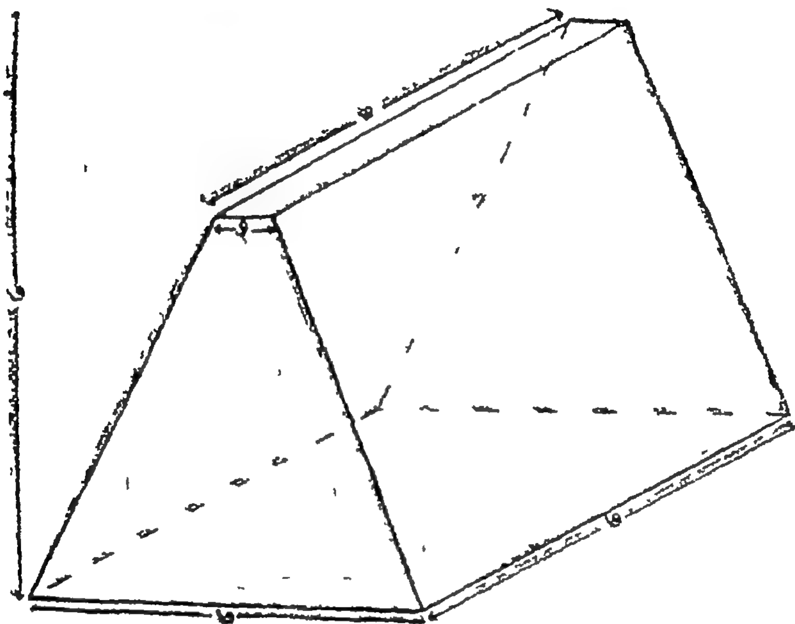


चित्र न० ४

प्रथम परिमाण अर्थात् ऊँचाई १४ रज्जु[1] है। दूसरा परिमाण (अर्थात् चौड़ाई) सर्वत्र ७ रज्जु है। तीसरा परिमाण (अर्थात् लम्बाई) सारे लोक में समान नहीं है। लोक के विभिन्न स्थानों पर लोक की लम्बाई भिन्न-भिन्न है। उसको समझने के लिए लोक के (ऊँचाई के प्रमाण से) दो विभागों की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् लोक के दो भाग करने चाहिए, जिसमें से

१. रज्जु जैन-खगोल-शास्त्र का नाप है, जिसके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन पृ० १२५ में आगे किया गया है।

प्रत्येक भाग की ऊंचाई ७ रज्जु हो। इन दो भागो मे से, प्रथम अधस्तन भाग (अधोलोक) नीचे (आधार पर) ७ रज्जु लम्बा है और ऊपर क्रमश घटता-घटता १ रज्जु। इस प्रकार अधोलोक का आकार समलम्बचतुर्भु जाधार सम-पार्श्व के सदृश होता है, जिसकी ऊंचाई ७ रज्जु, चौडाई सर्वत्र ७ रज्जु और लम्बाई नीचे आधार पर ७ रज्जु और ऊपर १ रज्जु है। (देखे चित्र न० ५,



चित्र न० ५

६) इस प्रकार के आकार वाले घन का घनफल निकालने के लिए पहले समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकाल कर, उसको ऊंचाई से गुणन करना चाहिए।

समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल—दो समानान्तर भुजाओ की लम्बाई क्रमश ७ रज्जु और १ रज्जु है और लम्ब की लम्बाई ७ रज्जु है। (देखे चित्र न० ७) अत,

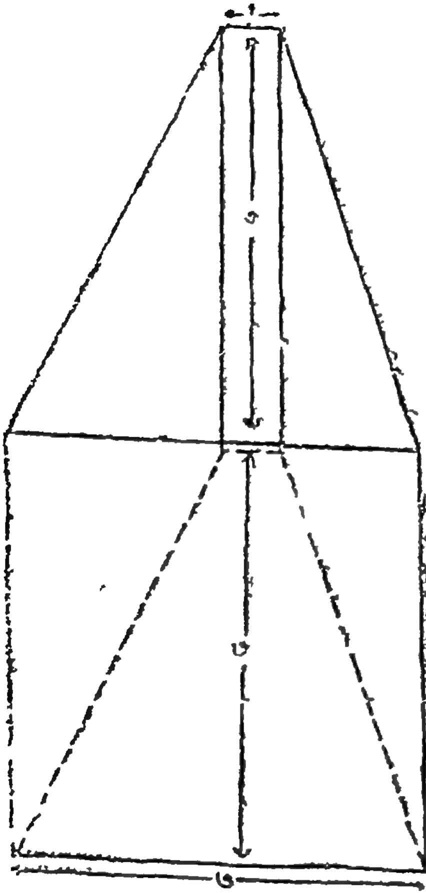
क्षेत्रफल$=\{\frac{1}{2}(७+१)\times७\}$

$=$२८ वर्ग रज्जु

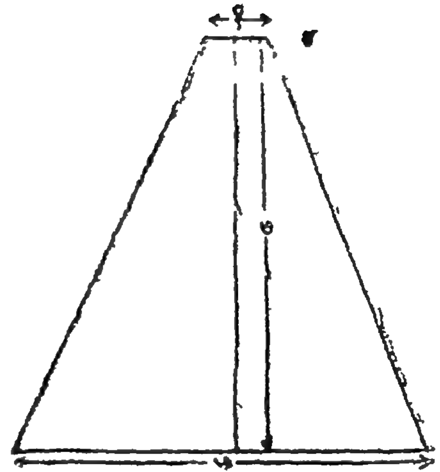
इसलिए घनफल$=$२८$\times$७$=$१९६ घन रज्जु

इस प्रकार अधोलोक का घनफल १९६ घन रज्जु है।

ऊर्ध्व लोक की ऊंचाई ७ रज्जु है, चौडाई सर्वत्र ७ रज्जु है और लम्बाई

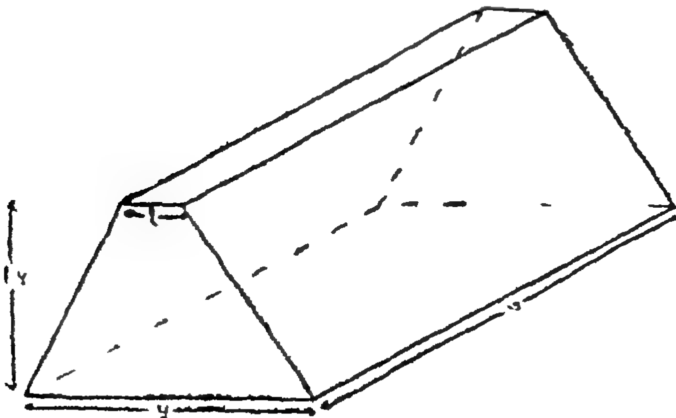


चित्र नं० ६



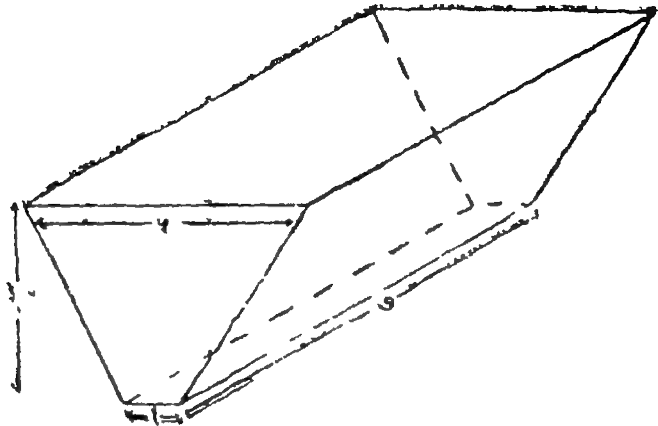
चित्र नं० ७

नीचे १ रज्जु, बीच में ५ रज्जु और ऊपर १ रज्जु है। इस प्रकार, ऊर्ध्वलोक



चित्र नं० ८

दो समान समलम्ब चतुर्भुजाधार समपार्श्व का बना हुआ है (चित्र न० ८, ९)।



चित्र न० ९

प्रत्येक समपार्श्व का घनफल=समलम्ब-चतुर्भुज का क्षेत्रफल × ऊंचाई।

यहां पर समलम्ब-चतुर्भुज की दो समानान्तर भुजाएं १ रज्जु और ५ रज्जु है तथा ऊंचाई ३½ रज्जु है (देखें चित्र न० १०), अतः

समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल

$= \{\frac{१}{२}(५ + १) \times \frac{७}{२}\}$

$= \frac{२१}{२}$ वर्ग रज्जु

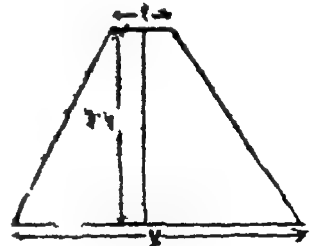
अत प्रत्येक समलम्ब-चतुर्भुज समपार्श्व

का घनफल $= \frac{२१}{२} \times ७$

$= \frac{१४७}{२}$ घन रज्जु

अत समग्र ऊर्ध्व लोक का घनफल $= २(\frac{१४७}{२})$

$= १४७$ घन रज्जु



चित्र न० १०

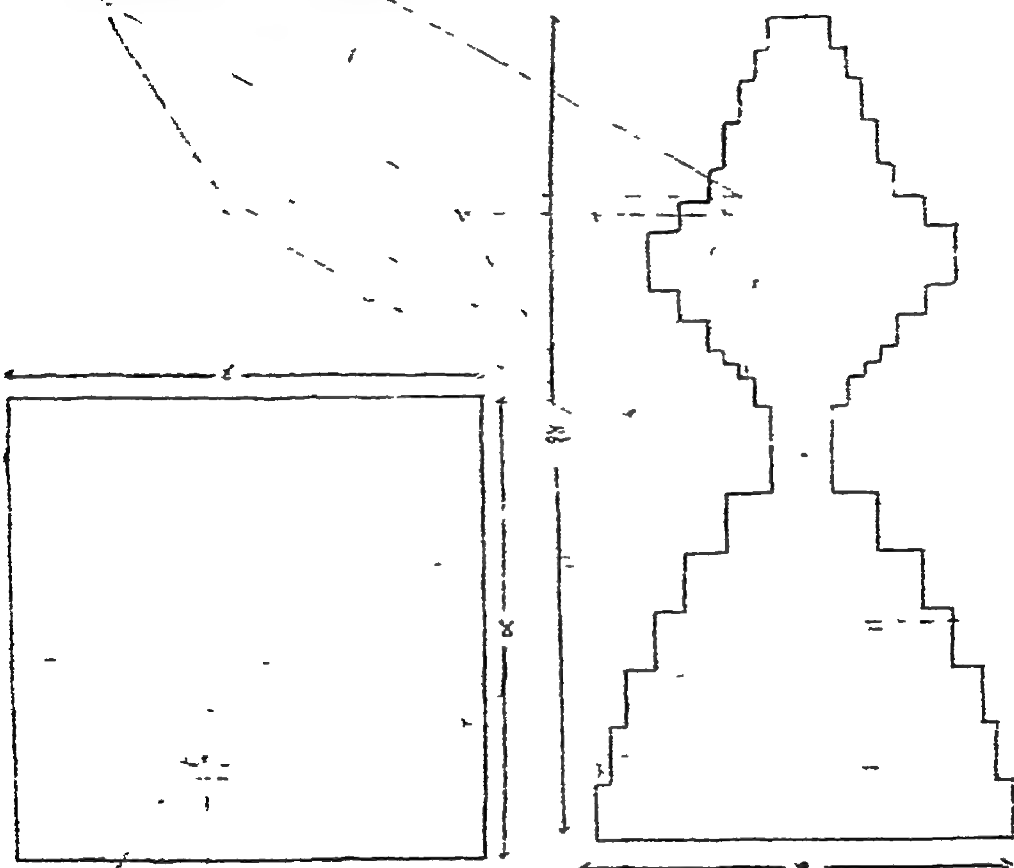
इस प्रकार ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन रज्जु है। अधोलोक और ऊर्ध्व लोक के घनफलों को मिलाने पर समग्र लोक का घनफल निकलता है, अत

समग्र लोक का घनफल $= १९६ + १४७$

$= ३४३$ घन रज्जु

श्वेताम्बर-परम्परा

श्वेताम्बर-परम्परा के आगम-साहित्य में यद्यपि लोक के आयाम विष्कम्भ आदि के विषय में विस्तृत गाणितिक विवेचन उपलब्ध नहीं है फिर भी उत्तरवर्ती ग्रन्थों में[1] जो विवेचन किया गया है, उसके आधार पर यहां लोक



चित्र नं० ११ चित्र नं० १२

१. विनय विजयजी कृत लोक प्रकाश, सर्ग १२ में वह विवेचन उपलब्ध होता है। इसके सदृश विवेचन का उल्लेख जर्मन विद्वान् फोन ग्लेसनहाप द्वारा लिखित देर जैनिजिमुस पुस्तक में पाया गया है। ग्लेसनहाप ने 'लोक-स्त्री' (Weltfrau) का एक चित्र चन्द्रसूरि के संग्रहणी-सूत्र से उद्धृत किया है। इस चित्र में लोक के आयाम, विष्कम्भ और आयतन आदि का किया गया गाणितिक वर्णन लोक प्रकाश के गाणितिक वर्णन से अविकल समान है। संग्रहणी का उल्लेख लोक-प्रकाश में बहुत स्थलों पर किया गया है। अतः यह अनुमान है कि इसी से ही आचार्य विनयविजयजी ने सारा विवेचन ले लिया हो। बृहत्-संग्रहणी जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी गाणितिक विवेचन मिलता है।

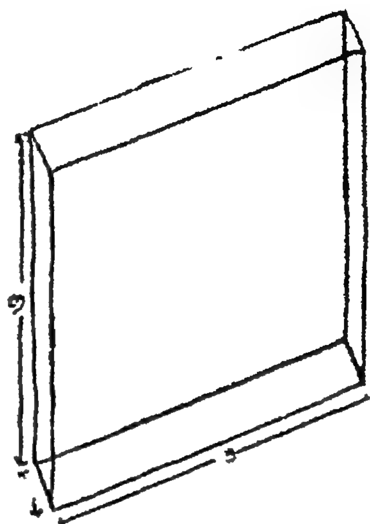
का गाणितिक विवेचन किया जा रहा है। इन ग्रन्थो के अनुसार [१] लोक की ऊचाई १४ रज्जु है। दूसरा परिमाण (चौडाई) और तीसरा परिमाण (लम्बाई) विभिन्न ऊचाइयो पर भिन्न-भिन्न है और समान ऊचाई पर समान है। अर्थात् लोक का यदि कही से भी तिर्यक् छेद किया जाये, तो वह समचतुरस्र (Square) होगा (देखें, चित्र नं० ११)। भिन्न-भिन्न ऊचाइयो पर लम्बाई और चौडाई क्या है, उसे नीचे दिये गये कोष्ठक मे बताया गया है (देखे चित्र नं० १२)। यहा पर लम्बाई-चौडाई 'खण्डूक' नामक माने मे व्यक्त की गई है। खण्डूक का अर्थ है—रज्जु का चतुर्थांश

नीचे से ऊचाई (खण्डूको मे)	लम्बाई और चौडाई (खण्डूको मे)	वर्ग (वर्ग-खण्डूको मे)	घनफल (घन-खण्डूको मे)
०—४	२८	७८४	३१३६
४—८	२६	६७६	२७०४
८—१२	२४	५७६	२३०४
१२—१६	२०	४००	१६००
१६—२०	१६	२५६	१०२४
२०—२४	१०	१००	४००
२४—२८	४	१६	६४
२८—३०	४	१६	३२
३०—३२	६	३६	७२
३२—३३	८	६४	६४
३३—३४	१०	१००	१००
३४—३६	१२	१४४	२८८
३६—३८	१६	२५६	५१२
३८—४०	२०	४००	८००
४०—४२	२०	४००	८००
४२—४४	१६	२५६	५१२
४४—४६	१२	१४४	२८८
४६—४९	१०	१००	३००
४९—५२	८	६४	१९२
५२—५४	६	३६	७२
५४—५६	४	१६	३२

कुल १५२९६

१ लोक-प्रकाश, सर्ग १२ श्लोक ८ से १११ तक; तथा देखें, देर जैनिजिमुस पृ० २३२।

ऊपर दिये गये कोष्टक से यह स्पष्ट हो जाता है कि समग्र लोक ४६ लम्ब-कोणीय-समानान्तर पट्-फलक (Rectangular paralleopiped) में विभाजित किया गया है, जिसमें प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई भिन्न-भिन्न है और ऊंचाई १ खण्डुक है (चित्र नं० १३)। प्रत्येक का घनफल अपनी-अपनी लम्बाई, चौड़ाई व ऊंचाई के गुणनफल से निकाला गया है। उन सभी लम्ब-कोणीय-समानान्तर पट्-फलक के घनफलों का योग १५२९६ घन खण्डुक होता है।



अब ∵ १ खण्डुक=$\frac{1}{4}$ रज्जु है,

∴ १ घन-खण्डुक=$\frac{1}{64}$ घन रज्जु

∴ लोक का घनफल=१५२९६ घन-खण्डुक

=२३९ घन रज्जु

चित्र नं० १३

इस प्रकार लोक का घनफल २३९ घन रज्जु होता है।

उक्त गणना के द्वारा लोक का जो घनफल निकाला गया है, वह लोक का वास्तविक घनफल नहीं है, ऐसा लगता है। ग्रन्थकारों ने इसको 'वर्गित लोकमान' ऐसा अभिधान दिया है।[1] 'वर्गित लोकमान' से उनका वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह कहना कठिन है। किन्तु लोक के 'घनीकृत लोकमान' की चर्चा भी उन्होंने की है और स्पष्ट रूप से लोक का घनफल ३४३ घन रज्जु स्वीकार किया है। जैसे कि **लोक-प्रकाशकार** विनय विजय गणी ने लिखा है "इस घनीकृत लोक के तीनसौ तैंतालीस घन-रज्जु तत्त्वज्ञों द्वारा माने गए हैं।"[2]

घनीकृत लोक के ३४३ घन-रज्जु किस प्रकार होते हैं, इसके विषय में जो विवेचन दिया गया है, वह गाणितिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण नहीं लगता।[3]

---

१ लोक प्रकाश, सर्ग १२, श्लोक ११० से ११५।

२. अस्मिन् घनीकृते लोके प्रज्ञप्ता घनरज्जव।
त्रिचत्वारिंशताढ्यानि शतानि त्रिणि तात्त्विकैः।
—लोक प्रकाश, १२-१३७।

३ देखें, वही सर्ग १२, श्लोक ११६ से १३२।

उन्होने समग्र लोक के, जो कि ऊचाई मे १४ रज्जु है और विविध चौडाई-लम्बाई वाला है, अलग-अलग खण्ड करके पुन जोडने से घनचतुरस्र की आकृति का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जिसकी प्रत्येक भुजा ७ रज्जु है। किन्तु वे स्वीकार करते है कि[1] "लम्बाई और चौडाई छ रज्जु से अधिक, रज्जु का असख्यातवा भाग जितनी है और इन्हे व्यवहार मे ७ रज्जु माना जा सकता है, क्योकि व्यवहार नय की दृष्टि मे कुछ न्यून वस्तु भी पूर्ण मानी जाती है। इस तरह लम्बाई और चौडाई सात रज्जु से कुछ न्यून होने पर भी व्यवहार नय मे इन्हे सम्पूर्ण सात रज्जु मान सकते है' इस प्रकार की गणना से किये गारिणतिक विवेचन के द्वारा लोक के आकार और विभिन्न वैमितिक मानो का यथार्थ ज्ञान नही मिल सकता।

दो परम्पराओ का मतभेद और उसकी समीक्षा

उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि श्वेताम्बर-परम्परा और दिगम्बर-परम्परा, लोक के कुल आयतन के विपय मे एकमत है ही कि लोक का आयतन ३४३ घन रज्जु है। दोनो परम्पराओ मे मुख्य मतभेद रह जाता है—लोक के आकार के विषय मे। लोक की ऊचाई १४ रज्जु है, यह भी दोनो परम्पराओ को मान्य है। लोक की दो विमितिया (लम्बाई और चौडाई) लोक के अघस्तन अन्त पर सात रज्जु है, यह भी दोनो परम्पराए मानती हैं। अधस्तन अन्त से ७ रज्जु ऊपर लोक की एक विमिति १ रज्जु, अधस्तन अन्त के १०½ रज्जु ऊपर लोक की एक विमिति ५ रज्जु और ऊर्ध्वान्त मे (अधस्तन अन्त से १४ रज्जु ऊपर) लोक की एक विमित १ रज्जु है, यह भी दोनो परम्पराओ को मान्य है। जहा दिगम्बर-परम्परा लोक के उत्तर-दक्षिण बाहुल्य को सर्वत्र ७ रज्जु और लोक के समग्र आकार को 'आयत-चतुरस्राकृति' वाला मानती है, वहा श्वेताम्बर-परम्परा सर्वत्र समान बाहुल्य को स्वीकार नही करती है।

---

१ सर्वस्यास्य चतुरस्रीकृतस्य भवति क्वचित्।
रज्जवसख्येयभागाढ्या बाहुल्य रज्जवो हि षट्॥
तथापि व्यवहारेण बाहुल्य सप्त रज्जवः।
मन्यते व्यवहारो हि वस्तुन्यूनेऽपि पूर्णताम्॥
विष्कम्भायामतोऽप्येव देशोनाः सप्त रज्जव।
व्यवहारेण विज्ञेयाः सपूर्णा सप्त रज्जवः॥

—वही, १२-१३३ से १३५।

दिगम्बर-परम्परा और साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के प्रकाश में इस समस्या को समझने में काफी सहायता मिल सकती है। लोक के आकार, आयतन आदि विषयों की चर्चा दिगम्बर-परम्परा के अनेक ग्रन्थों मे मिलती है। इनमे षट्खण्डागम पर लिखी गई वीरसेनाचार्य कृत धवलाटीका, यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ति पद्मनन्दिकृत जम्बूदीपण्णत्ति संगहो, पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण व स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थ प्राचीनता और प्रस्तुत चर्चा की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस विषय मे विद्वानों के दो पक्ष बने हैं। एक पक्ष का अभिप्राय यह है कि 'लोक का बाहुल्य उत्तर-दक्षिण मे सर्वत्र सात रज्जु है।' इस मान्यता का सर्वप्रथम प्रतिपादन विक्रम की नवमी शताब्दि के महान् गणितज्ञ आचार्य वीरसेन द्वारा हुआ। इससे पूर्व दिगम्बर-परम्परा मे इस प्रकार की कोई मान्यता नहीं थी। दूसरा पक्ष इस अभिप्राय को स्वीकार नही करता और उक्त मान्यता को प्राचीन मानता है। पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री के अनुसार[1]—"लोक के उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु की मान्यता को स्थापित करने वाले धवला के कर्त्ता वीरसेनाचार्य ही हैं। उनसे पूर्व वैसी मान्यता नही थी, जैसा कि राजवार्तिक आदि (पूर्ववर्ती) ग्रन्थों से स्पष्ट है। तिलोयपण्णत्ति[2] मे यही वीरसेन द्वारा स्थापित मान्यता स्वीकार की गई है।" अतएव यह रचना (तिलोयपण्णत्ति) अपने वर्तमान रूप मे वीरसेन के पश्चात्कालीन प्रतीत होती है। इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि धवलाकार के सन्मुख तिलोयपण्णत्ति

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११, किरण १, पृ० ६५-८५ तथा देखें, तिलोयपण्णत्ति, भाग २, प्रस्तावना पृ० १६-१७।

२ तिलोयपण्णत्ति यतिवृषभाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ है, जिसमे लोक के उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य का उल्लेख है (देखें, तिलोयपण्णत्ति १-१४०)। मूल तिलोयपण्णत्ति और वर्तमान उपलब्ध तिलोयपण्णत्ति मे काफी अन्तर है, ऐसा विद्वानो का अभिप्राय है (देखे जैन साहित्य और इतिहास, ले० नाथूराम प्रेमी, पृ० ६ से २१)। यतिवृषभ का काल अनुमानत: वि० स० ५३५ और वि० स० ६६६ के बीच माना गया है, जबकि वीरसेनाचार्य वि० स० ८०६ से वि० सं० ८८१ मे हुए थे, ऐसी मान्यता है (देखें, वही पृ० १४०)। इस प्रकार यतिवृषभ वीरसेन से पूर्ववर्ती हैं। किन्तु यतिवृषभ द्वारा रचित तिलोयपण्णत्ति मे बाद मे काफी परिवर्तन कर दिये गये हैं। परिणामस्वरूप तिलोयपण्णत्ति वर्तमान मे जिस रूप मे है, उसकी रचना वीरसेन के बाद की प्रतीत होती है।

सूत्र उपस्थित था और फिर भी उन्होंने केवल दो प्राचीन गाथाओं के आधार पर अपने युक्तिबल से लोक को आयतचतुरस्राकार सिद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] यदि उनके सम्मुख उपस्थित तिलोयपण्णत्ति सूत्र में वह मान्यता स्पष्ट होती, जैसी वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में है, तो न तो उन्हें उक्त विषय की उतने विस्तार से विवेचना करने की आवश्यकता पड़ती, जैसी जीवट्ठाण-क्षेत्रानुगम के पृ० १० से २२ तक की गई है और न उन्हें स्पर्शानुगम के पृष्ठ १५ पर यह कहने का साहस होता कि रज्जुच्छेदों के प्रमाण की परीक्षा विधि उन्होंने उसी प्रकार युक्तिबल से स्थापित की है, जिस प्रकार असंख्येयावलि प्रमाण अन्तर्मुहूर्त की व आयत चतुरस्रलोक की। रज्जुच्छेदों के सम्बन्ध में उन्हें अपने मतानुकूल तिलोयपण्णत्ति सूत्र प्राप्त हो गया था, अतएव उन्होंने उसका स्पष्टोल्लेख भी कर दिया है। तब कोई कारण नहीं कि यदि उन्हें उसी सूत्र-ग्रन्थ में आयतचतुरस्र लोक का भी कोई संकेत या आधार मिलता तो वे उसका प्रमाण न देते। क्योंकि उस प्रमाण की तो उन्हें बड़ी ही आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति उन्होंने केवल यह कह कर की है कि[2] लोक के उत्तर-दक्षिण भाग में सर्वत्र सात रज्जु का बाहुल्य करणानुयोग के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सूत्र में न तो उसका विधान है और न निषेध। इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि धवलाकार को ज्ञात साहित्य में उक्त मान्यता का सर्वथा अभाव था। आज भी वीरसेन से पूर्व निश्चितकालीन एक भी उल्लेख उस मान्यता का हमें प्राप्त नहीं है और इससे तो सन्देह ही नहीं रहता कि वीरसेन के सन्मुख उपस्थित तिलोयपण्णत्ति सूत्र में आयत चतुरस्राकार लोक का समर्थन करने वाला कोई उल्लेख नहीं था।"

प्रो० हीरालाल जैन ने तिलोयपण्णत्ति के रचना-काल के विषय में निष्कर्ष रूप में लिखा है[3] 'इस ऊहापोह का तात्पर्य यह है कि तिलोयपण्णत्ति

---

१. धवलाकार ने तात्कालीन 'मृदंगाकार' लोक की मान्यता का गणित के आधार पर किस प्रकार खण्डन किया है और आयतचतुरस्राकार लोक की किस प्रकार स्थापना की है, इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखें, परिशिष्ट–४।

२ ण च सत्तरज्जु बाहल्लं करणाणिओग सुत्तविरुद्धं, तस्स तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो।

—धवला, भाग ४, पृ० २२,।

३ तिलोयपण्णत्ति, भाग २, प्रो० हीरालाल जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० २०।

की रचना सर्वनन्दि कृत **लोकविभाग** के पश्चात् तथा वीरसेनाचार्य कृत **धवला** से पूर्व अर्थात् शक ३८० और ७३८ (वि० सं० ५१५ और ८७३) के बीच हुई यह अनुमान किया जा सकता है। इस रचना में परिवर्तन और संस्कार होकर वर्तमान रूप धवला की रचना के पश्चात् किसी समय उत्पन्न हुआ होगा।"

दूसरे पक्ष की ओर से पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने लेख के कुछ एक प्रमाण उपस्थित किये हैं और उसका निराकरण भी प्रथम पक्ष की ओर से हुआ है। प्रो० हीरालाल जैन इस विषय में लिखते हैं[1] : "इसके (उक्त मान्यता के) विरुद्ध पं० जुगलकिशोरजी ने तीन उल्लेख उपस्थित किये हैं, जो उनके मत से वीरसेन से पूर्वकालीन होते हुए लोक को उत्तर-दक्षिण सर्वत्र ७ रज्जु प्रमाणित करते हैं। उनमें से एक उल्लेख जिनसेन[2] कृत **हरिवंश पुराण** का है। दूसरा **स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा** का है और तीसरा **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** का।" इसका निराकरण करते हुए प्रो० हीरालाल जैन ने लिखा है—[3] "**हरिवंश-पुराण** में लोक को चतुरस्रक तो कहा है, परन्तु उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु की मान्यता का वहां कोई पता नहीं है। चतुरस्रक का अभिप्राय समचतुरस्रक भी हो सकता है। यदि चतुरस्रक कहने मात्र से ही आयतचतुरस्रक की मान्यता का अनुमान किया जा सकता हो, तो **हरिवंश पुराण** में स्पष्टतः वीरसेन को गुरु कहकर स्मरण किया गया है। उन्हें कवि चक्रवर्ती की उपाधि भी दी गई है और उनकी निर्मल कीर्ति का उल्लेख किया गया है।[4] यही नहीं, किन्तु वीरसेन के शिष्य जिनसेन का और उनकी रचना **पार्श्वाभ्युदय** का भी वहां

---

१. वही, पृ० १६, १७।

२. जिनसेनाचार्य पुन्नाट संघ के आचार्य थे। हरिवंश पुराण की रचना वि० सं० ८४० में हुई थी। एक अन्य आचार्य जिनसेन जो कि वीरसेनाचार्य के शिष्य थे, इनसे भिन्न हैं। ये जिनसेनाचार्य, वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य (वीरसेनाचार्य के शिष्य) प्रायः समकालीन थे। (देखें, **जैन साहित्य और इतिहास**, पृ० १३६-१४०)।

३ तिलोयपण्णत्ति, भाग-२, प्रस्तावना, पृ० १६,१७।

४ जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते॥

—**हरिवंश पुराण**, प्रथम सर्ग, श्लोक ३९।

उल्लेख है।[1] ऐसी परिस्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि हरिवश पुराण का उल्लेख वीरसेन के पूर्व का है और उक्त पुराणकार वीरसेन की रचना से अपरिचित थे ? इसके विपरीत उक्त उल्लेख से तो यही सिद्ध होता है कि हरिवश-पुराणकार (जिनसेनाचार्य) वीरसेन की रचना से सुपरिचित और प्रभावित थे।

"हा, स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे अवश्य लोक के उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु की मान्यता सुस्पष्ट है। किन्तु प० जुगलकिशोरजी ने इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा है कि वह एक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है और वीरसेन से कई शताब्दि पहले बना हुआ है। किन्तु इस ग्रन्थ का वीरसेन से पूर्ववर्ती होने का उन्होने एक भी प्रमाण उपस्थित नही किया है। इस परिस्थिति मे उक्त उल्लेख को वीरसेन से पूर्ववर्ती मानना सर्वथा निराधार है।

"जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[2] से भी उक्त मान्यता का ग्रहण सुस्पष्ट है। किन्तु इसका समय-निर्णय सर्वथा काल्पनिक है, निश्चित नही। मुख्तारजी ने स्वय कहा है, 'यदि यह कल्पना ठीक हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का समय शक ६७० अर्थात् वि० स० ८०५ के आसपास का होना चाहिए। किन्तु जब तक कल्पना को निश्चय का रूप न दिया जाये, तब तक उसके आधार पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति धवला से पूर्वकालीन नही स्वीकार की जा सकती।' स्वय ग्रन्थकार (पद्मनन्दि) के उल्लेखानुसार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की रचना पारियात्र देश के बारानगर मे शक्तिकुमार राजा के राज्य-काल मे हुई थी।[3] गुहिल वशीय राजा शक्तिकुमार का एक शिलालेख वैशाख सुदी १, वि० स० १०३४ का आहाड (उदयपुर के समीप) से मिला है। उसीके समय के और दो लेख जैन मन्दिरो मे भी मिले हैं, किन्तु उनमे सवत् के अश जाते रहे

---

१ यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसस्तुति ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति सकीर्तयत्यसौ ॥

— वही, प्रथम सर्ग श्लोक ४० ।

२ यह ग्रन्थ आचार्य पद्मनन्दि द्वारा रचित है और इसका पूरा नाम 'जम्बूद्वीपपण्णत्तिसग्रहो' है। श्वेताम्बर आगम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र से यह सर्वथा स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

३ वारा णयरम्म पहू णरुत्तमो सत्तीभूपालो ॥

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसग्रह, १३-१६६ ।

देसम्मि पारियत्ते जिणनवणविभूसिए रम्मे ॥

—वही, १३-१६८ ।

है। पद्मनन्दि (**जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** के कर्त्ता) ने अपने इस ग्रन्थ की रचना इसी राजा के समय मे की थी,[१] अत यह रचना ११ वी शताब्दी की हो सकती है।"

इस समग्र चर्चा का फलित यही होता है कि लोक के उतर-दक्षिण बाहुल्य की सवत्र सात रज्जु की स्थापना आचार्य वीरसेन की ही मौलिक देन है। इसी मान्यता को अधिक पुष्ट प्रमाण मिले हैं और अधिकाश विद्वानो ने इसको स्वीकार किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि धवलाकार वीरसेनाचार्य से पूर्व दिगम्बर-परम्परा मे लोक के आकार के विषय मे गणित की दृष्टि से कोई सुस्पष्ट मान्यता नही थी। उस समय सम्भवत श्वेताम्बर आचार्यो मे मृदगाकार लोक की कल्पना प्रचलित थी, उसका उल्लेख धवला मे किया गया है। किन्तु उस मान्यता मे गाणितिक दृष्टि से यह त्रुटि थी कि लोक का समग्र घनफल ३४३ घन रज्जु से बहुत कम था। वीरसेनाचार्य ने गाणितिक आधारो पर मृदगाकार लोक का घनफल निकाल कर दिखा दिया कि यह मान्यता ३४३ घन-रज्जु की मान्यता के साथ सगत नही हो सकती है। तदुपरान्त उन्होने दो प्राचीन गाथाओ के आधार पर यह बताया कि लोक का घनफल अधोलोक मे १९६ घन रज्जु और ऊर्ध्व लोक मे १४७ घन-रज्जु होना चाहिए। उन्होने अपनी गाणितिक-प्रतिभा द्वारा खोज निकाला कि ऐसा फलित तभी हो सकता है, जबकि लोक की एक विमिति को सर्वत्र सात रज्जु मान लिया जाये। इस परिकल्पना के आधार पर उन्होंने लोक की जो आकृति बनाई, उसमे लोक का समग्र घनफल ३४३ घन रज्जु, अधोलोक का १९६ घनरज्जु और ऊर्ध्वलोक का १४७ घनरज्जु हुआ। इस आकृति मे मूल मान्यताए जैसे कि समग्र ऊचाई १४ रज्जु, अधोलोकान्त मे बाहुल्य सात रज्जु, लोक-मध्य मे १ रज्जु, ऊर्ध्वलोक के मध्य मे ५ रज्जु और ऊर्ध्वलोक के

---

१ डा० हीरालाल जैन ने **तिलोयपण्णत्ति** की प्रस्तावना में **तिलोयपण्णत्ति** की आराधना, मूलाचार, हरिवश पुराण, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि से तुलना करते हुए लिखा है कि **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** मे **त्रिलोकसार** की अनेक गाथाए ज्यो की त्यो पाई जाती हैं, अतः यदि वे उससे भी प्राचीन किसी अन्य ग्रन्थ की नही हैं, तो यह प्राय निश्चित है कि इसकी रचना **त्रिलोकसार** के पश्चात् हुई है और **त्रिलोकसार** का रचना-काल वि० स० १०५० के लगभग है। अतएव शक्तिकुमार के समय मे, विक्रम की ग्यारहवी 'शताब्दि' के उत्तरार्ध मे **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** का रचा जाना ठीक ही है।

—देखें, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६१।

अन्त मे १ रज्जु भी सुरक्षित रह गई । इस प्रकार वीरसेन द्वारा प्रतिपादित लोकाकृति दिगम्बर-परम्परा मे सर्वमान्य हो गई ।

श्वेताम्बर परम्परा मे लोक के विषय मे मूल मान्यताओ मे उपरोक्त मान्यताओ के अतिरिक्त इन मान्यताओ का भी समावेश होता है

१ लोक का आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) समान ऊचाई पर समान होना चाहिए ।

२ लोक की लम्बाई-चौडाई मे उत्सेध की अपेक्षा क्रमिक वृद्धि-हानि होनी चाहिए । अर्थात् लोक के ठीक मध्य मे स्थित १ रज्जु आयाम-विष्कम्भ वाले क्षुल्लक प्रतर से अधोलोक की ओर जाने पर अधोमुखी तिर्यक् वृद्धि (लम्बाई-चौडाई मे वृद्धि), ऊर्ध्वलोक की ओर जाने पर ऊर्ध्वमुखी तिर्यक् वृद्धि और ब्रह्मलोक के पास जहा लोक का बाहुल्य (लम्बाई-चौडाई) ५ रज्जु है, वहा मे ऊपर जाने पर ऊर्ध्वमुखी तिर्यक् हानि होती है। इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि "क्षुल्लक प्रतर से[1] आगुल का असख्यातवा भाग

---

१. चवदह रज्जु ऊचे लोक के ठीक मध्य मे, जहा लोक की लम्बाई-चौडाई १ रज्जु मानी गई है, वहा जो आकाश के प्रतर-द्वय हैं, उन्हे क्षुल्लक प्रतर कहते हैं, क्योकि ये प्रथम घर्मा नामक पृथ्वी के सबसे छोटे प्रतर हैं । क्षुल्लक प्रतर से ऊपर या नीचे जाने पर लोक की लम्बाई-चौडाई मे क्रमश वृद्धि होती है । लोक-प्रकाशकार ने लिखा है

घर्माघनोदधिघनतनुवातान् विहायसः ।
असख्यभाग चातीत्य, मध्य लोकस्य कीर्तितम् ।।
अस्मादूर्ध्वमधश्चैव, सपूर्णा सप्त रज्जव ।
अथ त्रयाणा लोकाना, प्रत्येक मध्यमुच्यते ।।
घर्माया सर्वत क्षुल्लमत्रास्ति प्रतरद्वयम् ।
मण्डकाकारमेकैकखप्रदेशात्मक च तत् ।।
रुचकेऽत्र प्रदेशानां, यच्चतुष्कद्वय स्थितम् ।
तत्समश्रेणिक तच्च, विज्ञेय प्रतरद्वयम् ।।
लोकवृद्धिरूर्ध्वमुखी, तयोरुपरिसस्थितात् ।
अध स्थितात्पुनस्तस्माल्लोकवृद्धिरधोमुखी ।।

—लोकप्रकाश, सर्ग १२, श्लोक ४६ से ५३ ।

ऊपर जाने पर लोक की तिर्यक् वृद्धि आगुल के असख्यातवे भाग[1] जितनी होती है और तिर्यक् बढा हुआ आगुल का असख्यातवा भाग ऊर्ध्वगत आगुल के असख्यातवे भाग से कम है। इसी प्रकार अधोमुखी वृद्धि आदि है।"

इन मान्यताओ का यदि स्वीकार किया जाये, तो 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य' की कल्पना सगत नही होती है। इसलिए श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्यो ने 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु' वाली मान्यता को स्वीकार नही किया है। दूसरी ओर ३४३ घन रज्जु वाली मान्यता भी वे स्वीकार करते हैं। मूल मान्यताओ को सुरक्षित रखते हुए, लोक के आकार का चिन्तन श्वेताम्बर ग्रन्थो में किया गया है। 'वर्गित लोकमान' मे जिस पद्धति का उपयोग हुआ है, उससे लगता है कि आचार्यो ने समस्या को सुलझाने का गाणितिक आधारो पर प्रयत्न किया है। जिस प्रकार लोक के समग्र ५६ 'लम्बकोणीय-समानान्तर षट्-फलको' मे विभाजन किया है, उससे यह लगता है कि वह प्रयत्न 'आधुनिक समाकलनगणित' का एक प्रारम्भिक रूप है। 'वर्गित-लोकमान' मे लिये गए वैमितिक मान लोक के वास्तविक वैमितिक-मान नही है, क्योकि श्वेताम्बर परम्परा की मूल मान्यता के अनुसार लोक की तिर्यक् वृद्धि-हानि का सातत्य होना चाहिए, जबकि 'वर्गित-लोकमान' मे प्रत्येक खण्डक मे एक-सी लम्बाई-चौडाई है। अत स्पष्ट है कि 'वर्गित-लोकमान' मे जिस आकार की कल्पना की गई है, वह केवल काल्पनिक है और विषम आकार वाले लोक का घनफल निकालने के लिए सुविधाजनक बनाया गया आकार है।

---

१ पूर्णैकरज्जूपृथुलात्, क्षुल्लकप्रतरादित ।
ऊर्ध्व गतेऽङगुलासख्यभागे तिर्यग्विवर्द्धते ॥
अङ्गुलस्यासख्यभाग ,पारमत्रेति भाव्यताम् ।
ऊर्ध्वगादङगुलस्याशादशस्तिर्यग्गतो लघु ॥
एवमधोऽपि ।
एव चोर्ध्वलोकमध्य, पृथुल पञ्च रज्जव ।
हीयतेऽतस्तथैवोर्ध्व , रज्जुरेकाऽवशिष्यते ॥
किञ्च—
रज्जुमानाद् द्वितीयस्मात् , क्षुल्लकप्रतराच्चिति ।
अधोमुखी च तिर्यक् चाङ्गुलासख्याशमानिका ॥
एव चाधोलोकमूले, पृथुत्व सप्त रज्जव ।
—वही, सर्ग १२, श्लोक ९९ से १०३ ;

लोक का कुल आयतन ३४३ घनरज्जु है, जिसमे अधोलोक का घनफल १९६ घनरज्जु और ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घनरज्जु है, इस मान्यता का उल्लेख भी श्वेताम्बर ग्रन्थो[1] मे है। किन्तु इसको सिद्ध करने की कोई भी गारिणतिक विधि वहा उपलब्ध नही होती है। जिस व्यावहारिक विधि के आधार पर लोक का घनफल ३४३ घन रज्जु सिद्ध किया गया है, उसकी चर्चा की जा चुकी है, किन्तु वह विधि गणित की दृष्टि से अपूर्ण लगती है।

---

१ सग्रहणीसूत्र की हस्तलिखित प्रति मे से जो चित्र ग्लेसनहाप द्वारा लिखित देर जैनिजिमुस मे छपा है, उसमे इस प्रकार विवरण दिया गया है:

ऊर्ध्व सवर्तक	(घन)	खण्डूक	९४०८
	सूची	(रज्जु)	२३५२
	प्रतर	(रज्जु)	५८८
	घन	(रज्जु)	१४७
अधो सवर्तक .	(घन)	खण्डूक	१२५४४
	सूची	(रज्जु)	३१३६
	प्रतर	(रज्जु)	७८४
	घन	(रज्जु)	१९६
उभौ मिलितौ	(घन)	खण्डूक	२१९५२
	सूची	(रज्जु)	५४८८
	प्रतर	(रज्जु)	१३७२
	घन	(रज्जु)	३४३

सर्वातत लोक स्थापना :

२	१	१	३
२	१	१	३
२	१	१	३

इस चित्र मे समग्र लोक को विभाजित कर तीन विमितियाँ सात-सात रज्जु किस प्रकार होती हैं, यह बताया गया है, ऐसा लगता है। लोक प्रकाश मे भी समग्र लोक के (घन) खण्डूको की सख्या २१९५२ बताई गई है। जैसे—

चतुर्भिर्गुणने त्वासा, खण्डुकान्येकविंशति ।
सहस्राणि नवशती, द्विपञ्चाशत्समन्विता ॥

—लोकप्रकाश सर्ग १२, श्लोक १४१।

आधुनिक गणित-पद्धतियो के प्रकाश में

यदि आधुनिक गाणितिक विषयों के प्रकाश मे उक्त समस्या का अध्ययन किया जाये, तो ऐसा समाधान निकल सकता है, जो उल्लिखित मूल मान्यताओ के साथ सगत हो और उसमे गाणितिक विधियो की पूर्णता भी सुरक्षित रहे। इस प्रकार का प्रयत्न करने पर[1] यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक का ३४३ घन रज्जु आयतन श्वेताम्बर-परम्परा के द्वारा प्रतिपादित मूल मान्यताओ पर निकाला जा सकता है।

इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप हम लोकाकृति के जिस निर्णय पर पहुंचते हैं, उसकी ये विशेषताएं उल्लेखनीय हैं

१ धवलाकार आचार्य वीरसेन ने लोक के सम्पूर्ण घनफल को ३४३ घन-रज्जु सिद्ध करने के लिए तथा अधोलोक के घनफल को १९६ घन-रज्जु और ऊर्ध्वलोक के घनफल को १४७ घन-रज्जु सिद्ध करने के लिए लोक के उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु मोटाई की कल्पना की है, क्योकि उनके मतानुसार लोक को अन्य प्रकार से मानने पर उक्त घनफल सम्भव नहीं है।[2] इस नवीन आकृति मे सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य माने बिना भी समग्र लोक का घनफल ३४३ घन-रज्जु, ऊर्ध्वलोक का १४७ घन-रज्जु और अधोलोक का १९६ घन-रज्जु सम्भव हो जाता है।

२ श्वेताम्बर-परम्परा एव दिगम्बर-परम्परा की सभी मूलभूत मान्यतायें इस नवीन विधि मे अखण्डित रह जाती हैं। यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य' की मान्यता दिगम्बर-परम्परा की मूल मान्यता नही है, जैसे धवलाकार ने स्वय कहा है।[3] इसके अतिरिक्त धवलाकार ने दिगम्बर-परम्परा की जिन मूलभूत मान्यताओ का उल्लेख किया है, उनके साथ 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य' वाली मान्यता इतनी सगत नहीं होती है, जितनी इस नवीन विधि मे प्रतिपादित लोक-आकृति होती है—जैसे धवलाकार ने मूलभूत मान्यता की द्योतक तीन गाथाओ को उद्धृत

---

१. आधुनिक 'समाकलन-गणित' मे ठोस आकृतियो के आयतन निकालने की विधि के आधार पर लोकाकृति का आयतन निकालने पर ३४३ घन-रज्जु का आयतन किस प्रकार हो सकता है, इसके लिए देखें, परिशिष्ट—४।

२. देखें, षट्खण्डागम, भाग-४, पृ० २०।

३ ण च सत्तरज्जु बाहल्लं करणाणिओग सुत्तविरुद्ध, तस्स तत्थ विधिप्पडिसेधा भावादो।

—वही, पृ० २२।

करते हुए लिखा है[1]—"नीचे वेत्रासन के समान मध्य मे झल्लरी के समान और ऊपर मृदग के समान आकार वाला तथा मध्यविस्तार (अर्थात् एक रज्जु) से चौदह गुना लम्बा लोक है।

"यह लोक निश्चयत अकृत्रिम है, अनादि-निधन है, स्वभाव से निर्मित है, जीव और अजीव द्रव्यो से व्याप्त है, नित्य है तथा ताल वृक्ष के आकार वाला है।

"लोक का विष्कम्भ (विस्तार) चार प्रकार का है, जिसमे अधोलोक के अन्त मे सात रज्जु, मध्यलोक के पास एक रज्जु, ब्रह्मलोक के पास पाच रज्जु और ऊर्ध्वलोक के अन्त मे एक रज्जु विस्तार है।"

धवलाकार की मान्यता (उत्तर दक्षिण सर्वत्र सप्त रज्जु बाहुल्य) का जो विरोध इन तीन गाथाओ के साथ दिखाई पडता है, उसका निराकरण करते हुए वे लिखते हैं[2]—"इस लाक (आयतचतुरस्राकार) का प्रथम गाथा के साथ भी विरोध नही है, क्योकि एक दिशा मे वेत्रासन और मृदग का आकार दिखाई देता है। यदि कहा जाए कि अभी बताये गए लोक मे (मध्य

---

१ धवलाकार ने मूलभूत मान्यता की द्योतक निम्न तीन गाथाए उद्धृत की है ·

हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुइं गणिहो।
मज्झिमवित्थारेण य चोद्दसगुणमायदो लोगो॥
लोगो अकट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वतो।
जीवाजीवेहि फुडो णिच्चो तलरुक्खसठाणो॥
लोयस्स य विक्खभो चउप्पयारो य होइ णायव्वो।
सत्तेक्कगो य पचेक्कगो य रज्जु मुणेयव्वा॥

—वही, पृ० ११।

२ ण च एदस्स लोगस्स पढमगहाए सह विरोहो, एगदिसाए वेत्तासण-मुदिंगसठाणदसणादो। ण च एत्थ झल्लरीसठाण णत्थि, मज्झम्हि सयभुरम णोदहिपरिक्खित्तदेसेण चदमण्डलमिव समलदो असखेज्जजोयणरुदेण जोयण-लक्खबाहल्लेण झल्लरीसमाणत्तादो। ण च दिट्ठतो दारिट्ठतिएण सव्वहा समाणो, दोण्ह पि अभावप्पसगादो। ण च तालरुक्खसठाणमेत्थ ण सभवइ, एगदिसाए तालरुक्खसठाणदसणादो। ण च तईयाए गाहाए सह विरोहो, एत्थ वि दोसु दिसासु चउव्विहविक्खभदसणादो।

—वही, पृ० २१-२२।

भाग पर) झल्लरी का आकार नही है, सो भी नही, क्योकि मध्यलोक में स्वयम्भूरमण समुद्र से परिक्षिप्त तथा चारो ओर से असंख्यात योजन विस्तार वाला और एक लाख योजन मोटाई वाला यह मध्यवर्ती प्रदेश चन्द्र मण्डल की तरह झल्लरी के समान दिखाई देता है और दृष्टान्त सर्वथा दार्ष्टान्त के समान नही होता है, अन्यथा दोनो के ही अभाव का प्रसग आ जायेगा। यदि कहा जाये ऊपर बताये गए इस लोक के आकार मे तालवृक्ष के समान आकार सम्भव नही है, सो भी नही, क्योकि एक दिशा से देखने पर तालवृक्ष के समान सस्थान दिखाई देता है और तीसरी गाथा के साथ भी विरोध नही आता है, क्योकि, यहा पर भी पूर्व और पश्चिम इन दोनो ही दिशाओ मे गाथोक्त चारों ही प्रकार के विष्कम्भ देखे जाते हैं "   ।"

इस प्रकार धवलाकार ने जिन शकाओ का समाधान किया है, वे नवीन आकार वाले लोक के विषय मे उठती ही नही। क्योकि इस नवीन आकार मे चारो ओर से लोक का समान आकार दिखाई देता है। दूसरी बात यह है कि धवलाकार द्वारा दिया गया समाधान ही इतना सन्तोषजनक नही है, क्योकि गाथाओ मे कही भी नही कहा गया है कि केवल एक ही दिशा मे वेत्रासन आदि आकार वाला लोक है। अत. सामान्यतया इस प्रकार के वर्णन से तो यही अर्थ निकलना चाहिए कि सब दिशाओ मे लोक का वेत्रासन आदि आकार दिखाई देता है। तीसरी गाथा मे 'विष्कम्भ' के विषय मे भी जो समाधान दिया गया कि केवल पूर्व-पश्चिम मे चार प्रकार के विष्कम्भ देखे जाते हैं, यह भी इतना सन्तोषजनक नही लगता, क्योकि गाथा मे 'पूर्व-पश्चिम' का कही भी उल्लेख नही है। प्रत्युत विष्कम्भ शब्द साधारणतया सर्वत्र समान विस्तार हो तभी उपयोग मे आता है। अत तीसरी गाथा मे तो यही अर्थ निकलता है कि पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, विस्तार सात रज्जु, एक रज्जु, पाच रज्जु और एक रज्जु है। इन शकाओ का समाधान नवीन आकृति मे सहज रूप मे मिल जाता है, क्योकि नवीन आकृति पूर्णरूप मे सममित (Symmetrical) है और गाथाओ मे बताया गया आकार तथा विष्कम्भ सभी दिशाओ मे समान रूप से मिलता है।

श्वेताम्बर-परम्परा की मूल मान्यताओ की चर्चा की जा चुकी है और नवीन आकृति से स्पष्ट हो जाता है कि श्वेताम्बर-परम्परा की सभी मूल मान्यताए नवीन आकृति मे सुरक्षित हैं।

३ इस नवीन आकृति का आधार पूर्णरूपेण आधुनिक गणित में मान्य विधिया है।

४. आकृति की वक्रता (Curvature) आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं के साथ सुसंगत होती है और इस सदृशता के आधार पर लोक की भूमिति का युक्लिडियेतर होना असम्भव नहीं माना जा सकता।[1]

इन विशेषताओं के अतिरिक्त गणित और लोक के सम्बन्ध से अन्य मान्यताओं की पुष्टि भी इससे होती है।[2]

रज्जु का अंकीकरण

रज्जु जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जैन दर्शन में जहां लोक के सम्बन्ध से दूरी का विवेचन हुआ है, वहां अधिकाशतया 'रज्जु' शब्द का उपयोग हुआ है। 'रज्जु' को हम जैन ज्योतिर्भौतिकी (strophysics) का क्षेत्र-मान कह सकते है। व्यवहारिक भाषा में एक रज्जु का मान असंख्यात योजन बताया गया है। कुछ विद्वानों ने रज्जु को अंकों के द्वारा व्यक्त करने का—अंकीकरण करने का प्रयत्न किया है। इनमें पाश्चात्य विद्वान् और गणितज्ञ सी० टी० कोलब्रूक (C. T. Colebrook) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने जैन दर्शन के गाणितिक तत्त्वों के अध्ययन के आधार पर 'रज्जु' के विषय में परिभाषा दी है। कोलब्रूक के अनुसार 'रज्जु' का मान निम्नोक्त परिभाषा में दिया गया है :

'२,०५७,१५२ योजन प्रतिक्षण की गति से निरन्तर चलने वाला देव छः महीने में जितनी दूरी तय करता है, उसे एक रज्जु कहा जाता है।"[3]

इस कथन में केवल रज्जु की व्याख्या दी गई है। इसका उपयोग करके श्री जी० एल० जैन ने रज्जु के अंकीकरण का प्रयत्न किया है।[4] श्री जैन ने प्रथम तो आइन्स्टीन के विश्व के आयतन और जैन दर्शन में मान्य लोक के आयतन का समीकरण करके निम्नोक्त प्रकार से रज्जु का मान निकाला है.

---

१ जैन मान्यता में लोक की भूमिति के युक्लिडियेतर होने की संभावना के विषय में विस्तृत चर्चा के लिए देखें, परिशिष्ट—४।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखें, परिशिष्ट—४।

३ इस परिभाषा को जर्मन विद्वान् फोन ग्लेसनहाप ने अपनी जर्मन भाषा में लिखी हुई पुस्तक देर जैनिजिमुस में पृ० २२२ पर उद्धृत किया है। कोलब्रूक ने किस आधार पर यह परिभाषा दी है, इसका वहां कोई उल्लेख नहीं है।

४ देखें, कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ११६-११७।

[1]आइन्स्टीन के विश्व की त्रिज्या=१,०६८,०००,००० प्रकाश-वर्ष जहा एक प्रकाश-वर्ष=$५ ८८ \times १०^{१२}$ माईल है।

विश्व की आकृति पूर्ण गोला क समान होने से,

गोलाकारीय[2] विश्व का आयतन $= \frac{४}{३}\pi$ (त्रिज्या)^{३}

$= \frac{४}{३}\pi (१०६८ \times १०^{६} \times ५ ८८ \times १०^{१२})^{३}$ घन माईल

$= १०३७ \times १०^{६३}$ घन माईल

यदि इस आयतन का जैन दर्शन के लोक आयतन ३४३ घन रज्जु के साथ समीकार किया जाये, तो १ रज्जु $= १ ४५ \times १०^{२१}$ माईल होता है। और यदि २३९ घन रज्जु के साथ समीकार किया जाये, तो

१ रज्जु=$१ ६३ \times १०^{२१}$ माईल होता है।

कोलब्रूक द्वारा दी गई व्याख्या का श्री जैन ने इस प्रकार उपयोग किया है

१ योजन=४००० माईल

और १ क्षण=१ प्रतिविपलाश[3]$= \frac{१}{५४००००}$ मिनट

---

१. विश्व-त्रिज्या का यह मान वर्तमान मे वैज्ञानिको को मान्य नही रहा है। इसकी चर्चा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत हो चुकी है, देखे; पृष्ठ ५९, ६०।

२ यह सूत्र (Formula) युक्लिडीय भूमिति के लिए है, जबकि आइन्स्टीन के विश्व मे युक्लिडियेतर भूमिति के सूत्र का उपयोग होना चाहिए। यह सूत्र इस प्रकार है -

यदि त्रि=गोलाकारीय विश्वाकाश की त्रिज्या हो,

तो, आयतन=$२\pi^{२}$त्रि^{३}

यह आयतन युक्लिडीय भूमिति के सूत्र से निकाले गये आयतन से अधिक होता है। गोलाकारीय विश्व-आकाश का अर्थ 'युक्लडीय गोला' कहना गलत होगा। इस विषय की चर्चा के लिए देखे, दी एक्सपाण्डिग युनिवर्स, ले० सर आर्थर एडिग्टन; पृ० ७१।

३ प्रतिविपलाश से लेकर घडी तक का मान-कोष्ठक इस प्रकार है:

६० प्रतिविपलाश=१ प्रतिविपल
६० प्रतिविपल =१ विपल
६० विपल =१ पल
६० पल =१ घडी =२४ मिनट

∴ १ मिनट $= \frac{६० \times ६० \times ६० \times ६०}{२४}$

=५४०००० प्रतिविपलाश

—देखें, कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ११७, टिप्पण।

अतः २,०५७,१५२ योजन = ८,२२८,६०८,००० माईल

तथा ६ महीने = ६ × ३० × २४ × ६० × ५४०००० प्रतिविपलाश

∴ ६ महीने उक्त वेग से गति करने से तय की गई दूरी

=८,२२८,६०८,००० × ६ × ३० × २४ × ६० × ५४०००० माईल

=१.१५ × $१०^{२१}$ माईल

अर्थात् इस विधि से

१ रज्जु = १ १५ × $१०^{२१}$ माईल होता है ।

इस प्रकार दोनो विधियो से निकाला गया मान एक दूसरे से बहुत निकट का है, फिर भी श्री जैन द्वारा किया गया यह अ कीकरण निम्न कारणो के आधार पर यथार्थ नही माना जा सकता

१ इस प्रकार से निकाले गए रज्जू का मूल्य $१०^{२२}$ माईल से भी कम है, जबकि रज्जु का मूल्य असख्यात योजन माना गया है, जिसका उल्लेख स्वय श्री जैन ने भी किया है ।[१] 'असख्यात' की अपेक्षा मे $१०^{२२}$ की सख्या नगण्य-सी हो जाती है ।

२ 'क्षण' के स्थान मे 'प्रतिविपलाश' का मूल्य लिया गया है, यह उपयुक्त नही लगता । 'क्षण' का वास्तविक अर्थ काल का सूक्ष्मतम अ श होना चाहिए । इस बात का स्वीकार स्वय श्री जैन ने भी किया है ।[२] 'क्षण' के स्थान मे प्रतिविपलाश का मूल्य स्थापित करने से 'रज्जु' का मूल्य वास्तविक मान से बहुत ही कम हो गया है ।

३. आइन्स्टीन के विश्व-सम्बन्धी दिए गए आकडे अब मान्य नही रहे हैं । विश्व-विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार तो विश्व का निश्चित आयतन हो ही नही सकता ।

इस प्रकार की वैज्ञानिक सदिग्धताओ से और गणित-सम्बन्धी उपयुक्त सूत्रो का उपयोग न होने से श्री जैन द्वारा किया गया अ कीकरण यथार्थ नही लगता । इन कारणो के आधार पर यह नि सदिग्धतया कहा जा सकता है कि रज्जु का यथार्थ अ कीकरण नही हुआ है । कोलब्रूक ने भी केवल रज्जु की परिभाषा ही दी है, गणना नही की है ।

---

१ देखें, वही, पृ० ११६, टिप्पण न० १ ।

२ देखें वही पृ० ११८ ।

अब तक अन्य किसी विद्वान् के द्वारा रज्जु का अंकीकरण नहीं हुआ, ऐसा लगता है। यहां पर हम रज्जु का अंकीकरण निम्नोक्त दो प्रकार से करने का प्रयत्न करेंगे।

१. कोलब्रूक द्वारा दी गई व्याख्या का उपयोग

कोलब्रूक की व्याख्या मे 'क्षण' के स्थान मे काल का सूक्ष्मतम अंश 'समय' का स्थापन होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार 'समय' काल का अविभाज्य अंश है।[१] ६ महीने के समयो की संख्या निकालने के लिए पहले एक आवलिका के समयो की संख्या निकालनी आवश्यक है। एक आवलिका के समयो की संख्या उतनी होती है, जितना कि जघन्य-युक्त-असंख्यात[२] (ज० यु० अ०) का मान होता है। [३]'जघन्य-युक्त-असंख्यात' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस संख्या का मान उतना है, जितना 'जघन्य-परीत-असंख्यात' (ज० प० अ०) को 'जघन्य-परीत-असंख्यात' से गुणने पर होता है। किन्तु इसकी सही गणना करना अत्यन्त ही जटिल कार्य है।[४]

इस संख्या को अंकों के द्वारा व्यक्त करना भी अति कठिन कार्य है। रज्जु के मान की गणना करने के लिए हम यहां पर एक कल्पना कर सकते है कि[५] 'उत्कृष्ट संख्यात' के स्थान पर हम 'शीर्षप्रहेलिका' नामक संख्या का प्रयोग कर सकते हैं।[६] ज० प० अ० का मान परिभाषा के अनुसार 'उत्कृष्ट संख्यात' से केवल एक अधिक है। अर्थात्

---

१ देखें परिशिष्ट—२।

२ देखें, परिशिष्ट—३।

३ अनुयोगद्वारसूत्र, 'असंख्यासंख्यक' विषय,

जघन्ययुक्तासंख्य तदावलीसमयै समम्।

—लोकप्रकाश, सर्ग १, श्लोक १८०।

४ देखें, परिशिष्ट—३।

५ देखें, वही।

६ यद्यपि यह कल्पना मूलतः यथार्थ नही है, क्योंकि 'उत्कृष्ट संख्यात' का मान 'शीर्षप्रहेलिका' से बहुत अधिक है, फिर भी 'रज्जु' के मान की न्यूनतम मर्यादा को निर्धारित करने के लिए यह कल्पना करनी होगी।

शीर्षप्रहेलिका के लिए देखें अनुयोगद्वारसूत्र कालसमवतार विषय, भगवतीसूत्र, ६-७-२४६, २४७ तथा परिशिष्ट—२।

जo पo अo = उत्कृष्ट सख्य त + १

अब क्योंकि,

(जo पo अo)

जo युo अo=(जo पo अo)

और हमारी कल्पना के आधार पर

उत्कृष्ट सख्यात=शीर्षप्रहेलिका

इसलिए,

(शीर्षप्रहेलिका + १)

जo युo अo=(शीर्षप्रहेलिका + १)

शीर्षप्रहेलिका का मान श्वेताम्बर परम्परा मे दो प्रकार से मिलता है—

माथुरी वाचना[1] पर आधारित परम्परा के अनुसार शीर्षप्रहेलिका का मान—

($८४,००,०००^{२८}$) है, जो कि अको मे लिखने पर—

७५८,२६३,२५३,०७३,०१०,२४१,१५७,९७३,५६९,९७५,६९६,४०६,
२१८,९६६,८०८,०८० १८३,२९६ $\times १०^{१४०}$

जिसको सक्षेप मे लिखने पर,

$७ ५८ \times १०^{१९३}$ लगभग होता है।

वालभ्य वाचना[2] के अनुसार यह मान—

($८४,००,०००^{३६}$) है, अर्थात्

१८७,९५५,१७९,५५०,११२,५९५,४१९,००९,६९९,८१३,४३०,७७०,
७९७,४६५,४९४,२६१,९७७,७४७,६५७,२५७,३४५,७१८,६८१,६ $\times १०^{१८०}$

जिसको सक्षिप्त मे लिखने पर,

$१ ८७ \times १०^{२४८}$ लगभग होता है।

शीर्षप्रहेलिका के उक्त मानो मे से हम यहा पर न्यूनतम मान अर्थात् माथुरी वाचना के अनुसार दिए गए मान का उपयोग करेंगे।

शीर्षप्रहेलिका का मान एक की अपेक्षा मे बहुत बडा है, अत जo युo अo की परिभाषा मे (शीर्षप्रहेलिका + १) के स्थान पर हम 'शीर्ष-प्रहेलिका' ले सकते है।

१ लोक प्रकाश, २९-११,१२।

२ वही, २९-२१।

इस प्रकार,

$$\text{ज० यु० अ०} = (७५८ \times १०^{१६३})^{(७५८ \times १०^{१६३})}$$

यह मह्या एक आवलिका के समयो की है।

परिशिष्ट—१ मे दिए गए कोष्ठक से,

१ मुहूर्त (४८ मिनट)=१,६७,७७,२१६ आवलिका

६ मास = ५४०० मुहूर्त

अब, परिभाषा के अनुमार, रज्जु वह अन्तर है, जो ६ मास मे '२,०५७, १५२ योजन प्रति समय' की गति से तय किया जाता है। अत. १ रज्जु

$$= ५४०० \times १,६७,७७,२१६ \times (७५८ \times १०^{१६३})^{(७.५८ \times ११^{१६६})} \times २,०५७,१५२ \text{ योजन।}$$

इस गुणाकार का सन्निकट फल—

$$१ \text{ रज्जु} = १.८६ \times १०^{\{(१४७ \times १०^{१६२}) + १७\}} \text{ योजन}$$

लगभग है। इस प्रकार रज्जु का न्यूनतम मान हमने 'योजन' मे निकाला। 'योजन' के माप को आधुनिक मापो मे पग्गिणत करने की विधि के विषय मे मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार द्वीप, समुद्र आदि की लम्बाई-चौडाई आदि मापने के लिए विशेष प्रकार के योजन का उपयोग होता है, जो सामान्य योजन से १००० गुना है।[1] सामान्य योजन ४ कोश का माना गया है।[2] दिगम्बर परम्परा के अनुमार द्वीप आदि को मापने वाला योजन सामान्य योजन मे ५०० गुना है।[3]

'कोश' और आधुनिक 'माईल' (=५२८० फीट), के बीच निम्न सम्वन्व है :[4]

(१) १ योजन=८००० माईल

अथवा

(२) १ योजन=४००० माईल

---

१ लोक प्रकाश, १-२१ से ३६,४३।

२. देखें, परिशिष्ट—१।

३ तिलोयपण्णत्ति, १-१०८।

४. देखें, परिशिष्ट—१।

इन मूल्याकनो का उपयोग करने पर माईलो मे १ रज्जु का मान क्रमश निम्नोक्त आता है

(१) १ रज्जु=$१४ ८८ \times १०^{\{(१ ४७ \times १०^{१९६}) + २०\}}$ माईल

(२) १ रज्जु=$७.४४ \times १०^{\{(१ ४७ \times १०^{१९६}) + २०\}}$ माईल

इन मानो को हम प्रकाश-वर्ष मे भी व्यक्त कर सकते है। क्योकि १ प्रकाश-वर्ष=$५ ८८ \times १०^{१२}$ माईल है, अत

(१) १ रज्जु=$२ ९१ \times २०^{\{(१ ४७ \times १०^{१९६}) + ८\}}$ प्रकाश-वर्ष

(२) १ रज्जु=$१ ४५ \times १०^{\{(१ ४५ \times १०^{१९६}) + ८\}}$ प्रकाश-वर्ष

इस प्रकार से रज्जु का न्यूनतम माप माईल तथा प्रकाश-वर्ष मे व्यक्त करने से समग्र विश्व का घनफल हम आधुनिक मापो मे व्यक्त कर सकते है। उपरोक्त मूल्याकनो को स्वीकार करने पर विश्व का घनफल, जो ३४३ घन रज्जु है, घन माइलो मे और घन प्रकाश-वर्षो मे क्रमश निम्न प्रकार आता है

(१) $११ ३५ \times १०^{\{(४ ४१ \times १०^{१९६}) + ६५\}}$ घन माईल

(२) $१ ४२ \times १०^{\{(४ ४१ \times १०^{१९६}) + ६५\}}$ घन-माईल

प्रकाश-वर्षो मे

(१) $८ ४५ \times १०^{\{(४.४१ \times १०^{१९६}) + २७\}}$ घन प्रकाश-वर्ष

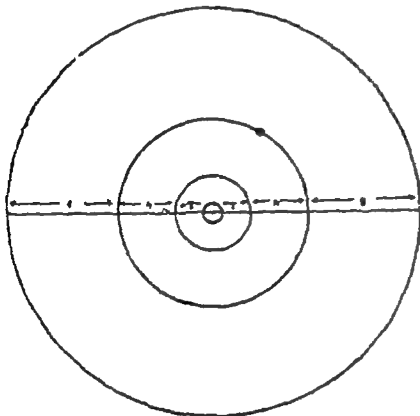
(२) $१ ०५ \times १०^{\{(४ ४१ \times १०^{१९६}) + २७\}}$ घन प्रकाश-वर्ष

२ तिर्यग् लोक के द्वीप-समुद्रो के परिमाणो का उपयोग

रज्जु के अकीकरण करने का दूसरा प्रकार उसकी निम्न व्याख्या पर आधारित है

"प्रमाणागुल से निष्पन्न जो योजन होता है, उस प्रकार के असख्य कोटाकोटि योजनो का १ रज्जु होता है। स्वयभूरमण समुद्र की पूर्व और

पश्चिम वेदिकाओं के बीच मे जो अन्तर है, वह १ रज्जु है।"[1] जैन दर्शन के अनुसार समग्र लोक के मध्य मे 'तिर्यग्-लोक' है, जिसमे असख्य द्वीप-समुद्र हैं। ये द्वीप-समुद्र वलय के आकार मे एक दूसरे को परिवृत्त करते है। सबके मध्य मे १ लाख योजन प्रमाण व्यास वाला जम्बूद्वीप है और सबसे अन्तिम असख्य योजन व्यास वाला स्वयभूरमण समुद्र है। प्रत्येक द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप है। प्रत्येक वलय का बाहुल्य पूर्व वलय के बाहुल्य से दुगुना है। ये बाहुल्य योजनो मे मापे गए हैं। प्रमाणागुल उत्सेध-आगुल से १००० गुना होता है।[2] जम्बूद्वीप का व्यास प्रमाणागुल से निष्पन्न १,००,००० योजन है। दूसरा वलय, जो कि समुद्र है, २,००,००० योजन बाहुल्य वाला है। तीसरा वलय, जो कि द्वीप है, ४,००,००० योजन बाहुल्य वाला है (देखें, चित्र न० १५) और इसी प्रकार से अन्त मे स्वयभूरमण समुद्र का वलय आता है। इस अन्तिम वलय के पूर्व-पश्चिम किनारो पर अर्थात् इस वर्तुल के पूर्व-पश्चिम व्यास के दो छोरो पर दो वेदिकाए हैं। इन वेदिकाओ के बीच मे जो अन्तर है, वह एक 'रज्जु' है।



चित्र न० १५

उक्त व्याख्या और उसके विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वलयो के बाहुल्य 'गुणोत्तर श्रेढि' मे है। अन्तिम वर्तुल का व्यास जो कि १ रज्जु है, वही सख्या है, जो सख्या सभी वलयो के बाहुल्य को जोडकर उसे २ से गुणन करें और गुणनफल मे से प्रथम वर्तुल का व्यास ($=१०^५$ योजन) घटाने पर आती है। (क्योकि प्रथम वलय को छोड कर शेष सभी वलय दो बार गिने जायेंगे)।

---

१. प्रमाणांगुलनिष्पन्नयोजनाना प्रमाणतः।
असख्यकोटाकोटिभिरेका रज्जु प्रकीर्तिता ॥
स्वयम्भूरमणाब्धेर्ये पूर्वपश्चिमवेदिके।
तयो. परान्तान्तराल रज्जुमानमिद भवेत् ॥
—लोक प्रकाश, १-६४-६५।

२. देखें, परिशिष्ट—१।

इस प्रकार गारिणतिक सज्ञा मे—

१ रज्जु={(२Σ सभी वलयो का बाहुल्य)—(प्रथम वर्तुल का व्यास)}
प्रथम वर्तुल का व्यास $१०^{५}$ योजन है। यदि

न=सभी वलयो की सख्या हो तो Σ सभी वलयो का बाहुल्य

$$=\{(२^{न}—१)\times १०^{५}\} \text{ योजन}$$

अत:

$$१ \text{ रज्जु}=\{२[(२^{न}—१)\times १०^{५}]—(१०^{५})\} \text{ योजन}$$

$$=\{२^{न+१}—३)\times १०^{५}\} \text{ योजन}$$

सभी वलयो की सख्या 'न' है, उसका अ कीकरण करने के लिए 'न' की निम्न व्याख्या का उपयोग करना होगा—

"अढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम (सू० उ० सा०) के जितने 'समय' है, उतनी द्वीप-समुद्रो की संख्या है। अर्थात् २५ कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम (सू० उ० प०) के जितने 'रोमखण्ड' हैं, उतनी द्वीप-समुद्रो की सख्या है।"[1] 'पल्योपम' और 'सागरोपम' जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं और ये काल के माप है।[2]

एक सू० उ० प० के समयो की सख्या इस प्रकार निकाली जा सकती है कुए मे रहे हुए केशाग्र-खण्डो की सख्या है—

$(३\,३\times १०^{३६}\times \text{असख्यात})$

यहा पर 'असख्यात' का अ कीकरण करना हमारे लिए सम्भव नही है। इसलिए हम पुन वही कल्पना करते हैं कि 'शीर्षप्रहेलिका' सख्या को हम 'असख्यात' के समान मान लें। इससे हमे 'रज्जु' का न्यूनतम मान मिल सकता है। इस प्रकार कुए मे रहे हुए केशाग्र-खण्डो की सख्या है—

$(३\,३\times १०^{३६})\times ७\,५८\times १०^{१९३})$

---

१ आभ्या सागरपल्याभ्या मीयन्ते द्वीपसागरा.।
अस्या सार्द्धद्विसगर्या समयैः प्रमिता हि ते ॥
यद्वैतासु पल्यकोटाकोटिषु पचविंशतो।
यावन्ति वालखण्डानि तावन्तो द्वीपसागरा ॥
—लोक प्रकाश, १-९६-९७।

२ देखें, परिशिष्ट—२।

प्रति समय एक केशाग्र-खण्ड वाहर निकाला जाता है, अत १ सू० उ० प० के समयो की सख्या है—

$(३.३ \times १०^{३६}) \times (७.५८ \times १०^{१६३})$

अब, २५ कोटाकोटि[1] सू० उ० प० के समयो की सख्या, जो कि परिभाषा के अनुसार द्वीप-समुद्रो की सख्या अर्थात् 'न' है अत,

$न = (२५ \times १०^{१४}) \times (३.३ \times १०^{३६}) \times (७.५८ \times १०^{१६३})$
$= ६.२५ \times १०^{२४५}$

'रज्जु' के अ क-समीकरण मे 'न' के स्थान पर उपरोक्त सख्या रखने पर,

$$१ \text{ रज्जु} = \left\{ २^{[(६.२५ \times १०^{२४५}) - १] - ३} \right\} + १०^{५} \text{ योजन}$$

$$\approx १०^{(१.८८ \times १०^{२४५})} \text{ योजन लगभग}$$

'प्रथम प्रकार' मे जिस प्रकार से योजन के विविध मूल्य लेकर 'रज्जु' का मान माईल एव प्रकाश-वर्ष मे निकाला था, उस प्रकार यहा पर भी निकाला जा सकता है।

क्रमशः पूर्व रीति के अनुसार,

(१) $१ \text{ रज्जु} = ८.० \times १०^{\{(१.८८ \times १०^{२४५}) + ३\}}$ माईल

(२) $१ \text{ रज्जु} = ४.०० \times १०^{\{(१.८ \times १०^{२४५}) + ३\}}$ माईल

प्रकाश-वर्षो मे क्रमश. ये सख्याए—

(१) $४.७०४ \times १०^{\{(१.८८ \times १०^{२४५}) - ६\}}$ प्रकाश-वर्ष

(२) $२.३५२ \times १०^{\{(१.८८ \times १०^{२४५}) - ६\}}$ प्रकाश-वर्ष

विश्व का घनफल जो ३४३ घन-रज्जु है, क्रमश घन माइलों मे—

(१) $१७.६ \times १०^{\{(५.६४ \times १०^{२४५}) + १३\}}$ घन माईल

(२) $२२ \times १०^{\{(५.६४ \times १०^{२४५}) + १३\}}$ घन माईल

---

१ एक कोटाकोटि $= १०^{१४}$ ।

घन प्रकाश-वर्षों मे विश्व का घनफल क्रमश —

(१) $३.५६ \times १०^{\{(५.६४ \times १०^{२४५}) — २३\}}$ घन प्रकाश-वर्ष

(२) $०४४५ \times १०^{\{(५ ६४ \times १०^{२४५}) — २३\}}$ घन प्रकाश-वर्ष

इस प्रकार दो पद्धतियो से रज्जु का अंकीकरण किया गया। यहा यह स्मरण रखना होगा कि उक्त प्रकारो से निकाले गए रज्जु के मूल्य वास्तविक नही हैं, किन्तु केवल रज्जु की न्यूनतम-मर्यादा के रूप मे है। इसीलिए दोनो प्रकारो से निकाले गए मूल्यो मे साम्य नही है। रज्जु का वास्तविक मान निकाले गए मूल्यो से बहुत अधिक होना चाहिए। रज्जु के वास्तविक मूल्य के दैर्घ्य का अनुमान ज० प० अ० की दी गई व्याख्या से हो सकता है।

प्रस्तुत समग्र गाणितिक विवेचन का उपसहार इन दो तथ्यो मे आ जाता है—

(१) विश्व त्रिशरावसम्पुटाकार से स्थित है।

(२) विश्व का घनफल $१०^{१०^{१६६}}$ घन माईल से कम नही है।

विश्व : काल की दृष्टि से

विश्व की अनादि-अनन्तता

जैन दर्शन के अनुसार विश्व शाश्वत है। यह तथ्य जैन आगमो मे अनेक स्थलो[१] मे अनेक प्रकार से समझाया गया है। जब भगवान् महावीर को उनके विनीत शिष्य आर्यरोह द्वारा पूछा गया—"भगवन्! पहले लोक हुआ और बाद मे अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और बाद मे लोक?"[२] तब भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"रोह! लोक और अलोक—ये दोनो पहले से हैं और पीछे रहेंगे, अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनो शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमे पौर्वापर्य (पहले-पीछे का) क्रम नही है।"[३]

समग्र विश्व पाच अस्तिकायो का समूह है। ये पाचो अस्तिकाय[४] ध्रुव,

---

१ देखे, भगवती सूत्र, १२-७, ७-१, २-१।

२ वही, १-६।

३ वही, १ ६।

४. कालओ—ध्रुवे, णितिते सासते, अक्खए, अव्वते, अवट्ठिने, णिच्चे।
—ठाणांग सूत्र, ५-३-४४१।

नियत शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं। इसलिए समग्र विश्व स्वत, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है। दूसरे शब्दो मे, यह विश्व भूतकाल मे विद्यमान था, वर्तमान काल मे विद्यमान है और भविष्य मे विद्यमान रहेगा।[1] वह न तो कभी बनाया गया और न कभी विनाश को प्राप्त होगा। काल की दृष्टि से यह आदि रहित और अन्त रहित है।[2]

दार्शनिक जगत् मे कुछ एक आस्तिक दर्शनो मे यह कल्पना की गई है कि विश्व कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा सर्जित हुआ था। जैन दर्शन ने इस 'ईश्वर कर्तृत्ववाद' का विरोध किया। जैन दर्शन 'विश्व' को अनादि-अनन्त मानता है। 'विश्व की आयु क्या है ?' प्रहेलिका के इस पहलू का यह समाधान श्रेष्ठतर रहा है। क्योकि कर्तृत्ववाद वहाँ चुप रह जाता है कि यदि इस विश्व को बनाने वाला कोई है तो उसने यह क्यो, कब और कैसे बनाया ? ये प्रश्न इतने गहरे उतरते हैं कि अन्त मे अनवस्था, उपादान हानि आदि प्रसग उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी एक विशेष व्यक्ति 'अ' को विश्व का कर्ता मान लेते हैं, तो प्रश्न उठता है कि उस 'अ' का कर्ता कौन है ? और यदि उसका कर्ता कोई 'ब' है तो 'ब' का कर्ता कौन है ? इस प्रकार कर्ताओ की परम्परा मानने से अनवस्था दोष (Regresus adinfinitum) उत्पन्न हो जाता है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। किसी भी विचार के विषय मे वह एकान्तता को स्वीकार नहीं करता। इसलिए 'विश्व' को जहाँ एक ओर शाश्वत मान लिया गया, वहा दूसरी ओर परिवर्तनशील भी। पूर्व विवेचित 'परिणामी-नित्यत्ववाद' इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक पदार्थ 'उत्पत्ति और नाश' रूप परिवर्तन के होते हुए भी अपना अस्तित्व रख लेता है। दूसरे शब्दो मे विश्व के समस्त पदार्थ—जीव और अजीव—उत्पत्ति, नाश और ध्रुवता की त्रिपुटी से युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार विश्व शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।

यदि हम विश्व को केवल अशाश्वत ही स्वीकार करते है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश के बीच यदि कोई ध्रुव आधार नही रहता है, तो किसी भी

---

१. लोकप्रकाश, २-३, ठाणांग सूत्र, ५-३-४४१।
२. स च अनादिनिधन, केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो, न हतो ।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २० की श्री ब्रह्मदेव निर्मित वृत्ति, पृ० ५१।

पदार्थ के विषय मे 'यह वही है' इस सजातीयता का अनुभव नही हो सकता। दूसरी ओर यदि विश्व को केवल शाश्वत ही स्वीकार किया जाता है अर्थात् पदार्थो को अत्यन्त निर्विकार मान लिया जाता है, तो विश्व की सदैव परिवर्तनशील दशा—विश्व की विविधता का अनुभव नही हो सकता। एकान्तवादी जहाँ 'शाश्वतता और अशाश्वतता'—इन दोनो विरोधी धर्मो को एक ही पदार्थ मे स्वीकार करने मे हिचकिचाते है, वहाँ अनेकान्तवादी जैन दर्शन दृढतापूर्वक एक पदार्थ मे अनेक विरोधी धर्म-युगलो को तार्किक आधार पर स्वीकार करता है, क्योकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है और हमे यही अनुभव होता है।

विश्व की 'शाश्वतता और अशाश्वतता' को समझने के लिए 'कार्य-कारणवाद' (Law of causality) को समझना अपेक्षित है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे दो प्रकार के कारण[1] की अपेक्षा होती है—१. उपादान कारण, २ निमित्त कारण।

जो कारण स्वय ही कार्य रूप मे परिणत हो जाता है, वह उपादान है।[2] जो कारण कार्य की उत्पत्ति मे सहायक होता है, वह निमित्त है।[3] सभी पदार्थो मे प्रत्येक क्षण मे परिवर्तन होता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप पौर्वापर्य होता है। पूर्व अवस्था उपादान कारण और उत्तरावस्था कार्य कहलाती है। यह कारण-कार्य भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते है, किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नही होता। केवल कार्य-निष्पत्ति काल मे ही उनकी अपेक्षा रहती है। परिणमन के दो पहलू हैं—उत्पत्ति और नाश। कार्य की उत्पत्ति होती है और उपादान कारण का नाश। उपादान कारण ही अपना रूप त्याग कर कार्य को रूप देता है, इसलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नही बनता और असत् सत् नही बनता।[4]

परिणाम भी दो प्रकार के होते हैं

१ जो परिणमन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक

---

१ श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका, ३-३५।

२. वही, ३-३६।

३. वही, ३-३७।

४. जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, भाग १, पृ० ४१८।

या अहेतुक कहलाता है। स्वाभाविक परिणमन मे पर-निमित्त की अपेक्षा नही रहती।

२ जो परिणमन पर के निमित्त से होता है, वह पारभाविक परिणमन है।

विश्व छः द्रव्यो का समूह मात्र है, अत. विश्व की 'शाश्वतता-अशाश्वतता' को समझने के लिए छ द्रव्यो की शाश्वतता-अशाश्वतता का विश्लेषण आवश्यक होगा। छहो ही द्रव्य कब, कैसे और किससे अस्तित्व मे आए ? इन प्रश्नो का समाधान 'अनादि' अस्तित्व के स्वीकार करने मे ही हो सकता है। अर्थात् जो द्रव्यो के अस्तित्व को 'सादि' स्वीकार करते हैं, उनके लिए ये समस्याए बनी रहती हैं। किन्तु जो द्रव्यो के अस्तित्व को 'अनादि' मानते हैं, उनके लिए ये प्रश्न उठते ही नही। द्रव्यो के अस्तित्व को 'सादि' मानने पर असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करनी पडती है। यह कार्यकारणवाद के साथ सगत नही हो सकता। क्योकि उपादान कारण यदि असत् होता है, तो कार्य सत् नही हो सकता। इसलिए उपादान की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् मे सत् की उत्पत्ति नही मान सकते, नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नही चाहिए। अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।[1] अतः छ द्रव्यो का अस्तित्व अनादि सिद्ध हो जाता है। परिणामी-नित्यत्ववाद इन द्रव्यो के अस्तित्व को अनन्त सिद्ध कर देता है। इस प्रकार षड् द्रव्य अस्तित्व की दृष्टि से 'अनादि-अनन्त' सिद्ध हो जाने पर विश्व की शाश्वतता प्रमाणित हो जाती है।

षड् द्रव्यो मे होने वाले 'परिणमन' विश्व को 'अशाश्वत' भी बना देते हैं। षड् द्रव्यो मे से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चार द्रव्यो मे स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। इन परिणमन के कारण ही शाश्वत काल तक ये पदार्थ अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं।

दृश्य विश्व की समस्त लीलाए पुद्गलास्तिकाय (पुद्गल) और जीवास्तिकाय (आत्मा) के परिणमनो के कारण होती रहती हैं। आत्माए दो प्रकार[2] की हैं—मुक्त और ससारी। मुक्त आत्माओ मे केवल स्वाभाविक परिणमन होता है। ससारी आत्माओ मे स्वाभाविक परिणमन तो होता ही है, किन्तु साथ-साथ वैभाविक परिणमन भी होता रहता है। ससारी आत्माए

---

१ वही. भाग २, पृ० ८१।

२ जैनसिद्धान्तदीपिका, ३-१, २।

कर्म-पुद्गलो[1] के साथ बद्ध होती है। आत्मा और कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म-पुद्गलो के प्रभाव से आत्मा मे अनेक प्रकार के परिणमन होते रहते हैं। दूसरे शब्दो मे आत्मा और कर्म का सयुक्त रूप ससारी आत्मा के परिणमनो का हेतु है। विश्व मे देखे जाने वाले चैतन्य के विविध परिणमन इसके परिणाम स्वरूप ही होते हैं।

पुद्गल द्रव्य का परिणमन दृश्य जगत् मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैन दर्शन का पुद्गल द्रव्य आधुनिक विज्ञान के जड, जिसमे भौतिक ऊर्जा का भी समावेश हो जाता है, के साथ सादृश्य रखता है। छः द्रव्यो मे पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो कि इन्द्रिय-ग्राह्य होता है।

पुद्गल द्रव्य सख्या की दृष्टि से अनन्त है। विश्व के छोटे-बडे सभी दृश्य पदार्थो का समावेश पुद्गल द्रव्य मे हो जाता है। अत विश्व के छोटे-बडे सभी दृश्य पदार्थ पुद्गल के विविध परिणमनो के कारण ही निर्मित होते है और नष्ट होते हैं। ये परिणमन स्वाभाविक भी होते हैं और पारभाविक भी। इन परिणमनो को समझने के लिए पौद्गलिक पदार्थों की रचना का ज्ञान आवश्यक होगा।

सभी पौद्गलिक पदार्थो के निर्माण मे अन्तिम उपादान कारण परमाणु है। अविभाज्य पुद्गल को परमाणु कहते है।[2] परमाणुओ के जुडने से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।[3] स्कन्धो के एकीभाव से और पृथक्करण से भी स्कन्ध होते हैं।[4] परमाणुओ के और स्कन्धो के पारभाविक परिणमन से अन्य परमाणु, स्कन्ध और आत्मा के परिणमन निमित्त होते हैं। परमाणुओ का और स्कन्धो का स्वाभाविक परिणमन भी होता रहता है। इन परिणमनो के होने से ही दृश्य जगत् मे सर्जन और विसर्जन रूप परिणमन होता रहता है। किन्तु इन सब परिणमनो के उपादान 'परमाणु' का अस्तित्व शाश्वत रहता है।

---

१. आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्तियों द्वारा आकृष्ट होकर जो पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं तथा आत्मा के गुणो का अवरोध करते है और सुख-दु ख के हेतु बनते हैं, वे कर्म कहलाते है।

२. अविभाज्यः परमाणु।

—जैनसिद्धान्तदीपिका, १-१४।

३ तदेकीभाव स्कन्ध।

—वही, १-१५।

४. तद्भेदसघाताभ्यामपि।

—वही, १-१६।

इस परमाणुवाद के आधार पर विश्व-स्थित शाश्वत संस्थानों की समस्या का हल हो सकता है। प्रश्न होता है कि परमाणु-निर्मित कोई संस्थान शाश्वत कैसे रह सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पुद्गल (परमाणु और स्कन्ध) के स्वाभाविक परिणमनों को समझने से मिल जाता है। पुद्गलों के संघटन और विघटन रूप स्वाभाविक परिणमन प्राकृतिक नियमों से होते रहते हैं। पौद्गलिक संस्थानों में से विघटन-अवस्था को प्राप्त परमाणु प्रति समय दूर होते रहते हैं और संघटन-अवस्था के योग्य अन्य असंख्य परमाणु उनमें संयुक्त होते रहते हैं। एक सुदीर्घ अवधि के पश्चात् एक-एक करके उस संस्थान के सारे परमाणु बदल जाते हैं और सामान्य दृष्टि से वह संस्थान (इकाई) ज्यों का त्यों खड़ा रहता है।

[1]"प्रकृति के इस कार्य को एक मकान व एक गाँव के उदाहरण से कुछ और स्पष्ट समझा जा सकता है। मकान-मालिक और उसके वंशज अपने मकान में टूट-साथ करते जाते हैं। धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आता है कि लगभग सारा मकान दूसरा हो जाता है पर लोगों की दृष्टि में वह वही मकान है, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व ना था। वंश-परम्परा शाश्वत नहीं होती व मनुष्य की शक्ति अधूरी है। नहीं तो स्यात् वह मकान भी भौतिक संसार का शाश्वत संस्थान कहलाता। प्रकृति स्वयं शाश्वत है, उसके हाथ दुर्बल नहीं हैं। उसके उपादान की भी कमी नहीं है। इसलिए उसके चाहे हुए संस्थान स्थिर रह जाते हैं।

"दूसरा उदाहरण गाँव का है। मनुष्यों और घरों का समुदाय गाँव व नगर है। सौ व कुछ अधिक वर्षों के पश्चात् उसके सारे वासी बदल जाते हैं। हजारों वर्षों के पश्चात् सारे मकान भी बदल जाते हैं। पर वह वही नगर कहलाता है। आज भी ऐसे नगर हैं, जिनका हजारों वर्षों का धारावाही इतिहास है। हो सकता है, कुछ ऐसे भी नगर हों जिनके नाम, संस्कृति छोटेपन व बड़ेपन के परिवर्तन हो जाने पर भी उनका स्थानिक व सामुदायिक अस्तित्व मानव-जाति का ही सहभावी हो। उसे हम उस प्रकार से न भी पहचाने, पर प्रकृति के साम्राज्य में यह असम्भव नहीं है। प्रकृति का यह कार्य बुद्धिगम्य है। उस प्रकार, जैसे नागरिक जन्मते हैं, मरते हैं, नगर शाश्वत बना रहता है, वैसे ही उक्त प्रकार के भौतिक (पौद्गलिक) संस्थानों में भी प्राकृतिक नियम के अनुसार परमाणु मरते रहते हैं (अर्थात् संस्थान से पृथक्

---

१ जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० १२८।

हो जाते हैं) और जन्मते रहते हैं (अर्थात् संस्थान मे जुडते हैं), पर उस संस्थान का सास्थानिक स्वरूप सार्वकालिक बना रहता है। प्रकृति के ऐसे प्रतीक हैं—सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डल तथा नाना पृथ्वियां।"

इस प्रकार समग्र विश्व अनन्त परिणमन के होने पर भी शाश्वत रह जाता है।

काल-चक्रीय विश्व-सिद्धान्त

विश्व की शाश्वतता-अशाश्वतता का अब तक का विवेचन समग्र विश्व की दृष्टि से किया गया। विश्व के मध्य भाग मे स्थित 'तिर्यग् लोक' के विशेष स्थानो के लिए 'अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल-चक्र' के सिद्धान्त को जैन दर्शन स्वीकार करता है। क्षेत्रलोक के विवेचन मे यह बताया गया है कि समग्र लोक की ऊंचाई १४ रज्जु है। अधोलोक ७ रज्जु से कुछ अधिक ऊंचाई वाला है और ऊर्ध्व लोक ७ रज्जु से कुछ कम ऊंचाई वाला। इन दोनो के बीच मे १८०० योजन की ऊंचाई और १ रज्जु की लम्बाई-चौडाई वाला तिर्यग्-लोक है। तिर्यग्-लोक मे वलयाकार से एक दूसरे को परिवेष्टित करने वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। इनमे जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और अर्धपुष्कर द्वीप—ये पाच वलय तिर्यग्-लोक के मध्य मे हैं। उनको 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। समय-क्षेत्र मे ही सूर्य-चन्द्रकृत व्यवहारिक काल होता है। समय-प्रवाह के साथ प्रकृति की कुछ प्रक्रियाओ मे परिवर्तन भी होता रहता है। इन परिवर्तनो को समझाने के लिए 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र' का सिद्धान्त है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है—ह्रास और विकास का एक सुदीर्घ काल-चक्र। एक काल-चक्र २० कोटाकोटि अद्धा-सागरोपम[1] काल मे पूरा होता है।[2]

इतना काल व्यतीत होने मे असंख्य वर्ष[3] बीत जाते हैं। प्रत्येक काल-चक्र

---

१. अद्धा-सागरोपम के लिए, देखें परिशिष्ट—२।

२ लोकप्रकाश २६-३३; तिलोयपण्णत्ती, ४-३१५।

३ श्वेताम्बर तथा दिगम्बर, दोनो परम्पराओ के अनुसार एक अद्धा पल्योपम के असंख्य वर्ष होते हैं। दिगम्बर परम्परा मे एक काल-चक्र के वर्षो की संख्या का 'कल्प' नाम भी मिलता है। (देखे, तिलोयपण्णत्ती, ४-३१६)। श्री जी० आर० जैन के अनुसार अर्ध-महाकल्प के

४१३,४५२,६३०,३०२,२०३,१७७,७४६,५१२,१९२ × १०^५० वर्ष होने

मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के चक्रार्ध होते है। उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध मे समय-क्षेत्र की प्रकृतिजन्य सभी प्रक्रियाएं क्रमश निर्माण और विकास की ओर बढती हैं और अन्त मे प्रगति की चरम सीमा को प्राप्त होती हैं। इसके बाद अवसर्पिणी काल–चक्रार्ध के प्रारम्भ होने पर वे प्रक्रियाए पुन ध्वस और ह्रास की ओर चलती है और अन्त मे वे विनाश की चरम मर्यादा तक पहुचती है। दूसरे शब्दो मे उत्सर्पिणी के काल-चक्रार्ध मे प्रकृति की चावी भरी जाती है और चरम अवस्था के वाद पुनः उसका खाली होना प्रारम्भ होता है। अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध के अन्त तक प्रकृति की चावी की रिक्तता उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की परिभाषा करते हुए कहा गया है,[1] "जिस काल-चक्रार्ध मे सभी शुभ भाव क्रमश क्षीण होते हैं और अशुभ भाव क्रमश वृद्धिगत होते है, वह 'अवसर्पिणी' है। जिस काल-चक्रार्ध मे सभी शुभ भाव क्रमश वृद्धि को प्राप्त करते है और अशुभ भाव क्रमश. क्षीण होते हैं, वह उत्सर्पिणी है।" अवसर्पिणी काल मे पुद्गलो मे (परमाणु तथा परमाणु-समूहो मे) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि की अपेक्षा से अनन्त गुण की हानि होती है।[2] उत्सर्पिणी काल मे इससे विपरीत

हैं। अर्थात् महाकल्प के ८.२६ × १०⁷⁶ वर्ष होते हैं। (देखें, कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यु, पृ० २३१) किन्तु यह सख्या असख्य वर्षो की अपेक्षा मे अत्यन्त छोटी है। वस्तुत तो दिगम्बर परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट सख्यात वर्ष का मान 'अचलात्म' है। अचलात्म के

$८४^{३१} \times १०^{८०}$ वर्ष होते हैं। जो कि,

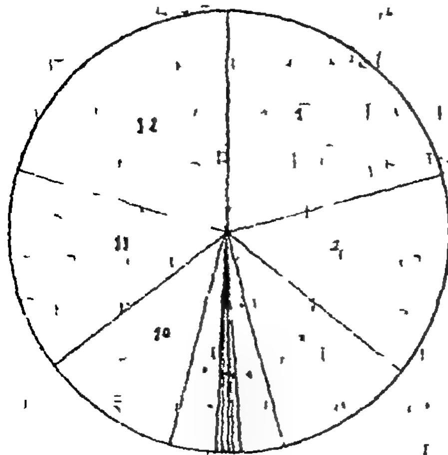
४.५×१०^{१४९} लगभग होते हैं।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओ की काल-गणना के लिए देखे, परिशिष्ट—२।

१ यस्यां सर्वे शुभा भावा क्षीयन्तेऽनुक्षणं क्रमात्।
अशुभाश्च प्रवर्धन्ते, सा भवत्यवसर्पिणी॥
शुभा भावा विवर्द्धन्ते क्रमाद्यस्यां प्रतिक्षणं।
हीयन्ते चाशुभा भावा भवत्युत्सर्पिणीति सा॥
—लोकप्रकाश, २९-४४, ४५।

२ अणतेहिं वण्णपज्जवेहिं गधपज्जवेहिं,
यावत्परिहायमाणेहिं ओमप्पिणी पडिवज्जई।
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कालाधिकार।

होता है। उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी इस प्रकार काल-चक्र चलता रहता है। अनादि भूत में अनन्त काल-चक्र व्यतीत हो गये और अनन्त भविष्य में अनन्त काल-चक्र व्यतीत होंगे।



चित्र न० १६

दश कोटाकोटि अद्धा सागरोपम (अ० सा०) प्रमाण प्रत्येक काल चक्रार्ध के छः खण्ड होते हैं, जिनको 'आरा' कहते हैं (देखें, चित्र न० १६)। काल-चक्र के आरों का नाम और काल-अवधि इस प्रकार है[1]

	अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध			उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध	
आरा क्रमांक	नाम	काल-अवधि	आरा क्रमांक	नाम	काल-अवधि
१	सुषमसुषमा	४×१०^{१४} अ० सा०	१	दुःषमदुःषमा	२१००० वर्ष
२	सुषमा	३×१०^{१४} अ० सा०	२	दुःषमा	२१००० वर्ष
३	सुषमदुःषमा	२×१०^{१४} अ० सा०	३	दुःषमसुषमा	१×१०^{१४} अ० सा०—४२००० वर्ष
४	दुःषमसुषमा	१×१०^{१४} अ० सा०—४२००० वर्ष	४	सुषमदुःषमा	२×१०^{१४} अ० सा०
५	दुःषमा	२१००० वर्ष	५	सुषमा	३×१०^{१४} अ० सा०
६	दुःषमदुःषमा	२१००० वर्ष	६	सुषमसुषमा	४×१०^{१४} अ० सा०

१ देखें, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कालाधिकार; लोकप्रकाश, २९-२९ से ३८ तथा तिलोयपण्णत्ती, ४-३१६ से ३१९।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी मे उत्तरोत्तर हानि और वृद्धि का विस्तृत वर्णन जैन आगामो मे मिलता है। यहाँ पर उसका विस्तृत विवेचन नही करते हुए उदाहरण स्वरूप केवल तीन प्रक्रियाओ के विषय मे हानि–वृद्धि की चर्चा की जाती है। अवसर्पिणी काल मे समय बीतने के साथ-साथ मनुष्यो का आयुष्य, ऊंचाई और पृष्ठ-करडक (पृष्ठ-अस्थि) की सख्या मे हानि होती रहती है। अवसर्पिणी काल के प्रारभ मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यो का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम होता है। बाद मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यो का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम से कुछ कम हो जाता है। उसी प्रकार क्रमश घटते-घटते द्वितीय आरे के प्रारम्भ-काल मे उत्कृष्ट आयुष्य दो पल्योपम हो जाता है। इसी प्रकार ऊंचाई और अस्थि-सख्या मे भी क्रमश हानि होती रहती है। निम्न कोष्ठक के द्वारा उन हानियो का प्रमाण स्पष्ट हो जाएगा।

प्रत्येक आरे के प्रारम्भ मे आयुष्य आदि का मान

आरा-क्रमाक	आयुष्य	ऊंचाई	पृष्ठ-अस्थि-सख्या
१	३ पल्योपम	६००० धनुष्य	२५६
२	२ ,,	४००० ,,	१२८
३	१ ,,	२००० ,,	६४
४	१ क्रोड पूर्व	[1]५०० ,,	[1]४८
५	१३० वर्ष	७ हाथ	२४
६	२० वर्ष	[2]१ हाथ	१२

उत्सर्पिणी काल मे आयु, ऊंचाई पृष्ठ-अस्थि-सख्या आदि मे क्रमश वृद्धि होती है।

वर्तमान युग

वर्तमान मे जो आरा चल रहा है, वह अवसर्पिणी काल का पाचवा आरा है। इस आरे का प्रारम्भ श्रमण महावीर के निर्वाण के ३ वर्ष ८½ मास पश्चात् हुआ था।[3] भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ मे हुआ था, अत ई० पू० ५२४ मे पाचवे आरे का आरम्भ होता है। यह आरा २१०००

१. दिगम्बर परम्परानुसार ५२५ धनुष्य।
२. दिगम्बर परम्परानुसार ३ से ३½ हाथ।
३. लोकप्रकाश, ३२-३०।

वर्ष का है। ईस्वी सन् २०४७६ मे इस आरे का अन्त होगा और छट्ठे आरे का प्रारम्भ होगा। अर्थात् वर्तमान वर्ष (ईस्वी सन् १९६१) से १८५१५ वर्ष बाद दुःषम-दुषमा नामक छट्ठा आरा प्रारम्भ होगा और ३९५१५ वर्ष बाद वर्तमान अवसर्पिणी काल-चक्र का अन्त आ जाएगा। छट्ठे आरे के प्रारम्भ मे होने वाली स्थिति का वर्णन विस्तृत रूप से जैन साहित्य मे मिलता है। एक स्थान मे इस विषय मे बताया गया है [1] "उस समय दुःख से लोगो मे हाहाकार होगा। अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला, मलिन, धूलि-युक्त पवन चलेगा। वह दुःसह व भय उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी जिससे धूलि आदि एकत्रित होगी। पुनः-पुनः धूलि उडने से दशो दिशाए रज सहित हो जाएगी। धूलि से मलिन अन्धकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव बहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्रमा अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा। उस क्षेत्र मे बार-बार बहुत अरस-विरस मेघ, क्षार मेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञ मेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ बरसेंगे। उस समय भूमि अग्निभूत, मुर्मुरभूत, भस्मभूत हो जाएगी। पृथ्वी पर चलने वाले जीवो को बहुत कष्ट होगा। उस क्षेत्र के मनुष्य विकृत वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले होगे तथा वे ऊट की तरह वक्र चाल चलने वाले, शरीर के विषम संधि-बन्ध को धारण करने वाले, ऊची-नीची विषम पसलियो तथा हड्डियो वाले और कुरूप होगे। उत्कृष्ट १ हाथ की अवगाहना (ऊंचाई) और २० वर्ष की आयु होगी। बडी-बडी नदियो का विस्तार रथ के मार्ग जितना होगा। नदियो मे पानी बहुत थोडा रहेगा। मनुष्य भी केवल बीज रूप ही बचेगे। वे उन नदियो के किनारे बिलो मे रहेंगे। सूर्योदय से १ मुहूर्त पहले और सूर्यास्त से १ मुहूर्त पश्चात् बिलो से बाहर निकलेगे और मत्स्य आदि को उष्ण रेती मे पकाकर खायेगे।"

इस प्रकार छट्ठे आरे का प्रारम्भ होकर २१००० वर्ष तक यह स्थिति उत्तरोत्तर विषम बनती रहेगी। छट्ठे आरे का अन्त होने पर अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध समाप्त हो जाएगा। उस समय ह्रास अपनी चरम सीमा पर पहुंचेगा। इसके बाद पुनः उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध प्रारम्भ होगा।[2] "जिसमे प्रकृति का वातावरण पुनः सुधरने लगेगा। शुद्ध हवाए चलेगी, स्निग्ध मेघ बरसेगे और अनुकूल तापमान होगा। सृष्टि बढेगी, गाँव और नगरो का पुनः निर्माण होगा।" यह क्रमिक विकास उत्सर्पिणी के अन्त काल मे निर्माण के चरम

---

१ भगवती सूत्र, ७-६।

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कालाधिकार।

शिखर पर पहुंचेगा।[1] "इस प्रकार एक काल-चक्र सम्पन्न होता है। प्रकृति के इतिहास मे होने वाले इस अध्याय-परिवर्तन को लोक प्रलय और सृष्टि कहते है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ 'आत्यन्तिक नाश' नही, वह ध्वस (ह्रास) की अन्तिम मर्यादा है।"

उपसहार

प्रस्तुत विषय के उपसहार मे यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के अनुसार :

१. विश्व अस्तित्व की अपेक्षा मे अनादि और अनन्त है।
२ इस शाश्वत विश्व मे प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश रूप अनन्त परिणमन होते रहते है।
३. विश्व के विशेष क्षेत्रो (समय-क्षेत्र) मे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र का प्रवर्तन होता रहता है।

---

१. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० १२६।

: ४ :

समीक्षा

वैज्ञानिको के, पाश्चात्य दार्शनिको के और जैन दर्शन के विश्व-विषयक सिद्धान्त, परिकल्पना, उपधारणा और मन्तव्यो के विवेचन के पश्चात् इन विचारधाराओ की समीक्षा—इनके बीच रहे हुए सादृश्य और वैसदृश्य का अवलोकन सत्य-निर्णय की दिशा मे मार्ग-दर्शक बन सकता है। अब तक किए गए विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि विश्व-प्रहेलिका के विविध पहलुओ को समाहित करने के प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशो मे और भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न रूप से हुए हैं। इन प्रयत्नो के परिणाम स्वरूप जो विचारधाराए मनुष्य के समक्ष उपस्थित हुई हैं, इनके बीच कही-कही सादृश्य की मात्रा इतनी अधिक दिखाई देती है कि मनुष्य को आश्चर्य मे डाल देती है; तो कही-कही इनमे इतना वैसदृश्य दिखाई पडता है कि एक विचारधारा मनुष्य को उत्तरी ध्रुव पर पहुचाती है तो दूसरी दक्षिणी ध्रुव पर। इस स्थिति मे यह समीक्षात्मक विवेचन न केवल उपयोगी होगा, अपितु रोचक भी होगा।

विश्व का स्वरूप

आदर्शवाद[1] और जैनदर्शन

"विश्व क्या है ?"—विश्व-प्रहेलिका के इस अनुत्तर पहलू ने तत्त्व-मीमासको को प्राचीन काल से आज तक व्यथित किया है। यहा तक कि कुछ एक दार्शनिको ने सन्देहवाद[2] स्थापित करके यह प्रतिपादन किया कि 'कोई भी नहीं

१. आदर्शवाद (आइडियालिजम) शब्द तत्त्व-मीमासा (मेटाफिजिक्स) और नीतिशास्त्र (एथिक्स) मे भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। तत्त्व मीमासा मे सामान्यतया आदर्शवाद का अर्थ होता है, वह विचारधारा जो प्रत्यय (आइडिया) अथवा आत्मा को वास्तविकता का मूल मानती है। इस अर्थ मे ही आदर्शवाद शब्द प्रस्तुत पुस्तक मे प्रयुक्त हुआ है। नीतिशास्त्र के 'नैतिक आदर्शों की साधना' से सम्बन्धित 'आदर्शवाद' से इसका कोई सम्बन्ध नही है।

२ सन्देहवाद प्राचीन युनानी दार्शनिक पिर्रो (Pyrrho), जिसकी मृत्यु,

जान सकता, विश्व क्या है।' फिर भी अनेकानेक दार्शनिकों ने और वैज्ञानिकों ने इस जटिल पहेली को हल करने का प्रयत्न किया है। पश्चिम मे 'विश्व के स्वरूप' का प्रतिपादन मुख्यतया आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के रूप मे हुआ है। आदर्शवादी वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्व की वस्तु-निष्ठ वास्तविकता को अस्वीकार कर प्रत्यय, विचार, अनुभूति, ईश्वर, आत्मा, चैतन्य आदि तत्त्वों मे विश्व की वास्तविकता का प्रतिपादन करते है। जहा केवल ईश्वर (अथवा ब्रह्म) नामक तत्त्व को सत् (वास्तविक) माना गया है और शेष विश्व को असत् (मिथ्या) प्रतिपादित किया गया है, वहा सर्वेश्वरवाद(पान-थिइजम) के रूप मे आदर्शवाद प्रकट हुआ है। भारतीय वेदान्त दर्शन की विचारधारा 'ब्रह्म सत् जगन् मिथ्या' भी इस रूप मे आदर्शवाद को ही स्वीकार करती है। इस प्रकार के आदर्शवाद मे केवल एक तत्त्व (ईश्वर) वास्तविक अस्तित्व रखता है और शेष विश्व केवल काल्पनिक माना जाता है अथवा उसी एक तत्त्व का ही रूप माना जाता है।

आदर्शवाद की दूसरी धारा अनुभूति मे आने वाले विश्व को 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे मानती है। इस विचारधारा के अनुसार-वस्तु सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व तो है, किन्तु वह पारमार्थिक है। मनुष्य का ज्ञान व उसकी एन्द्रिय अनुभूति इस वास्तविक तत्त्व को ग्रहण नही कर सकती। जो कुछ भी मनुष्य अपनी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करता है, वह सभी आभास रूप है—अवास्तविक है।

आदर्शवाद का एक रूप अनुभववाद (एम्पिरिसिजम) है। इसके अनुसार जब हम किसी भी पदार्थ का चिन्तन करते है अथवा उसको इन्द्रियो द्वारा

ई० पू० २७० मे हुई थी, से लेकर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम (Hume) तक नाना रूपो मे प्रचलित हुआ है। इसके पश्चात् भी आंशिक रूप मे तो हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जैसे विज्ञानविद् दार्शनिकों के विचारो मे भी यह दिखाई पडता है। जैसे स्पेन्सर ने लिखा है "वैज्ञानिक का शोध-यत्न उसे सभी दिशाओ मे एक ऐसे स्थान पर ले जाता है, जहा से आगे कोई मार्ग नही निकलता। इस बात का अनुभव उसे स्वय भी अधिक से अधिक होता है कि कभी नही सुलझने वाली पहेली उसके सामने उपस्थित हो ही जाती है। वह वैज्ञानिक किसी भी दूसरे व्यक्ति से अधिक अच्छी तरह जानता है कि किसी भी पदार्थ के मूल स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है। (देखें, फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृ० ५६)

ग्रहण करते हैं, तब वह पदार्थ अस्तित्व मे आता है; मूलत पदार्थों का कोई वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नही है। यह वाद 'अनुभूति' को विश्व की वास्तविकता का मूल तत्त्व मानता है।

आदर्शवादी वैज्ञानिकों की विचारधारा के अनुसार 'भौतिकपदार्थ' (Matter) का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नही है, किन्तु केवल आत्मा (Soul) ही स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' है। भौतिक विज्ञान का क्षेत्र केवल ज्ञाता-सापेक्ष वस्तुओं तक सीमित रह जाता है। वस्तु-सापेक्ष विश्व का ज्ञान इसके क्षेत्र मे सन्निहित नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त आदर्शवाद के अनेक रूप दर्शन-जगत् मे प्रचलित हुए हैं। जैन दर्शन के साथ आदर्शवाद की विचारधारा का सादृश्य भी है, वैसदृश्य भी। जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्मा को जैन दर्शन में स्वतंत्र द्रव्य—'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे माना गया है। आत्मा चैतन्य युक्त तत्त्व है और ज्ञान इसका सहज गुण है। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित होती है, तब सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेती है। ऐसी अवस्था मे आत्मा स्वय परमात्मा अथवा ईश्वर बन जाती है। इस अर्थ मे तो जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है।

आत्मवादी अथवा ईश्वरवादी होने पर भी जैन दर्शन की विचारधारा को हम 'आदर्शवादी' नही कह सकते। तत्त्व-मीमासा के दृष्टिकोण से देखा जाये तो जैन दर्शन स्पष्ट रूप से वास्तविकतावादी अथवा यथार्थवादी ही है। जैन दर्शन आत्मा के अतिरिक्त भी विश्व का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अस्तिकायवाद मे पच अस्तिकाय अस्तित्व की अपेक्षा से सर्वथा स्वतन्त्र और 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं' के रूप मे माने गए हैं। इनमे भी आत्मा (जीवास्तिकाय) और पुद्गलास्तिकाय सख्या की दृष्टि से केवल एक ही द्रव्य नही, अपितु अनेक है। प्रत्येक आत्मा और पुद्गल का प्रत्येक परमाणु अपना-अपना वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—इन तीनों का भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैन दर्शन ने जिस प्रकार से वास्तविकता अथवा सत् की परिभाषा की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सत् (तत्त्व) ज्ञाता-निरपेक्ष है।

अब हम आदर्शवाद की नाना विचारधाराओं की पृथक्-पृथक् रूप मे जैन दर्शन के साथ समीक्षा करें। 'सर्वेश्वरवाद' जो केवल 'ईश्वर' को ही एक मात्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है, स्पष्ट रूप से जैन दर्शन को

मान्य नहीं है। यद्यपि जैन दर्शन ईश्वर के वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व को अस्वीकार नही करता, फिर भी समग्र विश्व को तद्‌रूप नही मानता। जैन दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थो मे सर्वेश्वरवाद का विस्तृत तार्किक चर्चाओ के द्वारा खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन तर्क और अनुभव के आधार पर भी यथार्थ नही लगता। वस्तु-सापेक्ष पदार्थो की बहुविधता और वास्तविकता सामान्य अनुभव से भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे सर्वेश्वरवाद की मान्यता सहज ही अप्रमाणित हो जाती है। ईश्वर-वादी अन्य दर्शनो ने भी सर्वेश्वरवाद का खण्डन किया है। इनमे भी पाश्चात्य दर्शन पाण्डित्यवाद द्वारा किया गया सर्वेश्वरवाद का खण्डन उल्लेखनीय है।[1]

प्लुतो, काण्ट और जैन दर्शन

आदर्शवाद की दूसरी विचारधारा, जिसमे वास्तविकता को व्यवहारिक न मानकर पारमार्थिक माना गया है, मुख्यत. प्लुतो और काण्ट जैसे दार्शनिको की देन है। प्लुतो ने 'प्रत्ययो के सिद्धान्त' मे जो प्रतिपादन किया है, उसका सक्षिप्त तात्पर्य यही है कि वास्तविक पदार्थ पारमार्थिक है, अपनी अनुभूति मे आने वाले पदार्थ आभास रूप हैं। उदाहरणार्थ—'बिल्ली' का अर्थ है, 'वह एक निश्चित बिल्ली, जो कि वस्तुत ईश्वर द्वारा सर्जित है'; वही 'बिल्ली' वास्तविक है। इसके अतिरिक्त जितनी भी बिल्लिया हम देखते है, वे सभी अवास्तविक और अपूर्ण है।'[2] अर्थात् मनुष्य जो कुछ जानता है, वह केवल अवास्तविक वस्तुओ के विषय मे जानता है।

अब हम प्लुतो के इस प्रत्ययवाद की जैन दर्शन के आलोक मे समीक्षा करें। जैन दर्शन का वस्तुओ की वास्तविकता के विषय मे जो दृष्टिकोण है, वह तो स्पष्ट हो ही चुका है। जैन दर्शन छ द्रव्यो मे से केवल पुद्‌गल द्रव्य को ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय मानता है। पुद्‌गल द्रव्य के अतिरिक्त शेष पाच द्रव्य अमूर्त हैं; ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय नही बन सकते। पुद्‌गलद्रव्य मे भी परमाणु और कुछ एक सूक्ष्म पुद्‌गल स्कन्ध अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय है। इस अर्थ मे हम यह कह सकते हैं कि विश्व के अधिकाश वास्तविक तत्त्वो का ज्ञान हम इन्द्रियो द्वारा नहीं कर सकते। किन्तु इसका अर्थ यह नही हो जाता कि हम इन्द्रियो द्वारा जिन पदार्थो को जानते हैं, वे सभी अवास्तविक हैं अथवा केवल आभासरूप हैं।

---

१. देखें, कास्मोलोजी, पृ० ५१–५३।

२. हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० १४३।

अन्य दार्शनिको ने भी प्लुतो के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसका एक उदाहरण हमे रसल के विचारो से मिलता है। वे लिखते है [1]"यदि आभास वस्तुत दिखाई पडता है तो वह अवस्तु नही है, अत वास्तविकता का ही अंग है। '...... 'यदि आभास वस्तुत दिखाई नही पडता तो हम क्यो इसके लिए सिर खपाये? परन्तु कदाचित् कोई कहेगा 'आभास वस्तुतः नही दीखता, किन्तु आभास रूप से दिखाई पडता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योकि उसको हम पूछ सकते है : 'क्या वह वस्तुत. आभास रूप से दिखाई पडता है अथवा केवल आभास रूप से दिखाई पडता है?' इस प्रकार चलते-चलते कही न कही तो उसे यह कहना पडेगा कि वह वस्तुत दिखाई पडता है, चाहे वह आभास रूप से दिखाई पडता हो। इसलिए वह स्वतः ही वास्तविकता का अंग बन जाता है। इस बात को तो स्वय प्लुतो भी अस्वीकार नही करता कि बहुत सारे बिछौने दिखाई पडते हैं, पर केवल 'एक बिछौना' वास्तविक है, जो कि ईश्वर द्वारा निर्मित है। परन्तु उसने इस बात के परिणामो के विषय मे तो सोचा ही नही होगा कि इसका तात्पर्य तो यही हो जाता है कि आभास भी बहुत सारे हैं, अत. यह बहुलता भी वास्तविकता का अंग हो जाती है। विश्व के कुछ एक तत्त्वो को दूसरो मे अधिक वास्तविक मान कर किया जाने वाला विश्व-विभाजन का प्रयत्न सदा ही असफल रहेगा।" रसल द्वारा किया गया प्लुतो के प्रत्ययवाद का यह खण्डन वस्तुत तर्क पर आधारित है और सहज रूप से ही 'वास्तविकता के स्वरूप' के विषय में एक नई दृष्टि देता है।

काण्ट के आदर्शवाद मे यह बताया गया कि वास्तविक तत्त्वो अथवा पदार्थों का अस्तित्व तो है, किन्तु हम जो कुछ भी इन्द्रियो के द्वारा जानते हैं, वह 'वास्तविक' नही है। काण्ट का अभिप्राय है कि जब हम इन्द्रिय द्वारा किसी भी पदार्थ को ग्रहण करते हैं, तब हमारी ग्रहण-क्रिया के हस्तक्षेप के कारण अनुभूत पदार्थ वह नही होता जो मूलत. अस्तित्व मे था। अतः अनुभूति मे जो पदार्थ आया, वह तो केवल प्रपच अथवा आभास ही है। जो वास्तविक पदार्थ था (जिसको काण्ट ने अपने-आपमे वस्तु कहा है), उसकी अनुभूति हम इन्द्रियो के द्वारा कभी नही कर सकते। उसका अस्तित्व तो केवल अनुमान द्वारा माना जा सकता है। क्योकि ज्यो ही हम उसे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते है, त्यो ही वह मूल स्वरूप मे नही रह पाता।[2]

---

१. वही, पृ० १५०, १५२।
२ क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, पृ० ३७, तथा देखे, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० २०६।

इस दृष्टि से देखा जाए तो काण्ट ने बाह्य विश्व अथवा भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का निषेध नही किया है। 'अपने-आपमे वस्तु' का स्वीकार कर काण्ट का सिद्धान्त यद्यपि वास्तविकतावाद के निकट आ जाता है, फिर भी उसमे आदर्शवाद की प्रधानता रही है। यद्यपि इस आदर्शवाद मे ज्ञाता के अतिरिक्त विश्व के अस्तित्व का निषेध नही किया गया है, फिर भी ज्ञाता की प्रधानता को अक्षुण्ण रखा गया है। इसलिए ऐन्द्रिय-अनुभूति द्वारा ज्ञात पदार्थ प्रपंच अथवा आभास माना गया है।

जैन दर्शन के दृष्टिकोण के साथ काण्ट के सिद्धान्त की तुलना की जाए, तो यहा तक तो दोनो सिद्धान्तो मे साम्य है कि अन्य पदार्थ ज्ञाता से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। जैन दर्शन मे पुद्गलास्तिकाय को स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष द्रव्य माना गया है। काण्ट ने 'अपने-आप मे वस्तुओ' का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ मे—चाहे वह परमाणु के रूप मे हो, चाहे परमाणुओ से बने स्कन्ध के रूप मे हो—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नामक गुण रहते हैं। वस्तु की अपेक्षा अथवा वस्तु-निष्ठ होने के कारण ये गुण ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। जब ज्ञाता किसी भी पुद्गल को इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करता है, तब ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण यदि वह वस्तु को मूल स्वरूप मे न भी जाने, तो भी इससे वस्तु का स्वरूप नही बदल जाता। उदाहरणार्थ—यह माना गया है कि प्रत्येक चक्षुग्राह्य पदार्थ अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध होता है। उसमे सभी वर्ण विद्यमान होते है। किन्तु जब हम उस पदार्थ को देखते हैं, तब यह आवश्यक नही होता कि उसमे रहे हुए सभी वर्ण हमे दिखाई दें। जैसे भ्रमर मे पाचो ही वर्ण होते हैं, फिर भी हमे वह काला ही दिखाई देता है। यह ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा भ्रमर के सभी वर्णो का ज्ञान सम्भव हो सकता है। जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि मे इस तथ्य को कहे तो निश्चय नय की दृष्टि में तो भ्रमर पाच वर्णो से युक्त है, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से भ्रमर काला है। काण्ट के सिद्धान्त का प्रपंच व्यवहार नय की दृष्टि से वस्तु-स्वरूप है, 'अपने-आप मे वस्तु' के रूप मे पदार्थ का स्वरूप निश्चय नय की दृष्टि से है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी काण्ट और जैन दर्शन के 'वस्तु' और 'ज्ञाता' के स्वरूप के विषय मे तो मूलभूत मतभेद रह ही जाता है। जहा काण्ट की मान्यता के अनुसार पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कभी नही हो सकता, वहा जैन दर्शन इसको असम्भव नही मानता

है। काण्ट के अनुसार ज्ञान द्वारा ही अनुभूत वस्तु को रूप दिया जाता है, जबकि वस्तु के स्वरूप मे कोई परिवर्तन ज्ञाता के हस्तक्षेप के द्वारा होता है, ऐसा जैन दर्शन नही मानता। काण्ट के दर्शन मे ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ मे सर्वथा भेद माना गया है तथा ज्ञाता की प्रत्यय शक्ति को सर्वोपरि बताया गया है, वहा जैन दर्शन ज्ञात अथवा अनुभूत पदार्थ और ज्ञेय मे भेद नहीं मानता; हमे जो भिन्नता दिखाई देती है, वह हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण है, न कि वस्तु-निष्ठ गुणो के परिवर्तन के कारण। इसके अतिरिक्त ज्ञेय और ज्ञाता का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व माना गया है तथा ज्ञाता के हस्तक्षेप (विषय-ग्रहण) से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप मे परिवर्तन नही होता, यह जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है।

अनुभववाद और जैन दर्शन

आदर्शवाद का तीसरा रूप है—अनुभववाद। लोक, बरकले, ह्यूम, विलियम जेम्स आदि दार्शनिक इस विचारधारा के प्रमुख प्रचारक हुए है। जैसे कि बरकले की विचारधारा के प्रतिपादन मे कहा जा चुका है, अनुभववाद मे आत्मा अथवा ज्ञाता के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की वास्तविकता को अस्वीकार किया गया है। अनुभववादी मानते है कि कोई भी पदार्थ जब तक हम उसको इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही करते, तब तक अस्तित्व-हीन रहता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो पदार्थ हमारे अनुभव के विषय बनते है, उनके अतिरिक्त सभी पदार्थ अवास्तविक है। सामान्य ज्ञान और पारम्परिक विज्ञान इस विचारधारा को कभी मान्य नही रख सकता। क्योकि हम जानते है कि विश्व मे बहुत सारे पदार्थ ऐसे हैं, जो किसी भी व्यक्ति के अनुभूति का विषय नही बनते। जैसे—बर्ट्रेण्ड रसल ने उदाहरण दिया है.[1] "रात्रि के समय मे जब घोर अन्धकार होता है और मैं नीद ले रहा हू, तब मेरे शयन-गृह मे विद्यमान सारे उपकरण किसी की भी अनुभूति का विषय नही बनते है।" इसका अर्थ यह तो नही हो सकता कि उस समय वे सारे उपकरण अवास्तविक हो जाते है। इसी प्रकार का दूसरा दृष्टान्त जी० ई० मूर द्वारा दिया गया है,[2] जिसमे यह बताया गया है कि आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार तो जब ट्रेन स्टेशन मे होती है, तब तो उसके चक्र वास्तविक होते हैं और जब वह स्टेशन से दूर चली जाती है, जहा कि इसके चक्रों को देखने वाला कोई नही होता, तब वे

---

१ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६८१।

२ देखें, वही, पृ० ६८२।

अवास्तविक बन जाते हैं। मनुष्य की सामान्य बुद्धि भी यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि जब हम चक्र को देखते है, तब वे यकायक अस्तित्व मे आते है और जब उन्हे देखने वाला कोई नही होता, तब वे अस्तित्व-हीन हो जाते हैं।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। चन्द्र के पिछले भाग को हम कभी नहीं देख सकते। आदर्शवाद के अनुसार तो वह भी अवास्तविक हो जायेगा।[1] डा० सेम्युअल जोन्सन ने बरकले के सिद्धान्त की व्यर्थता को प्रकट करने के लिए पास मे पडे हुए पत्थर को लात मार कर बताया कि पत्थर वास्तविक पदार्थ है। रसल ने अन्यत्र इसकी चर्चा करते हुए लिखा है :[2] "अनुभव क्या है? यह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अनुभूत घटना और अननुभूत घटना मे क्या अन्तर है? वर्षा की बून्दे, जो हम देखते हैं अथवा स्पर्श द्वारा जिनका अनुभव हम करते हैं वे तो 'अनुभूत' हैं और जो बून्दें जगल मे कही ऐसे स्थान मे गिरती हैं, जहा उन्हे अनुभव करने वाला कोई है ही नही, वे 'अननुभूत' हैं। इसका तात्पर्य यही होता है कि अनुभव वहा ही हो सकता है, जहा जीवन है...... ।" इस कथन के आधार पर अनुभववाद का खण्डन सहज रूप मे हो सकता है। क्योकि यदि 'अनुभूति' मे आने वाले पदार्थ ही वास्तविक हो, तब तो जिस स्थान मे जीवन्त प्राणी नही हैं, वहा तो कोई भी पदार्थ वास्तविक नही हो सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त को सामान्य बुद्धि के आधार पर भी स्वीकार नही किया जा सकता।

जैन दर्शन की ज्ञान-मीमासा के अनुसार ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, जो केवलज्ञानी[3] के द्वारा न जाना जा सके। बरकले के अनुसार भी शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क मे जो पदार्थ अस्तित्व रखते हैं, वे चाहे किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत न हो तो भी अस्तित्ववान हो जाते हैं। इस अर्थ मे देखा जाये तो विश्वस्थित सभी पदार्थ वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। किन्तु फिर भी बरकले और जैन दर्शन की विचारधारा मे मौलिक अन्तर रह जाता है। बरकले जहा शाश्वत आत्मा द्वारा अनुभूत होने के कारण ही बाह्य विश्व को अस्तित्ववान

---

१. वही, पृष्ठ ८४१।

२. वही, पृष्ठ ८४१।

३ 'केवलज्ञान' आत्मा का सहज गुण माना गया है, जो कर्मावरण के दूर होने पर प्रकट हो जाता है। 'केवलज्ञान' का अर्थ है—समस्त द्रव्य और पर्यायो का साक्षात्कार। इस ज्ञान मे आत्मा को किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नही रहती है।

स्वीकार करता है, वहा जैन दर्शन विश्व के सभी द्रव्यो का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष मानता है—ज्ञाता-सापेक्ष नही। बरकले का अभिमत है—ज्ञाता पदार्थों को जानता है अथवा उनका अनुभव करता है, इसलिए वे वास्तविक बनते है। जैन दर्शन प्रतिपादन करता है—द्रव्यो का अस्तित्व वास्तविक है; इसलिए वे ज्ञाता द्वारा जाने जाते हैं अथवा अनुभूत होते हैं।

वैज्ञानिको का आदर्शवाद और जैन दर्शन

पूर्व-पीठिका मे विज्ञान के सहज दार्शनिक स्वभाव की चर्चा मे यह बताया गया था कि [1] विज्ञान का एक सुनिश्चित दर्शन है। इससे यही तात्पर्य था कि विज्ञान मनुष्य के ज्ञान की धारा होने के कारण 'दर्शन' से अछूता नही रह सकता। किन्तु वैज्ञानिको के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक धाराएं विज्ञान का दर्शन है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जैसे मार्गेनो के शब्दो मे हमने देखा कि[2] वास्तविकता के विषय मे वैज्ञानिको का भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नही है। इस अभिप्राय के आधार पर मार्गेनो ने वैज्ञानिको को भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रकारो मे विभक्त किया है,[3] जिनमे प्लाक और आइन्स्टीन को विवेचनात्मक वास्तविकतावादी (क्रिटिकल रियलिस्ट्स) एडिग्टन और जिन्स को आदर्शवादी तथा बोहर और हाईसनवर्ग को विधानवादी अथवा प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिवीस्ट) बताया है। मार्गेनो तो यहा तक मानते हैं कि नितान्त आत्मवादी (सोलिप्सिस्ट) भी कुछ एक सीमाओ मे वैज्ञानिक बन सकता है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक दर्शन और वैज्ञानिको का दर्शन एक ही नही है। एडिग्टन ने विज्ञान के दर्शन का जिस रूप मे प्रतिपादन किया है उसे हम एडिग्टन का दर्शन कह सकते हैं, परन्तु विज्ञान का दर्शन नही कह सकते। इसी प्रकार अन्य वैज्ञानिको के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधाराए, उन वैज्ञानिकों के दर्शन है, न कि 'विज्ञान का दर्शन'।

आदर्शवादी वैज्ञानिको मे मुख्यत. एडिग्टन, वार्इल, सर जेम्स जीन्स जैसे वैज्ञानिक है। एडिग्टन ने यह तो स्वीकार किया है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता

---

१ देखें, पूर्व पीठिका, पृ० ६।

२ देखें, पृ० ६, टिप्पण २।

३. दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२।

४ देखें, वही, पृ० १२; नितान्त आत्मवादी मे सामान्यतया 'स्व' (आत्मा) के अतिरिक्त समस्त विश्व की वास्तविकता का निषेध किया गया है। ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद का एकान्तिक रूप 'नितान्त आत्मवाद' है।

का अस्तित्व है, किन्तु भौतिक विज्ञान के द्वारा हम विश्व का जो ज्ञान करते हैं, वह ज्ञाता-सापेक्ष है। एडिंग्टन की विचारधारा में ज्ञाता अथवा चैतन्य को प्रधानता दी गई है।[1] विज्ञान (विशेषतः भौतिक विज्ञान) विश्व के विषय में निरपेक्ष सत्य अथवा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को न जानना चाहता है और न जान सकता है। वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा हम जो ज्ञान करते हैं, वह पूर्णतः ज्ञाता-सापेक्ष है।[2] इसका कारण यही है कि विज्ञान चैतन्य और बाह्य विश्व की संयुक्त अनुभूति से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि भौतिक विश्व के पदार्थों का अस्तित्व चैतन्य की ज्ञान-पद्धति के द्वारा ही व्यक्त होता है और विज्ञान का सम्बन्ध इसके साथ होने के कारण विज्ञान द्वारा निर्मित नियम अथवा सिद्धान्त ज्ञाता-सापेक्ष ही हैं।

एडिंग्टन वास्तविकतावाद के कड़े विरोधी रहे हैं। उन्होंने वास्तविकतावाद को विरोधी विचारधारा के रूप में मान कर ही अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। वास्तविकतावाद का यह साधारण प्रतिपादन है कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष है तथा उनमें रहे हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुण भी वस्तु-सापेक्ष हैं। एडिंग्टन के कथनानुसार—"भौतिक पदार्थों में स्पर्श आदि वास्तविक गुण धर्म होते हैं, यह बात वैज्ञानिक प्रतिपादन के विरुद्ध है। उदाहरणस्वरूप वास्तविक 'सेब' का अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिष्क के बाहर स्वतन्त्र रूप से होता है इस बात का मैं विरोध नहीं करता और न मैं इस बात का भी विरोध करता हूं कि 'रस' का वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विरोध तो वास्तविकतावादियों की इस मान्यता से है कि वास्तविक सेब के भीतर ही वास्तविक रस का अस्तित्व है, जो ज्ञाता से सर्वथा निरपेक्ष है।[3] एडिंग्टन स्वयं यह मानते हैं कि अनुभूति में आने वाली बातों में 'ज्ञाता' अथवा 'मन' सर्वप्रथम और प्रत्यक्ष है; शेष सब उत्तरवर्ती अनुमान होने से परोक्ष है। प्रत्येक मनुष्य की अनुभूति में यह बात तो आती ही है कि उसकी चेतना में क्रमगत परिवर्तन होता रहता है—स्मृति, कल्पना, भावना आदि की अनुभूति भी इसके साथ-साथ होती रहती है। इस प्रकार किसी भी प्रकार की अनुभूति में एक ऐसा तत्व रहता है, जो यद्यपि व्यक्तिगत चैतन्य से भिन्न है, बहिर्जगत् के पदार्थों से भी भिन्न है, बहिर्जगत् के पदार्थ और उनकी ऐन्द्रिय अनुभूति तो

---

१ देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० १८५, १८७।

२ देखें, वही, पृ० १८४।

३ दी न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० २८१।

इससे बहुत बाद के हैं तथा परोक्ष हैं[1]।" इस प्रकार देखा जा सकता है कि एडिंग्टन की विचारधारा में ज्ञाता को प्रधानता दी गई है, वह इसलिए कि उनके अभिमत मे ज्ञाता की कोई भी अनुभूति नई नही होती, पुरानी अनुभूति के साथ कुछ-न-कुछ सादृश्य रखती ही है। ज्ञाता वही रहता है और पुरानी अनुभूति के आधार पर नई अनुभूति को जन्म देता है। यह नई-पुरानी का चक्र चलता रहता है और पुन. हमे वही अनुभूति होती है, जो पहले हो चुकी थी[2]। भौतिक विज्ञान इसी बात पर आधारित है कि भिन्न-भिन्न अनुभूतियों का ज्ञाता एक ही है और इसलिए ही भौतिक विज्ञान ज्ञाता-सापेक्ष विश्व का प्रतिपादन करता है[3]।

एडिंग्टन ने अपनी विचारधारा को सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद कहा है और बरकले के ज्ञाता-सापेक्षवाद से उसको भिन्न बताया है, इसकी चर्चा की जा चुकी है[4]।

नितान्त आत्मवाद में केवल 'स्व' को ही वास्तविक माना गया है। एडिंग्टन की विचारधारा के अनुसार हमारी चेतना के अतिरिक्त भी अन्य चेतना का वास्तविक अस्तित्व हो सकता है, क्योकि मेरे कान और वाचा की अनुभूति (सुने जाने और पढे जाने वाले शब्दो की) का जो मेरे लिए प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह दूसरो के लिए नितान्त भिन्न अनुभूति का परोक्ष ज्ञान हो सकता है, किन्तु नितान्त आत्मवाद यह स्वीकार नही करता। अत भौतिक विज्ञान नितान्त आत्मवाद का विरोधी हो जाता है[5]। एक स्थान मे वास्तविकतावादी विचारधारा को उद्धृत करके, उन्होने लिखा है कि इस प्रकार की विचारधारा बीसवी सदी के दर्शन का आधार कैसे बन सकती है, यह मेरी समझ मे नही आता[6]।

इस प्रकार एडिंग्टन के ज्ञाता-सापेक्षवाद का तात्पर्य यही लगता है कि चैतन्य या मन वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, जब कि भौतिक जगत् ज्ञाता-सापेक्ष

---

१. वही, पृ० २८० ।
२. वही, पृ० २८६ ।
३ वही, पृ० २८७ ।
४. देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० २७, तथा इसी पुस्तक मे पृ० १४ ।
५. दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० १९८, १९९ ।
६ वही, पृ० २११, २१२ ।

वास्तविकता है। यद्यपि एडिंग्टन ने अपनी पुस्तकों में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनकी विचारधारा बरकले के ज्ञाता-सापेक्षवाद से भिन्न है, नितान्त आत्मवाद से भी भिन्न है और वास्तविकतावाद से तो भिन्न है ही, फिर भी विज्ञान के अनुसार भौतिक पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप किस प्रकार का है और ज्ञाता अथवा चेतना पर उसका अस्तित्व किस प्रकार आधारित है, इनको वे स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। एडिंग्टन की विचारधारा में रही हुई अस्पष्टता के अनेक उदाहरण उनकी पुस्तकों में उपलब्ध होते हैं। प्रो० स्टेबिंग ने एडिंग्टन की विचारधारा की कटु आलोचना की है।[१] प्रो० स्टेबिंग एडिंग्टन के शब्द-प्रयोगों की अस्पष्टता के विषय में एक स्थान में लिखते हैं—"एडिंग्टन के लिए मेरी यही आलोचना है कि उनका चिन्तन ही स्वयं अस्पष्ट है और इस अस्पष्टता के परिणाम स्वरूप ही वे अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं, यह जाने बिना ही कि वे कहा तक समनार्थक हैं।[२] एडिंग्टन ने 'भौतिक विश्व' (फिजिकल वर्ल्ड), 'भौतिक विज्ञान का विश्व' (वर्ल्ड ऑफ फिजिक्स) और 'बाह्य विश्व' (एक्सटर्नल वर्ल्ड) आदि शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के समनार्थवाची रूप में किया है अथवा भिन्नार्थवाची रूप में किया है, इसका कोई स्पष्टीकरण उनकी कृतियों में उपलब्ध नहीं होता।[३] प्रो० स्टेबिंग ने एडिंग्टन की कृतियों में से ऐसे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[४] 'भौतिक विज्ञान का विश्व' और 'भौतिक विश्व' —इन दो शब्द-प्रयोगों में एडिंग्टन ने जो उलझन उत्पन्न कर दी है, इसके विषय में प्रो० स्टेबिंग ने एक स्थान पर लिखा है—"भौतिक विज्ञान का विश्व गाणितिक संज्ञाओं तक मर्यादित है, ऐसा तो एडिंग्टन कह सकते थे, किन्तु 'भौतिक विश्व' इस प्रकार मर्यादित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि उनके मन में इन दो प्रयोगों में कुछ अन्तर ही न हो, तब तो दूसरी बात है। एडिंग्टन का यह तर्क कि उनको अयथार्थ भाषा का प्रयोग करना ही पड़ा है, मेरे विचार में तो निरर्थक-सा ही है। अंग्रेजी भाषा की समृद्धता और उनका इस भाषा का ज्ञान निश्चय ही इतना पर्याप्त तो था ही कि वे स्पष्टतया यह बता सकते थे कि "भौतिक विश्व", "भौतिक विज्ञान का

१. देखें, एल० सुसन स्टेबिंग द्वारा लिखित फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स।

२. वही, पृ० १११।

३. वही, पृ० ११०।

४. देखें, वही, पृ० ९८ से १३२।

"विश्व", "बाह्य विश्व", "भौतिक वास्तविकता" और "प्रकृति" आदि शब्दों का प्रयोग वे किस अर्थ मे करना चाहते हैं तथा इनमे से कौन-कौनसे शब्द समानार्थवाची हैं। वस्तुत तो ऐसा लगता है कि वे मूलत ही उलझन मे हैं और उनकी दार्शनिक विचारधारा भी इस उलझन का ही परिणाम है।[1]"

यद्यपि एडिंग्टन ने इस आलोचना के बाद मे लिखी हुई अपनी पुस्तक[2] मे इन शब्दो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है और प्रो० स्टेबिंग की आलोचना का उत्तर देने का भी प्रयत्न किया है, फिर भी उनकी विचारधारा तो अस्पष्ट-सी ही रही है। 'फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स' मे वास्तविकतावाद के विरोध मे उन्होने जो तर्क दी हैं, वे स्वय ही अस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ— एक स्थान[3] मे वास्तविकतावादियो की विचारधारा के रूप में सी० ई० एम० जोड के कथन[4] को उद्धृत करके एडिंग्टन ने उसका खण्डन करने का प्रयत्न किया है। जोड के कथन मे यह बताया गया है कि ज्ञाता द्वारा ज्ञेय का विषय-ग्रहण होने पर उस प्रक्रिया के निमित्त से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही होता है। अब एडिंग्टन इसके विरुद्ध तर्क करते हुए लिखते हैं— "मैंने जो उद्धरण दिया, उसमे यह स्पष्ट नही बताया गया है कि उस प्रक्रिया के निमित्त से ज्ञाता (मन) मे भी कोई परिवर्तन होता है या नही। यदि ज्ञाता विषय-ग्रहण (perception) की प्रक्रिया के कारण परिवर्तित होता है, तो विषय-ग्रहण को (ज्ञाता और ज्ञेय के बीच) 'सम्बन्ध' के रूप मे बताना गलत होगा, अतः (ज्ञाता और ज्ञेय के बीच) एक से अधिक प्रकार के 'सम्बन्ध' वाला तर्क भी व्यर्थ हो जाता है। दूसरी ओर, यदि विषय-ग्रहण करने वाली प्रक्रिया से ज्ञाता और ज्ञेय—दोनो मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, तो विषय-ग्रहण होने के पश्चात् ज्ञाता और ज्ञेय के बीच एक नये प्रकार के सम्बन्ध जैसे 'स्मरण रखना', 'कल्पना करना' आदि का स्थापित होना कैसे सम्भव हो सकता है? ......[5]" इस उद्धरण मे एडिंग्टन ने जो तर्क दिया है, वह स्वय ही अस्पष्ट है। इसमे न तो एडिंग्टन ने यह बताया है कि यदि

---

१ फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, पृ० ११५।

२ देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स।

३. वही, पृ० २११।

४. देखें, इसी पुस्तक का पृ० १६; गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ७४ से उद्धृत।

५ दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० २१५।

विषय-ग्रहण की क्रिया के पश्चात् ज्ञाता मे परिवर्तन होना मान लिया जाये, तो भी विषय-ग्रहण को ज्ञाता तथा ज्ञेय के बीच सम्बन्ध रूप मानना गलत क्यो है और न उन्होंने इसका ही स्पष्टीकरण किया है कि यदि ज्ञाता और ज्ञेय विषय-ग्रहण की क्रिया के पश्चात् परिवर्तित न होते हो, तो भी स्मृति, कल्पना आदि रूप क्रियाए होने मे क्या आपत्ति है ? इस प्रकार के अनेक स्थल उनकी कृतियों मे पाये जाते हैं। कुछ भी हो, एडिंग्टन द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा यद्यपि उनके स्वय के अभिमतानुसार आधुनिक भौतिक विज्ञान के दर्शन को निरूपित करती है, वस्तुत. तो उनकी व्यक्तिगत मान्यताओ से प्रभावित है। इसी तथ्य के आधार पर उनके दर्शन की आलोचनाए हुई हैं। प्रो० स्टेबिंग ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है—"सर आर्थर एडिंग्टन के दार्शनिक ग्रन्थो से यह बात पायी जाती है कि उनकी स्वय की रूढ दार्शनिक भावना उन्हे इस बात के लिए चिन्तित करती है कि उनके वैज्ञानिक दर्शन को वे किस प्रकार से उनके जीवन-दर्शन के साथ सम्बन्वित कर सकें। किन्तु ऐसा करने में जो मूल्य उन्हे चुकाना पडा हैं, वह उनकी धारणा से अत्यधिक है।[1]" इस प्रकार एडिंग्टन के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा उनके स्वय का दर्शन है।

एडिंग्टन का दर्शन और जैन दर्शन

एडिंग्टन के दर्शन की जैन दर्शन के साथ तुलना करते समय हमे जैन दर्शन की ज्ञान-मीमासा और तत्त्व-मीमासा को ध्यान मे रखना होगा। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्षण 'उपयोग' अर्थात् चैतन्य-व्यापार है।[2] चैतन्य की प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा द्रव्यो को जानती है। प्रत्येक द्रव्य मे सहज रूप से अनन्त गुण विद्यमान होते हैं, जो मुख्यतया दो प्रकार के है—सामान्य और विशेष। ये गुण द्रव्य मे वस्तु-निष्ठ होते हैं। इनको आत्मा जब जानती है, तब वह जानना क्रमश दर्शन[3] (अनाकार उपयोग) और ज्ञान (साकार उपयोग) कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु (ज्ञेय) के वस्तु-निष्ठ गुणो के कारण

---

१. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, प्रिफेस, पृ० १० ।

२ उपयोगलक्षणो जीव ।। चेतनाव्यापार उपयोग. ।।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, २-१, २ ।

३. 'दर्शन' शब्द जैन ज्ञान-मीमासा का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—वस्तु (द्रव्य) के सामान्य गुणो का अवबोध। यह सामान्यतया प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द से नितान्त भिन्न है [illegible]

ही ज्ञाता (आत्मा) का अवबोध दो प्रकारो मे विभक्त हो जाता है। दूसरी जो जैन ज्ञान-मीमासा की अपनी मौलिक और विशिष्ट बात है, वह यह है कि ऐन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त 'अतीन्द्रिय ज्ञान' का होना भी वह स्वीकार करता है। जहा ऐन्द्रिय ज्ञान मे आत्मा वस्तुओ को इन्द्रिय और मन की सहायता से जानती है, वहा अतीन्द्रिय-ज्ञान मे बिना इनकी सहायता से अपने आप ज्ञेय वस्तु को जान लेती है। जैन दर्शन मे ज्ञान के पाच भेद बताये गये[1] हैं। उनमे से प्रथम दो—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तो ऐन्द्रिय है और शेष तीन—अवधिज्ञान, मन पर्यव ज्ञान और केवलज्ञान अतीन्द्रिय हैं। प्रथम दो आत्मा के अतिरिक्त बाह्य साधनो की अपेक्षा रखते हैं (चाहे वे साधन इन्द्रिय अथवा मन के रूप में हो या भौतिक उपकरणो के रूप मे हो), जबकि शेष तीन मे बाह्य भौतिक साधनो की किंचित् भी अपेक्षा नही रहती। इसीलिए अवधि, मन.पर्यव और केवल—ये तीन प्रत्यक्ष माने जाते हैं और मति-श्रुत परोक्ष माने जाते है।

दूसरी ओर जैन तत्त्व-मीमासा का यह निरूपण स्पष्ट हो ही चुका है कि जीवास्तिकाय (आ मा) और पुद्गलास्तिकाय, दोनो स्वतन्त्र तत्त्व है और वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताए हैं। चैतन्य आत्मा का असाधारण गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये पुद्गल के अनिवार्य गुण हैं और वस्तु-सापेक्ष हैं। पुद्गल तत्त्व की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, जिसमे हो, वह पुद्गल है।[2]

एडिंग्टन के दर्शन और जैन दर्शन मे कितना साम्य-वैषम्य है, यह अब

---

१ (१) मतिज्ञान—इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सहायता से होने वाला।
(२) श्रुतज्ञान—स्व और पर को अवबोध कराने मे समर्थ मतिज्ञान।
(३) अवधिज्ञान—बाह्य साधनो की अपेक्षा के बिना केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला दृश्य पदार्थों का ज्ञान।
(४) मन.पर्यवज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला सञ्ज्ञी प्राणियो के मनोभावो का ज्ञान।
(५) केवलज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला समस्त द्रव्यो व पर्यायो का साक्षात्कार।
(इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखे, श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश दूसरा तथा भिक्षुन्यायकर्णिका, विभाग, ५)

२ स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गल.।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-११।

सरलतया स्पष्ट हो सकता है। एडिंग्टन ने अपने दर्शन का आधार ज्ञान मैमासिक विश्लेषण को बना कर यह प्रतिपादित किया है कि चैतन्य एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, जो हमारे सारे ज्ञान, अनुभूति, विचार, स्मृति आदि का स्रोत है। जैन दर्शन भी आत्मा का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है और उसको ही सभी चेतनामय प्रवृत्तियो का स्रोत मानता है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के विषय मे तथा उसके गुण के विषय मे दोनो दर्शनो का सदृश प्रतिपादन रहा है।

बाह्य विश्व अथवा भौतिक जगत् के 'अस्तित्व' का जहा तक प्रश्न है, दोनो ही दर्शन उसको स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के विषय मे दोनो मे मौलिक मतभेद प्रतीत होता है। एडिंग्टन यह मानते है कि भौतिक पदार्थ के वर्ण, रस आदि सभी गुण वस्तु-निष्ठ न होकर केवल चैतन्य की प्रवृत्ति के निमित्त ही उसमे आरोपित होते है, जब कि जैन दर्शन के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व चैतन्यजन्य नही, अपितु पुद्गल मे स्वाभाविक रूप से ही होता है। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं।[1] परमाणु का अस्तित्व जिस प्रकार वस्तु-सापेक्ष है—ज्ञाता-सापेक्ष नहीं, उसी प्रकार स्पर्शादि गुणचतुष्टय भी परमाणु के वस्तु-सापेक्ष गुण है और ज्ञाता की अपेक्षा विना ये सदा परमाणु मे रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि स्पर्शादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व भी ज्ञाता-सापेक्ष न होकर वस्तु-सापेक्ष ही है। विश्व मे अस्तित्ववान् अनन्त परमाणुओ में अनन्त प्रकार से इन गुणो का वैविध्य और तारतम्य होता है। उदाहरणार्थ हम वर्ण को लें—काला, नीला, रक्त, पीत और श्वेत—पाच प्रकार के वर्ण मौलिक माने जाते हैं। प्रत्येक परमाणु मे इन पाच वर्णों मे से कोई भी एक वर्ण अवश्य होता है। इसमे भी फिर समान वर्ण वाले परमाणुओ मे उस वर्ण की मात्रा का तारतम्य होता है। कुछ एक परमाणु केवल एक गुण (यूनिट) काले होते है, कुछ एक परमाणु दो गुण काले, कुछ अनन्त गुण काले भी होते है। इस प्रकार से अन्य वर्णो की तथा रस आदि गुणो की भी विविधता और तारतम्य वस्तु-सापेक्ष रूप मे परमाणुओ मे होता है। इस प्रकार वर्णादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व न तो चेतना द्वारा आरोपित है और न चेतना पर आधारित ही है। यह जैन परमाणुवाद की तात्त्विक रूपरेखा है। इसके अनु-

---

१. एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श कार्य लिङ्गश्च।

—पञ्चास्तिकायसार।

सार 'सेव', जिन परमाणुओं का बना हुआ है, उनमे से प्रत्येक परमाणु मे कोई न कोई 'रस' तो होता ही है और इन सब परमाणुओं के समूह रूप सेव का रस भी वास्तविक अस्तित्व रखता है।[1]

आधुनिक विज्ञान भौतिक पदार्थ की अन्तिम इकाई तक पहुच नही पाया है, फिर भी अणु-स्थित कण—'ऋणाणु', 'धनाणु' आदि व्यवहारिक रूप मे भौतिक पदार्थों की इकाइयो के रूप मे माने जाते है। एडिंग्टन इन कणों के वास्तविक अस्तित्व को तो स्वीकार करते है, पर इनमे वर्णादि गुणो का वास्तविक अस्तित्व है, ऐसा वे नही मानते। उनके यह बात समझ मे नही आती कि ज्ञाता की अपेक्षा के बिना भी स्वयं परमाणु और पदार्थ वर्णादि को किस प्रकार धारण कर सकते हैं। किन्तु यह केवल उनकी रूढ आदर्शवादी विचारधारा के कारण से है, ऐसा लगता है।

वर्णादि की विविधता प्रत्यक्षतया हमारी अनुभूति मे आती है और एडिंग्टन भी इसका निषेध नही कर सकते। अब, यदि यह विविधता वस्तु-निष्ठ न होती, तो एक ही चैतन्य को विभिन्न पदार्थ विविध वर्णादि वाले किस प्रकार अनुभूत होते ? साथ ही यदि वर्णादि को बुनने वाला चैतन्य ही होता और पदार्थ अपने आपमे निर्गुण ही होता, तो फिर एक ही पदार्थ नाना ज्ञाताओ के द्वारा समान ही वर्णादि वाला क्यो अनुभूत होता[2] अर्थात् यदि

१ देखें, दी न्यु पाथवेज इन साईन्स, पृ० ८८।

२. यह सही है कि कभी-कभी एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न ज्ञाताओ को भिन्न-भिन्न वर्णादि वाला अनुभूत होता है, किन्तु इसका कारण व्यक्तिगत क्षमता और साधनो की भिन्नता है। जैसे वर्णांध व्यक्तियो को वर्णो की विविधता का कोई पता नही चलता। इस प्रकार मुझे जो वस्तु स्वाद मे मीठी लगती है, वह दूसरे व्यक्ति को खारी भी लग सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वस्तु-निष्ठ कोई रस उस वस्तु मे है ही नही। अनुभूति मे रसो की भिन्नता का होना हम दोनो की रसनेन्द्रिय की क्षमता और रचना-भिन्नता का द्योतक है। जो 'रस' हमे अनुभूति मे ज्ञात होता है, वह वस्तु-निष्ठ रस के साथ रसनेन्द्रिय के रासायनिक और भौतिक प्रक्रिया के फलस्वरूप निष्पन्न 'रस' है। अत यदि मेरी और दूसरे व्यक्ति की रसनेन्द्रिय मे थोडा-सा भी अन्तर होता हो तो अनुभूत 'रस' दोनो के लिए भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसको हम गाणितिक समीकरण के द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं : यदि **अ** वस्तु-निष्ठ-गुण हो, **ब**$_1$ और **ब**$_2$ दो ज्ञाताओ की इन्द्रियो की रचना के द्योतक

पदार्थ मे स्वय किसी भी प्रकार का वैशिष्ट्य न हो तो सभी ज्ञाता उसे समान रूप से अनुभव करें, यह सम्भव नही हो सकता। उदाहरणार्थ—दूब का रग सभी मनुष्यो को हरा दिखाई देता है। एडिंग्टन का मत है कि इसमे दूब की स्वयं की कोई विशिष्टता नही है। ज्ञाता अपनी विशिष्ट चैतन्य शक्ति के कारण

अचल हो और क_1 और क_2 क्रमंश दोनो ज्ञाताओ द्वारा अनुभूत गुण हो, तो—

$$\text{अ} + \text{ब}_1 = \text{क}_1$$

होगा, और

$$\text{अ} + \text{ब}_2 = \text{क}_2$$

होगा। इस समीकरण से स्पस्ट हो जाता है कि यदि

$$\text{ब}_1 = \text{ब}_2$$

हो, तो

$$\text{क}_1 = \text{क}_2$$

होगा। अर्थात् दोनों ज्ञाताओं को समान अनुभूति होगी। सामान्यतया यही होता है, क्योकि अधिकाश रूप मे मनुष्यो के लिऐ ब_1, ब_2 आदि भिन्न-भिन्न नही होते। इन समीकरणो से यह भी स्पष्ट हो जाना है कि अ और क समान तभी हो सकते हैं जबकि ब का मूल्य शून्य हो अर्थात् इन्द्रिय रूप साधन की रचना और क्षमता का बिल्कुल ही प्रभाव हमारे ज्ञान पर न पड़े, तभी हमारी अनुभूति में आने वाले गुण पदार्थ के वस्तु-निष्ठ गुण हो सकते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान मे यह सम्भव हो जाता है। इसकी चर्चा यथास्थान आगे की गई है। साथ ही यह भी सम्भव है कि एक ही ज्ञाता के लिए ऐन्द्रिय रचना और क्षमता परिवर्तित हो जाये, अर्थात् ब का मूल्य अचल न रहे, तब एक ही ज्ञाता को एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न रूप से अनुभूत होगा। जैसे—एक मनुष्य यदि चीनी मिलाया हुआ दूध पीता है तो उसे वह मीठा लगता है। वही मनुष्य यदि मिष्टान्न खाने के बाद उसी दूध को पीता है तो फीका लगता है। इसका अर्थ यही होता है कि ब का मूल्य दोनो परिस्थितियो में भिन्न-भिन्न होगा। किन्तु सामान्य परिस्थिति मे ब के मूल्य को सभी ज्ञाताओ के लिए सम माना जा सकता है।

ही दूब को हरी देखता है, किन्तु यह न तो सामान्य तर्क के आधार पर सही लगता है, न वर्तमान मे उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर और न जैन दर्शन की तत्त्व-मीमासा के आधार पर भी। सामान्य बुद्धि हमे यही बताती है कि दूब का चैतन्य से सम्बन्ध न हो तो भी वह हरी ही रहती है।

दूसरी ओर विज्ञान 'रग' की प्रक्रिया को तरग-सिद्धान्त के आधार पर समझाता है। विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सूर्य के सफेद प्रकाश में समग्र चाक्षुष वर्णपट का समावेश हो जाता है। सूर्य से प्रसारित होने वाले प्रकाश-तरग जब पदार्थ मे होकर गुजरते हैं, तब उस पदार्थ की स्वय की विशिष्टता के कारण एक विशेष तरग-दैर्घ्य को छोड कर शेष सभी उस पदार्थ के द्वारा शोषित हो जाते हैं। इस प्रकार जब दूब मे से प्रकाश की तरगें गुजरती हैं, तब दूब की विशिष्टता के कारण ही हरे रग को सूचित करने वाली तरग-दैर्घ्य को छोडकर शेष तरग-दैर्घ्य वाली सभी तरगें दूब के द्वारा शोषित (एब्सोर्ब्ड) हो जाती हैं। हमारी आँख तक केवल वे ही तरगें पहु-चती हैं, जिनका तरग-दैर्घ्य हरे रग को सूचित करता है और इसीलिए हमें दूब हरी दिखाई देती है। इस तरह वैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार भी हमारा—चैतन्य का—ज्ञाता का—दूब को हरा, गुलाब को लाल और सतरे को नारगी देखना हमारे चैतन्य पर आधारित नहीं है, किन्तु इस बात पर आधा-रित है कि कौनसा तरग-दैर्घ्य उन पदार्थों के द्वारा शोषित नही हो पाता। तरग-दैर्घ्यो का शोषण पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर करता है अथवा दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो पदार्थ के स्वरूप मे ही पदार्थ का वर्ण निहित है। इसलिए एडिंग्टन का यह मन्तव्य कि वर्ण को बुनने वाला चैतन्य है, वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भी गलत ही सिद्ध हो जाता है।

जैन दर्शन तो यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पुद्गल स्वय ही स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त होता है। दूब के परमाणुओ मे सभी वर्ण वाले परमाणु मौजूद हैं, इसलिए वस्तुत. तो दूब का रग हरा ही नही है, किन्तु हरे रग वाले परमाणुओ की सख्या अधिक होने के कारण दूब हमे हरी दिखाई देती है। वस्तुत. तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जैन दर्शन के दृष्टिकोण मे अधिक अन्तर ही नही रह जाता; क्योंकि पदार्थ का वर्ण दोनो दृष्टिकोणो के अनुसार पदार्थ की रचना मे ही निहित होता है। पदार्थ के द्वारा कौन-कौनसे तरग-दैर्घ्य का शोषण होता है, इसका आधार पदार्थ की रचना है—पदार्थ-स्थित परमाणुओ का मूल वर्ण ही है। वर्णादि गुणो से रहित ऋणाणु किस प्रकार का अस्तित्व रखता है, इस विषय मे एडिंग्टन ने कोई स्पष्टीकरण नही किया है। सम्भवत उनके अभिमता-

नुसार संहति या विद्युत्-आवेश ही केवल भौतिक पदार्थ (ऋणाणु आदि) का वास्तविक गुण है और वर्णादि गुण केवल चैतन्य द्वारा आरोपित होते है। जैन दर्शन संहति को 'स्पर्श'[1] गुण मानता है। अकेले परमाणु मे संहति होती ही नहीं है। अकेले परमाणु मे दो स्पर्श होते हैं। स्निग्ध-रूक्ष के युग्म मे से एक और शीत-उष्ण के युग्म मे से एक। इस प्रकार 'संहति' जो लघु-गुरु स्पर्श गुणों से उद्भूत होती है, परमाणु पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है।[2]

अब तक हमने केवल ऐन्द्रिय ज्ञान की चर्चा की। जैन दर्शन मे अतीन्द्रिय ज्ञान का विस्तृत रूप से विवेचन उपलब्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में पदार्थ के वस्तु-निष्ठ गुण उसी रूप मे जाने जाते है जिस रूप मे वे वस्तुत. ही हैं; क्योकि यहां आत्मा का ज्ञेय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान मे आत्मा किसी भौतिक साधन की सहायता के बिना पदार्थ के गुणो का ज्ञान करती है; अतः इन्द्रिय आदि साधनो के हस्तक्षेप के कारण जो भिन्नता अनुभूत गुण और वस्तु-निष्ठ गुण मे उत्पन्न हो जाती है, वह यहा नही होती। इस प्रकार के ज्ञान की सहायता से परमाणु और स्कन्ध मे रहे हुए वस्तु-सापेक्ष वर्णादि गुण का ज्ञान मनुष्य कर सकता है।

एडिंग्टन के दर्शन मे प्रयुक्त 'भौतिक विज्ञान का विश्व' और 'भौतिक विश्व' इन दो शब्दो के उलझन की चर्चा हम कर चुके है। अब जैन दर्शन के आलोक में इन दो शब्दों का अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकता है। 'भौतिक विश्व' पौद्गलिक विश्व है, जिसमे परमाणु और स्कन्ध अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, एक दूसरे के साथ जुडते हैं और एक दूसरे से पृथक् होते है—यह भेद और सघात की क्रिया वस्तु-सापेक्ष रूप से चलती रहती है। जब इस विश्व को हम अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते हैं, तब हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व भी 'भौतिक विश्व' के सदृश ही होता है, किन्तु जब इन्द्रिय, मन और

---

१ स्पर्श पुद्गल का मूल गुण है। उसके आठ भेद हैं—स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, लघु, गुरु, मृदु, कठोर। इनमे से स्निग्ध-रूक्ष व शीत-उष्ण—ये चार स्पर्श मौलिक हैं और शेष चार स्पर्श परमाणुओ के सयोग से उत्पन्न होते हैं। रूक्ष, स्निग्ध आदि केवल स्पर्श की अभिव्यक्ति के प्रकार नही है, किन्तु परमाणु में वस्तु-सापेक्ष रूप से रहने वाले गुण हैं। चैतन्य की अनुभूति के साथ इनकी स्थायी सत्ता नहीं बदलती।

२. संहति-शून्य परमाणु की चर्चा 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' की समीक्षा मे विस्तृत रूप से की जायेगी।

बाह्य उपकरणों की सहायता से हम 'भौतिक विश्व' को जानते हैं तब हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व और 'भौतिक विश्व' मे कुछ अन्तर रह जाता है। यह अन्तर हमारे अथवा ज्ञाता के इन्द्रिय, मन और अन्यान्य साधनों के हस्त-क्षेप तथा सीमितता के कारण उत्पन्न होता है। 'भौतिक विज्ञान' भी इस प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान का ही विशिष्ट प्रकार है। अत. इसके द्वारा जाने जाने वाले विश्व को हम 'भौतिक विज्ञान का विश्व' कह सकते हैं। इस दृष्टि से इसके नियमो को "ज्ञाता-सापेक्ष" मानना भी अनुचित नही है। इस प्रकार "भौतिक विज्ञान के विश्व' को यदि एडिंग्टन ज्ञाता-सापेक्ष कहते हैं तो वह जैन दर्शन की दृष्टि से भी सही है।

एडिंग्टन के दर्शन में 'भौतिक विश्व' और 'भौतिक विज्ञान के विश्व' के बीच के अन्तर के विषय में जो अस्पष्टता रही है, उसका एक कारण सम्भवत: यह भी हो सकता है—पदार्थ मे रहे हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुणो का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ही मनुष्य करता है। प्रत्यक इन्द्रिय मे अपने-अपने विषय को ग्रहण करने वाले संवेदन-शील ज्ञान-तन्तुओ की विशिष्ट प्रकार की रचना होती है। इस प्रकार ऐन्द्रिय रचना और पदार्थ के गुणो मे जो प्राकृतिक सादृश्य है, वह यह प्रश्न उत्पन्न कर देता है कि क्या स्पर्शनेन्द्रिय आदि की ऐन्द्रिय विशिष्टता मौलिक है और इनके निमित्त से ही पदार्थ स्पर्शादि गुण वाले बन जाते हैं अथवा पदार्थ स्वभा-वतया स्पर्शादि गुणो को धारण करने वाले हैं और स्पर्शनेन्द्रिय आदि की रचना स्वतन्त्र तथ्य है? एडिंग्टन ज्ञाता की ऐन्द्रिय विशिष्टता को मौलिक मान कर ज्ञाता-सापेक्षवाद को स्थापित करते हैं, किन्तु वस्तुत तो 'भौतिक विश्व' मे स्पर्शादि गुण ही मौलिक और प्रधान है। 'भौतिक विज्ञान के विश्व' मे ऐन्द्रिय रचना की विशिष्टता को प्रधान माना जा सकता है; फिर भी यह केवल ज्ञान-मीमासा के क्षेत्र से सम्बन्धित तथ्य है। जहा तत्त्व-मीमासा का प्रश्न है, वहा तो ऐन्द्रिय रचना को एक स्वतन्त्र तथ्य के रूप मे ही मानना उपयुक्त होगा।

एडिंग्टन के दर्शन का सबसे अधिक निर्बल पक्ष यह है कि जिस भौतिक विज्ञान पर वह आधारित है, वह भौतिक विज्ञान अब तक, "भौतिक पदार्थ की चरम इकाई क्या है?" 'उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है?' आदि प्रश्नो का उत्तर देने मे असमर्थ रहा है। जिन सज्ञाओ का प्रयोग भौतिक विज्ञान मे किया जाता है, उन सज्ञाओ के तात्त्विक स्वरूप के विषय मे वह कुछ भी नही बताता।

उदाहरणार्थ—वर्ण को समझाने के लिए भौतिक विज्ञान मे प्रकाश-तरगो के दैर्घ्य का विवेचन किया गया है; किन्तु प्रकाश स्वय क्या है—तरग-रूप है या कण रूप ? पदार्थ प्रकाश-तरगो को किस कारण से शोषित करता है ? आदि प्रश्नो का समाधान भौतिक विज्ञान अब तक नहीं दे पाया है और तब तक नही दे पायेगा, जब तक कि भौतिक पदार्थ का चरम रूप स्पष्ट नही हो जाता। वर्तमान मे इस विषय मे अनेक प्रकार की उपधारणाए और परि-कल्पनाए विज्ञान जगत् मे प्रचलित है। भौतिकवादी वैज्ञानिक जहा ऐसी परि-कल्पनाओ के आधार पर वर्ण को वस्तु-सापेक्ष गुण के रूप मे प्रतिपादित करते है, वहा एडिंग्टन का दर्शन ऐसी ही कोई परिकल्पना का आधार लेकर वर्ण को ज्ञाता-सापेक्ष गुण के रूप मे निरूपित करता है। इस प्रकार का प्रतिपादन केवल आनुमानिक है, अनाधारित है और प्रत्यक्ष अनुभव का प्रतिरोधी है।

जैन दर्शनकारो ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अपने अतीन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जाना है और इसके आधार पर ही परमाणुवाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वर्ण आदि गुण वस्तुतः ही वस्तु-निष्ठ होते हैं, इत्यादि प्रतिपादनो का आधार उनके वस्तु-स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। जैन दर्शन के अनुसार तो इस स्वरूप को ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाना ही नही जा सकता। अत भौतिक विज्ञान केवल ऐन्द्रिय ज्ञान के आधार पर कभी भी इसको जानने मे समर्थ नही बनेगा, ऐसा जैन दर्शन के आधार पर कहा जा सकता है।

एडिंग्टन के दर्शन की विविध दृष्टिकोणो के आलोक मे समीक्षा करने का प्रयत्न हमने किया। विश्व के तत्त्व-मैमासिक पहलू की चर्चा एक स्वतन्त्र और अति विस्तृत विषय है। यहा पर तो इसकी चर्चा गौण रूप मे ही की गई है। इस चर्चा का उपसहार इन छ तथ्यो मे किया जा सकता है।

१ ज्ञान-मैमासिक विश्लेषण के आधार पर एडिंग्टन ने चैतन्य तत्त्व का वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन दर्शन भी जीवा-स्तिकाय को स्वतन्त्र वास्तविक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है।

२ भौतिक विज्ञान के द्वारा इस वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को जानना मनुष्य के लिए सभव नही है—यह एडिंग्टन का स्पष्ट अभिप्राय है। जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि आत्मा आदि अरूपी द्रव्य सकल ज्ञान (केवल ज्ञान) के विषय हैं, विकल ज्ञान (मति आदि चार) के द्वारा ये नहीं जाने जा सकते।

३. अनुभूति, स्मृति, कल्पना, सवेदना आदि चैतन्य तत्त्व के ही लक्षण है। एडिंग्टन के दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन को भी मान्य है।

४ एडिंग्टन अपने दर्शन को वर्तमान भौतिक विज्ञान द्वारा आधारित मानते है; अतः वे उसको 'वैज्ञानिक दर्शन' की सज्ञा देते हैं, किन्तु यह उपयुक्त नही लगता। वस्तुत. यह विचारधारा उनकी व्यक्तिगत रूढ मान्यताओ पर आधारित है; अत. इसको वैज्ञानिक दर्शन न मानकर 'एडिंग्टन का दर्शन' मानना ही अधिक उपयुक्त लगता है।

५. यद्यपि एडिंग्टन का दर्शन भौतिक जगत् का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है, फिर भी उसके स्वरूप के विषय मे अस्पष्ट रहा है। अपने दर्शन को वे 'सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद' के रूप मे प्रतिपादित करते हैं, इसका तात्पर्य यही लगता है कि भौतिक पदार्थ के अस्तित्व को तो वे वस्तु-सापेक्ष मानते है, किन्तु वर्ण, गन्ध आदि गुणो को ज्ञाता-सापेक्ष मानते हैं। इस विषय मे जैन दर्शन भिन्न अभिमत रखता है। जैन दर्शन पुद्गलास्तिकाय को स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानता है।

६ भौतिक पदार्थ के चरम वास्तविक स्वरूप को अब तक भौतिक विज्ञान नही जान सका है। इस प्रकार एडिंग्टन का दर्शन वर्तमान भौतिक विज्ञान के अपूर्ण और सम्भवत गलत ज्ञान पर आधारित है। जैन दार्शनिको ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जान कर अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन के अनुसार तो पुद्गल (भौतिक तत्त्व) का चरम स्वरूप ऐन्द्रिय ज्ञान का विपय नही बन सकता[1] और इसलिए 'भौतिक विज्ञान' के आधार पर इसका वास्तविक ज्ञान होना समव नही है[2]। इस दृष्टि

---

१ छउमत्थेरण भन्ते ! मणुमे परमाणुपोग्गल किं जाणति पासति उदाहु न जाणति न पासति ?

गोयमा ! अत्थेगतिए जाणति न पासति, अत्थेगतिए न जाणति न पासति।

—भगवती सूत्र, १८-८-६४१।

२ सुविख्यात विज्ञानविद् सर डब्ल्यू० सी० डैम्पियर ने विज्ञान के इतिहास पर लिखी अपनी पुस्तक मे भी वैज्ञानिक पद्धति की इस सीमितता का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—"जब हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते हैं तो हर हालत मे हम कोई-न-कोई बाहरी उपकरण प्रयुक्त करते है। यह उपकरण किसी-न-किसी रूप मे परमाणु को प्रभावित करता है और

मे एडिंग्टन का यह अभिमत कि 'भौतिक विज्ञान' के द्वारा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को जानना अशक्य है, भी सही तथ्य का ही उच्चारण है, ऐसा कहा जा सकता है।

जीन्स का दर्शन और जैन दर्शन

आदर्शवादी वैज्ञानिको मे एडिंग्टन के बाद प्रधान स्थान सर जेम्स जीन्स का है। जीन्स ने अपनी विचारधारा का प्रतिपादन मुख्यतया अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीरियस युनिवर्स' मे किया है। जहा तक भौतिक विज्ञान के विचारक और प्रायोगिक क्षेत्रो का प्रश्न है, जीन्स का स्थान प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिको मे रहा है। उष्णता के सम्बन्ध मे जीन्स ने कुछ एक मौलिक सिद्धान्तो का स्थापन भी किया है। किन्तु जहा दर्शन का प्रश्न है, वहा पर तो जीन्स का दर्शन भी एडिंग्टन के दर्शन की भाति अस्पष्ट ही रहा है। उनकी कृतियो मे स्थान-स्थान पर परस्पर विरोधी कथन और उलझनपूर्ण चिन्तन नजर आता है। प्रो० स्टेबिंग ने जीन्स और एडिंग्टन; दोनो की कटु आलोचना की है।

जीन्स के विचारो की अस्पष्टता का एक उदाहरण प्रो० स्टेबिंग के शब्दो मे इस प्रकार मिलता है—'विश्व शुद्ध गणितज्ञ के द्वारा निर्मित हुआ है' और 'विश्व शुद्ध गणितज्ञ के विचारो से बना हुआ है', इन दो कथनो को जीन्स समानार्थक मानते है या नही, इसका निर्णय करना सरल नही है। ये दो कथन निश्चय ही भिन्न-भिन्न अर्थ को सूचित करते है, किन्तु जीन्स को इनकी भिन्नार्थकता का ज्ञान नही है, ऐसा लगता है। ...... "(जीन्स द्वारा प्रयुक्त) 'अच्छे शब्दो के अभाव मे' और 'बृहद् शब्दो के अभाव मे' इस वाक्य को इतना अधिक स्पष्ट और सम्भवत. निरर्थक नही बना देता। जितना कि 'गाणितिक' 'गणितज्ञ' और 'विचारक' (शब्द का प्रयोग) बनाता है। वस्तुतः तो 'विचार' और 'विचार करना' इन शब्दो के द्वारा जीन्स क्या कहना चाहते हैं, इसका स्पष्ट निर्देशन कही पर हो नही मिलता। फिर भी, 'विचार' की कल्पना पर ही उनका सारा तत्त्व-दर्शन आधारित है।[1] इस प्रकार की अस्पष्टता जीन्स की समग्र विचारधारा मे व्याप्त है। उनकी विचारधारा का क्या तात्पर्य हो सकता है, इसके विषय मे स्टेबिंग एक स्थान पर लिखते हैं, "इस विचारधारा

उसमे परिवर्तन ला देता हैं तथा हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते हैं, वास्तविक परमाणु नही।"

—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ० २९९।

१. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, पृ० २५।

का तात्पर्य यह होता है कि 'वस्तु-सापेक्ष' और 'ज्ञाता-सापेक्ष' दोनो ही उसके अन्तर्गत आ जाते हैं, जो हमारे मन के भीतर ही हैं। जीन्स की विचारधारा का तात्पर्य यही है, ऐसा उनकी मान्यता के आधार पर कहा जा सकता है कि 'आधुनिक भौतिक विज्ञान के सामान्य मन्तव्य के अनुसार जिस प्रकृति का अध्ययन हम करते हैं, उसमे वे पदार्थ अधिक नही है, जिनको हम ग्रहण करते है, किन्तु वे अधिक है, जो हमारी 'अनुभूतियो के रूप मे' हैं, वह (प्रकृति) 'ज्ञाता-वस्तु' सम्बन्ध की 'वस्तु' नही है, अपितु स्वय वह सम्बन्ध ही है। वस्तुतः तो ज्ञाता और वस्तु के बीच मे कोई स्पष्ट भिन्नता है ही नही, वे दोनो मिल कर एक अखण्डता का निर्माण करते है, जो अब 'प्रकृति' बन जाती है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि प्रकृति 'हमारी अनुभूतियो' और जिनको हम ग्रहण करते हैं, इन दोनो के अभेद्य गठबन्धन से बनी हुई है। तो फिर हम किसको ग्रहण करते है ? इस प्रश्न का (जीन्स के द्वारा) दिया गया उत्तर अत्यन्त ही अस्पष्ट है।"[1] प्रोफेसर स्टेबिंग ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण अपनी कृति मे दिये हैं, जो जीन्स के दर्शन की अस्पष्टता और त्रुटियो का विशद दिग्दर्शन कराते हैं।

कुछ एक अस्पष्टताए तो हमे भी सहसा प्रतीत होती हैं। जैसे एक स्थान मे जीन्स ने विश्व को ईथर-तत्त्व की उर्मि-मालाओ से बना हुआ प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "यह विश्व जिनसे बना है, वे ईथर-तत्त्व और उनकी उर्मि-मालाएं पूर्ण सम्भावनाओ के साथ काल्पनिक ही प्रतीत होती हैं। किन्तु कहने का अर्थ यह नही है कि उनका कोई अस्तित्व ही नही है, हाँ, वे हमारे मस्तिष्क मे अस्तित्व रखते हैं, अन्यथा तो हम उनकी चर्चा ही नही करते और इनके अतिरिक्त हमारे मस्तिष्क के बाहर भी ऐसा 'कुछ' विद्यमान होना चाहिए, जो कि इन विचारो को या अन्य विचारो को हमारे मस्तिष्क मे उत्पन्न करता हो। इस 'कुछ' को हम अस्थाई रूप से 'वास्तविकता' की सज्ञा दे सकते हैं और इसी वास्तविकता का अध्ययन करना विज्ञान का उद्देश्य है।"[2] अब इस उद्धरण को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाये तो जीन्स के चिन्तन की अस्पष्टता स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। प्रथम तो जीन्स ने ईथर-तत्त्वो और उनकी उर्मि-मालाओ को पूर्ण सम्भावनाओ के साथ काल्पनिक बताया है। इसका तात्पर्य यही होता है कि इनका कोई वास्तविक अस्तित्व है ही नही और इसलिए विश्व जो इनसे बना हुआ है, भी केवल काल्पनिक है, किन्तु वे स्वय

---

१ वही, पृ० ३३।

२ दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० ७०।

ही स्वीकार करते हैं कि 'काल्पनिक' का अर्थ 'अस्तित्वहीन' नही है और इसलिए वे उनको मस्तिष्क मे अस्तित्व रखने वाले बताते है। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि कुछ ऐसी भी वस्तु मस्तिष्क से बाहर (अर्थात् वस्तु-सापेक्ष रूप से) अस्तित्वावान् होनी चाहिए, जिसके निमित्त से हम ईथरो की और इनके तरगो की कल्पना करते हैं। अब यदि इस प्रकार की वस्तुएं वास्तविक अस्तित्व रखती हैं तो विश्व को केवल ईथर-तरगो के रूप मे मान कर काल्पनिक कहना किस प्रकार सगत हो सकता है। इस प्रकार के अनेको स्थल उनकी कृतियो मे पाये जाते हैं, जिनको पढने से पाठको को यह पता नही चल पाता कि लेखक क्या कहना चाहते हैं। जीन्स अपने आप ही किस प्रकार उलझे हुए हैं, इसकी स्पष्ट झाँकी हमे उनके उस कथन से मिलती है, जहाँ वे आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के बीच की भेद रेखा को ही स्पष्ट रूप से परखना कठिन मानते हैं।[1] वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उसे वास्तविकता कहने मे वे हिचकिचाते हैं तथा उसे 'गाणितिक' की सज्ञा देकर 'विश्व' को शुद्ध विचारो से बना हुआ प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हैं। विश्व को 'गणितज्ञ' विचारक के विचारो से बना हुआ बता कर[2] जीन्स ने वस्तुत. कुछ भी स्पष्ट नही किया है, प्रत्युत उलझन ही पैदा कर दी है। दूसरे स्थान मे पदार्थत्व की परिभाषा भी उतनी ही अस्पष्ट हा जाती है। वे पदार्थत्व को भी केवल एक मानसिक विचार के रूप मे बताते हैं और साथ ही पदार्थों का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष मान कर उनके इन्द्रियो पर पडने वाले प्रभाव को ही 'पदार्थत्व' कहते हैं।[3] एडिंग्टन के दर्शन की अपेक्षा मे जीन्स का दर्शन प्राचीन पाश्चात्य दर्शनो से अधिक प्रभावित है। ऐसा लगता है कि जीन्स ने अपने दर्शन मे प्लुतो और बरकले के दर्शन को ही एक नया रूप दिया है। प्लुतो के दर्शन की प्रमुख मान्यताए जीन्स के दर्शन मे भी मान्य रही हैं। जीन्स ने प्लुतो की तरह 'ईश्वर' को विश्व-स्रष्टा के रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। विश्व 'गणितज्ञ विचारक' के विचारो से बना हुआ है—इस कथन का तात्पर्य सम्भवत यही है कि जीन्स ईश्वर की कल्पना एक गणितज्ञ के रूप मे करते हैं और विश्व को उसकी सृष्टि के रूप मे प्रतिपादित करना चाहते हैं। प्लुतो के 'प्रत्ययो का सिद्धान्त' थोडे से भिन्न रूप मे जीन्स के विचारो मे प्रतिविम्बित होता

---

१. इसको हम उद्धृत कर चुके हैं; देखें, इसी पुस्तक मे पृ० १४।

२. देखें, दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १२३।

३. वही, पृ० १२४।

दिखाई देता है। पदार्थों के वास्तविक तत्त्व को जानने की मनुष्य की असमर्थता[1] भी प्लुतो के परमार्थवाद का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। इसके साथ-साथ बरकले के ज्ञाता-सापेक्षवाद की छाया जीन्स के दर्शन मे स्पष्ट दिखाई देती है। वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व स्वीकार कर उन्हे शाश्वत आत्मा के मन मे अस्तित्ववान् मानने का सकेत[2] बरकले के ज्ञाता-सापेक्षवाद का समर्थन करता है।

इस प्रकार कुछ प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिको की विचारधारा को जीन्स ने अपने दर्शन मे परोक्ष रूप से स्थान दिया है। किन्तु आज तक उन दार्शनिको के विचारो मे रहे हुए दोषो की विस्तृत चर्चाओ मे पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भरा पडा है और इन दार्शनिको के खण्डन का सम्भवत अब तक प्रतिवाद भी नही हुआ है। प्रो० स्टेबिंग ने भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हुए लिखा है—"यद्यपि जीन्स ने यह माना है कि जो व्यक्ति भौतिक विज्ञान के आधार पर दार्शनिक धारणाओ का निर्माण करना चाहता है, उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह दर्शन की शिक्षा पाया हुआ न हो अथवा दर्शन के प्रति उसकी रुचि न हो, फिर भी ऐसा लगता है कि उन्होने प्लुतो और बरकले के दर्शनो का अच्छा अध्ययन किया है। परन्तु स्पष्टतया प्रतीत होता है कि इन्होने इन दार्शनिको के बारे मे की गई आलोचनाओ का अध्ययन नही किया है और इसका ही यह परिणाम है कि वे नही जानते कि उन्होने उसी विचारधारा का प्रतिपादन किया है, जो अत्यन्त ही गम्भीर रूप से आलोचित हो चुकी है—जो अधिकतर दार्शनिको के मत मे तो निश्चयपूर्वक खण्डित हो चुकी है।[3]"

जीन्स के दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य क्या है, यह जानना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, फिर भी अनुमान के आधार पर उनकी विचारधारा का प्रतिपादन हम कर सकते हैं। यहा पर जैन दर्शन के साथ जीन्स के दर्शन की तुलना इसी आधार पर की गई है।

१. जीन्स के दर्शन मे एक बात का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन हुआ है कि विश्व का कोई स्रष्टा है और वह परम चैतन्यमय सत्ता ही वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। यद्यपि 'ईश्वर' शब्द का सीधा प्रयोग जीन्स ने नही किया है, फिर भी उन्होने 'ईश्वर-कर्तृत्ववाद' का ही प्रतिपादन किया है, ऐसा प्रतीत होता

---

१ वही, पृ० ११४, ११५।

२ दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १२७।

३ फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, पृ० २६५।

है। जैन दर्शन 'ईश्वर-कर्तृत्ववाद' को स्वीकार नही करता। इस दृष्टि से जीन्स के दर्शन के साथ जैन दर्शन का वैषम्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। विश्व का ईश्वर द्वारा निर्मित होना और ईश्वर का एक महागणितज्ञ के रूप मे होना, जीन्स के दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। किन्तु इसको सिद्ध करने के लिए जो तर्क जीन्स ने दिया है, वह सदोष है।[1]

२ जीन्स के दर्शन मे मन को वास्तविकता के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। जैन दर्शन मे प्रतिपादित 'आत्मा' और जीन्स का 'मन' वास्तविकता की दृष्टि से सदृश ही प्रतीत होते है। भौतिक पदार्थ से भिन्न और चैतन्यशील होने के कारण जीन्स द्वारा प्रतिपादित 'मन' जैन दर्शन मे प्रतिपादित आत्म-तत्त्व का ही दूसरा नाम है, ऐसा कहा जा सकता है। मन के स्वरूप के विषय मे जीन्स के दर्शन मे विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए इस विषय में अधिक तुलना करना सम्भव नही है।

३ भौतिक पदार्थ के समूह रूप बाह्य विश्व को 'वस्तु-सापेक्ष' वास्तविकता के रूप मे तो जीन्स ने माना है और वह इसलिए कि वह भिन्न-भिन्न ज्ञाता (चेतना) को समान रूप से अनुभूत होता है, किन्तु जीन्स उसे वास्तविक मानने के लिए तैयार नही है। विश्व को विचार से बना हुआ अथवा 'गाणितिक' कहने का कारण यही लगता है कि विज्ञान मे पदार्थ के स्वरूप को गाणितिक सज्ञाओ के द्वारा समझाया जाता है। गणित की सज्ञाए 'विचार' रूप होने से विश्व को भी जीन्स 'विचार रूप' ही बताते है। विश्व जिन ईथरो से और उनकी उर्मि-मालाओ से बना है, वे सब काल्पनिक है, जीन्स का यह अभिप्राय भी इसी तथ्य को सूचित करता है। यदि जीन्स गाणितिक शब्द का प्रयोग केवल इसी अर्थ मे करते हो, तब तो विश्व के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व का कोई विरोध ही नही होता है। क्योकि विश्व की सभी प्रक्रियाओ का हमारा ज्ञान गणित से सम्बन्धित होने के कारण उसे गाणितिक कहा जा सकता है, फिर भी इसका तात्पर्य यह नही होता है कि विश्व वस्तुत ही काल्पनिक है। इस दृष्टि से जीन्स का दर्शन भी वास्तविकतावाद का ही प्रतिपादन करता है और इस रूप मे जैन दर्शन के साथ भी इसका साम्य हो जाता है।

४ जीन्स का अभिप्राय है कि हम वस्तु के मूल तत्त्व को न जानते है,

---

१ इन सिद्धान्तो का खण्डन प्रो० स्टेबिंग ने बहुत ही तार्किक ढंग से किया है। यह चर्चा अति विस्तृत होने से यहा नही दी गई है। इसके लिए देखे, **फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, पृ० १६-४२।**

न जान सकते हैं। हम जो कुछ जानते हैं, वह तो केवल पदार्थों की प्रक्रियाए हैं और उनका परस्पर का व्यवहार है।[1] इसका तात्पर्य यही होता है कि 'विश्व क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य कदापि नही दे सकता है। मनुष्य तो केवल यही जान सकता है कि विश्व की प्रक्रियाए किस प्रकार होती है। इस प्रकार जीन्स काण्ट के परमार्थवाद (ट्रान्सेण्डेण्टलिज़म) की ओर झुकते हुए से दिखाई देते हैं। काण्ट किस प्रकार अपने आप मे वस्तु और प्रपच के आधार पर अपने परमार्थवाद का स्थापन करते है और जैन दर्शन के साथ यह किस प्रकार सादृश्य रखता है, इसकी चर्चा की जा चुकी है।[2] जीन्स का दर्शन भी इसी अपेक्षा से जैन दर्शन के निकट कहा जा सकता है। जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि ऐन्द्रिय ज्ञान (मति–श्रुत) के द्वारा पौद्गलिक जगत् के चरम रूप को नही जाना जा सकता। किन्तु जैन दर्शन यह कभी स्वीकार नही करता कि हम कदापि और किसी भी प्रकार से वस्तु के मूल स्वरूप को नही जान सकते। अतीन्द्रिय और सकल ज्ञान के माध्यम से इसको भी जाना जा सकता है, फिर भी जीन्स का यह अभिप्राय तो सही लगता है कि हमारा ऐन्द्रिय ज्ञान और विज्ञान विश्व की प्रक्रियाओ और वस्तुओ के परस्पर व्यवहार तक ही सीमित रह जाता है।

५ 'पदार्थत्व' के विषय मे जीन्स ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे वस्तुत ही अत्यन्त अस्पष्ट हैं। एक ओर तो जीन्स पदार्थत्व को मानसिक कल्पनामात्र कहते है और दूसरी ओर उसको ही पदार्थो का इन्द्रियो के ऊपर पडने वाला प्रभाव बताते हैं। यदि 'पदार्थत्व' पदार्थो का ही प्रभाव हो, तो बिना 'पदार्थत्व' पदार्थ कैसे रह सकते है, यह समझ मे आना कठिन है। अल्प पदार्थत्व और अधिक पदार्थत्व की चर्चा भी वस्तुत. ही अस्पष्ट और अनर्गल-सी प्रतीत होती है। जैन दर्शन मे द्रव्य, द्रव्यत्व आदि की स्पष्ट परिभाषाए मिलती हैं और 'पदार्थ' का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व अनुभव और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है। पदार्थो को केवल मानसिक कल्पना के रूप मे मानना किसी भी रूप मे सम्भव नही लगता। इस दृष्टि से जैन दर्शन और जीन्स का दर्शन परस्पर मे विरोधी मन्तव्य उपस्थित करते है। जीन्स के दर्शन की समीक्षा के उपसहार मे यह कहा जा सकता है कि यदि जीन्स अपनी व्यक्तिगत रूढ विचारधाराओ मे अपने दर्शन को मुक्त रखते और वास्तविक वैज्ञानिक तथ्यो को ही अपने दर्शन मे

---

१ दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० १२८।

२. देखें, इसी पुस्तक मे पृ० १३६-१४०।

स्थान देते, तो सम्भवत उनका दर्शन जैन दर्शन के बहुत समीप आ जाता।

अन्य आदर्शवादी वैज्ञानिक और जैन दर्शन

आदर्शवादी वैज्ञानिकों मे हर्मन वाईल का नाम भी उल्लेखनीय है। वाईल ने अपनी दार्शनिक विचारधारा का स्पष्ट प्रतिपादन अपनी पुस्तक **स्पेस-टाईम-मैटर** मे किया है। यद्यपि इस कृति मे गणित और भौतिक विज्ञान को प्रधानता दी गई है और दर्शन को केवल गौण स्थान ही मिला है,[1] फिर भी स्पष्ट रूप मे आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिपादन हमे देखने को मिलता है। वाईल ने यह स्वीकार किया है कि दार्शनिक पहलू के विषय मे जो कुछ भी कहा गया है वह अब तक निश्चित और पूर्ण नही है।[2] फिर भी आकाश, काल और भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के सम्बन्ध मे आधुनिक विज्ञान के आधार पर नये दार्शनिक दृष्टिकोणो का विवेचन करने का प्रयत्न उन्होने किया है। वैज्ञानिक जगत् मे वास्तविकता के विषय मे जो विचार-विमर्श हुआ है, उसका एक ऐतिहासिक विहगावलोकन करते हुए उन्होने लिखा है "पहले फराडे और मैक्सवेल नामक भूत वैज्ञानिको ने यह प्रस्ताव रखा था कि 'विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र' भी एक स्वतन्त्र प्रकार की ही वास्तविकता है, जो भौतिक पदार्थ से उल्टे प्रकार की है। बाद म पिछली शताब्दी (१६ वी) मे गणितज्ञो ने बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के चिन्तन के आधार पर युक्लिडीय भूमिति की प्रामाणिकता के विषय मे सन्देह उत्पन्न कर दिया और अपने युग मे एक ऐसा झझावात आ गया है, जिसने आकाश, काल और भौतिक पदार्थ रूप प्राकृतिक विज्ञान के दृढतम स्तम्भो को उखाड दिया है, पर केवल इसलिए कि अधिक विस्तृत प्रकार के द्रव्यो के विचार को स्थान मिले तथा दृष्टि और अधिक गहन बने।"[3] इस उद्धरण से यह तात्पर्य निकलता है कि वैज्ञानिक तत्त्व-मीमासा जो पहले भौतिकवाद को प्रतिपादित करती थी, धीरे-धीरे आदर्शवाद की ओर आ रही है और किसी अभौतिक तत्त्व को ही एकमात्र वास्तविकता मानने के प्रति झुक रही है।

---

१ वाईल स्वय अपनी पुस्तक की आदि में लिखते है, "हम यहा पर इन प्रश्नो के गाणितिक और वैज्ञानिक पहलुओ से अधिक सम्बन्धित रहेगे। दार्शनिक पहलू की चर्चा तो मैं केवल कही-कही पर करूगा।" देखे, **स्पेस-टाईम-मैटर**, पृ० २।

२ वही पृ० २।

३ वही, पृ० २।

वाईल की विचारधारा मे स्पष्ट रूप से चैतन्य को वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है । कार्यो को करने वाली और भोगने वाली एक आध्यात्मिक वास्तविकता (साइकिकल रियलिटी) है, जो कि शरीर के साथ जुडी हुई है और ये दोनो मिल कर एक व्यक्ति 'मैं' बनता है । · · चैतन्य अपनी आन्तरिकता को खोये बिना ही वास्तविकता का एक खण्ड बनता है, इस व्यक्ति 'मैं' के रूप मे आता है जो जन्मा था और मर जायेगा ।[1] वाईल का यह अभिमत व्यक्तिगत चैतन्य को स्पष्ट रूप से वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे बताता है ।

आकाश-काल और आकाश-काल की सयुक्त अखण्डता की वास्तविकता के विषय मे वाईल के विचारो की चर्चा यथास्थान की जायेगी । भौतिक पदार्थ के विषय मे वाईल का दृष्टिकोण ज्ञाता-सापेक्षवाद की ओर झुका हुआ दिखाई देता है । यद्यपि वे स्वय स्वीकार करते हैं—"मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि वह विचारधारा, जो विश्व की घटनाओ को केवल अह द्वारा जनित चैतन्य के नाटक के रूप मे बताती है, सरल वास्तविकतावाद की विचारधारा से अधिक सत्य है । प्रत्युत यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि चैतन्य का विषय-रूप पदार्थ ही वह आदि बिन्दु है, जहा से हमे प्रारम्भ करना होगा, यदि हम वास्तविकता के विषय मे स्पष्ट धारणा तथा उसके निरपेक्ष तात्पर्य को समझना चाहते हैं ।"[2] किन्तु थोडा-सा ही आगे चल कर वे भौतिक पदार्थ की वास्तविकता को गलत बताने का प्रयत्न करते हैं—"सत्य के सिद्धान्त का दार्शनिक परीक्षण हमे इसी निष्कर्ष पर पहुचायेगा कि जिन अनुभवो के आधार पर हम वास्तविकता को पकडते हैं, उन अनुभवो को कराने वाले विषय-ग्रहण, स्मृति आदि कार्यो मे एक भी कार्य ऐसा नही है, जो हमे ज्ञेय पदार्थो को अस्तित्ववान् बताने का तथा उनको गृहीत (ज्ञान) रूप के सदृश रचना वाले बताने का निर्णयात्मक अधिकार दे ।"[3] इस प्रकार भौतिक पदार्थो के वास्तविक अस्तित्व को तथा उनके गुणो की वस्तु-सापेक्षता को भी सदिग्ध बताया गया है ।

वाईल द्वारा की गई वर्ण की व्याख्या मे तो स्पष्ट रूप से ज्ञाता-सापेक्षवाद का निरूपण मिलता है "यह सरलतया देखा जा सकता है कि 'हरे'

---

१ वही, पृ० ६ ।

२. वही, पृ० ५ ।

३ वही, पृ० ५ ।

नामक गुण का अस्तित्व केवल 'हरे' की सवेदना और इन्द्रियो के द्वारा गृहीत पदार्थ के बीच के सम्बन्ध के रूप मे ही है, किन्तु उसको अपने आप मे कोई वस्तु मान कर अपने आप मे अस्तित्ववान् पदार्थो के साथ सम्बन्धित मानना निरर्थक है।' ' "इस (आधुनिक भौतिक विज्ञान की गाणितिक पद्धति) के अनुसार तो 'वर्ण' वस्तुत ईथर का स्पन्दन ही है अर्थात् गति है ... (आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बाद तो) 'वर्ण' ईथर-स्पन्दन नही, अपितु केवल उन गाणितिक फलनो के मूल्यो की श्रेणिया हैं, जिनमे आकाश की तीन विमिति और काल की एक विमिति मे सम्बन्धित चार स्वतन्त्र परामितर हैं।"[१] यहा पर वाईल आधुनिक विज्ञान की पारिभाषिक गाणितिक शब्दावलि मे वर्णो को केवल गाणितिक सज्ञा के रूप मे बताकर उसकी वस्तु-सापेक्षता का सर्वथा निषेध करते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि वाईल भी एडिग्टन और जीन्स की तरह यह दावा करते हैं कि आधुनिक विज्ञान के प्रतिपादनो के आधार पर भौतिक पदार्थो के गुणो की ज्ञाता-सापेक्षता सिद्ध हो चुकी है।

वाईल की विचारधारा के इस सक्षिप्त विवेचन से यह देखा जा सकता है कि यद्यपि वे वास्तविकतावाद का स्पष्ट रूप से निषेध नही करते है, फिर भी ज्ञाता-सापेक्षवाद का ही पक्ष ग्रहण करते है। उनकी दार्शनिक विचारधारा एडिग्टन और जीन्स की तरह व्यवस्थित नही है। साथ-साथ यहा पर भी हमे विचारो की उलझन और अस्पष्टता दृष्टिगोचर होती है। जैन दर्शन के साथ उनके विचारो की तुलना मे यह कहा जा सकता है कि जहा 'आत्मा' नामक एक चेतनशील वास्तविकता के अस्तित्व का प्रश्न है, वहा इन दोनो के दृष्टिकोण सदृश है, किन्तु भौतिक पदार्थ के अस्तित्व और उसके गुणो की वस्तुनिष्ठता के विषय मे वाईल का मन्तव्य निषेधात्मक है, जबकि जैन दर्शन का मन्तव्य विध्यात्मक है। वाईल की विचारधारा एडिग्टन और जीन्स के दृष्टिकोण के साथ अधिकाश रूप मे सदृश है, अत वाईल के विचारो की विस्तृत समालोचना करना पूर्व विवेचन का केवल पिष्ट-पेषण ही होगा। इस दृष्टि से इतना ही पर्याप्त मान कर हम अन्य वैज्ञानिको के विचारो की चर्चा करेंगे।

अन्य वैज्ञानिको मे आइन्स्टीन, अर्न्स्ट माख, पोइनकारे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि आइन्स्टीन को प्रो० मार्गेनो ने समीक्षात्मक वास्तविकतावादी कहा है,[२] फिर भी जहा तक भौतिक पदार्थो के गुणो का सम्बन्ध है, आइन्स्टीन की

---

१. स्पेश-टाईम-मैटर, पृ० ३-४।

२. दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२।

मान्यता ज्ञाता-सापेक्षवाद की ही प्रतीत होती है। लेकिन बारनेट ने आइन्स्टीन के विचारो को उद्धृत करते हुए लिखा है —"आइन्स्टीन के अनुसार रग, रूप और आकार की धारणाए चेतना से पृथक् नही हैं।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि आइन्स्टीन भी भौतिक पदार्थों को ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानते थे। अर्नस्ट माख ने भी भौतिक पदार्थों की वास्तविकता को स्वीकार नही किया है। भौतिक पदार्थ के रूप मे उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है — "अणु इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण नही किये जा सकते, अन्य सभी द्रव्यो की तरह वे भी केवल विचारगत वस्तुए ही हैं। और एक प्रकार की गाणितिक अनुकृति (माडेल) है जो तथ्यो का मानसिक पुनरावर्तन करने मे सहायक बनती है।"[2] माख ने सन् १९१५ मे भी यह कहा था कि मैं अणु का अस्तित्व और ऐसे रूढिगत सिद्धान्त को स्वीकार नही करता[3]। माख का यह सिद्धान्त था कि सवेदन-तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविकता नही है[4]। माख के अणु के अस्तित्व-सम्बन्धी ये विचार बताते हैं कि वे पदार्थ की वास्तविकता का निषेध करते हैं। इसी प्रकार पोइनकारे की मान्यता का एक उद्धरण हम देख चुके है।

इन सभी वैज्ञानिको का झुकाव ज्ञाता-सापेक्षवाद की ओर दिखाई देता है। जो वैज्ञानिक भौतिकवाद की विचारधारा को स्वीकार नही करते हैं, अधिकांश रूप मे वे इस प्रकार के आदर्शवाद को अपनाते देखे जाते है। वे आत्मा अथवा ऐसे ही कोई अभौतिक तत्त्व की, जो चैतन्यमय होने से भौतिक पदार्थों से उल्टे प्रकार के होते हैं, 'वास्तविकता' सिद्ध करने के लिए भौतिक पदार्थ को अवास्तविक बताते हैं। जैन दर्शन की विचारधारा 'आत्मा' के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करती हुई भी भौतिक पदार्थ को अवास्तविक नही मानती। इस प्रकार उक्त वैज्ञानिको की विचारधारा और जैन दर्शन के तात्त्विक सिद्धान्त मे आत्मा के वास्तविक अस्तित्व के विषय मे जहा पूर्ण सादृश्य है, वहा भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के विषय मे मतभेद रह जाता है।

वास्तविकतावाद और जैन दर्शन

'विश्व क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर वास्तविकतावादी दार्शनिक और

---

१ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० २१।

२. साईन्स ऑफ मेकेनिक्स, पृ० ५९०।

३ वही, पृ० २६, तथा देखे, दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ६७।

४. दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ६७।

वैज्ञानिक किस रूप मे देते है, इसका अवलोकन हम प्रथम प्रकरण मे कर चुके हैं। यहा पर उनमे से कुछ प्रमुख दार्शनिको की और वैज्ञानिको की विचारधारा की जैन दर्शन के आलोक मे एक तुलनात्मक समीक्षा करने का हम प्रयत्न करेगे। वास्तविकतावादी विचारधारा को हम मुख्य रूप से दो भेदो मे विभाजित कर सकते हैं।

१ **भौतिकवाद**—इस विचारधारा के अनुसार विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व स्व-आधारित है। इसमे केवल एक ही वास्तविकता है, एक ही तत्त्व है, जिसे 'भूत' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी अभौतिक तत्त्व के वास्तविक अस्तित्व को यह विचारधारा स्वीकार नही करती। 'विश्व क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर भौतिकवाद के अनुसार है—विश्व भूतमय है।

२ **अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद**—इस विचारधारा के अनुसार विश्व मे दो अथवा दो से अधिक तत्त्वो का वास्तविक अस्तित्व है। भौतिक पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को तो यह विचारधारा स्वीकार करती है, किन्तु इसके साथ अभौतिक तत्त्वो को भी वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करती है। इस अभौतिक वास्तविकता की सख्या और स्वरूप के विषय मे मत-भेद होने के फलस्वरूप इस विचारधारा के अनेक उपभेद बन जाते हैं।

भौतिकवाद और जैन दर्शन

पश्चिमी दर्शन-जगत् मे भौतिकवाद के यूनानी विचारक थेलिस (Thales) (ई० पू० ६२४–ई० पू० ५५०) से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग मे कार्ल मार्क्स की विचारधारा तक विविध रूप मे दिखाई देता है। यहा पर हम इसके ऐतिहासिक विवेचन और सूक्ष्म भेदोपभेद मे न जाकर केवल इसके स्थूल रूप की ही समीक्षा करेंगे। जैन दर्शन और भौतिकवाद मे भौतिक पदार्थों की वस्तु-सापेक्षता के विषय मे जो सादृश्य है, वह तो स्पष्ट ही है। भौतिकवाद के अनुसार भूत तत्त्व की परिभाषा है, "जो कुछ हम अपनी इन्द्रियो से देखते-समझते (इन्द्रिय-गोचर) है, जो कुछ इन्द्रिय-गोचर वस्तुओ का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौडाई, मोटाई) मे फैला हुआ है, जो कम या अधिक मात्रा मे दबाव की रोकथाम करता है, जिसमे इन्द्रियो के जानने लायक गति पाई जाती है, वह 'भूत' है[1]।" लेनिन के शब्दो मे 'भूत' की दार्शनिक परिभाषा है—"भूत दार्शनिक परिभाषा मे उस साकार वास्तविकता को कहते हैं, जिसका ज्ञान मनुष्य को उसकी इन्द्रियो द्वारा मिलता है। वह ऐसी वास्त-

१. दी मेटिरियलिज़्म एण्ड एम्पीरिओ क्रिटिसिजम, पृ० १०२।

विकता है, जिसकी नकल की जा सकती है, जिसका फोटो खीचा जा सकता है। जो हमारी सवेदनाओ (विषय-इन्द्रिय-मस्तिष्क सम्पर्क) द्वारा मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित की जा सकती है, किन्तु उसकी सत्ता इन (सवेदनाओ) पर निर्भर नही है।"[1] दूसरी ओर जैन दर्शन मे पुद्गल की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, इन गुणो से युक्त द्रव्य पुद्गल (अर्थात् भूत) है।"[2] इन दोनो परिभाषाओ के सूक्ष्म अन्तरो को छोड दिया जाये, तो कहा जा सकता है कि दोनो ही परिभाषाओ का तात्पर्य एक ही है। यद्यपि जैन दर्शन पुद्गल की चरम इकाई को इन्द्रिय-गोचर नही मानता, फिर भी पुद्गल के मूर्तत्त्व गुण को तो स्वीकार करता ही है। इस प्रकार जहा तक भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का प्रश्न है, जैन दर्शन और भौतिकवाद दोनो ही इनकी वस्तु-सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन और भौतिकवाद मे जो सबसे बडा अन्तर है, वह है—मूल वास्तविकताओ की सख्या के विषय मे। भौतिकवादी जहा केवल भूत तत्त्व को ही एक मात्र वास्तविकता के रूप मे मानते हैं, वहा जैन दर्शन पुद्गल के अतिरिक्त जीव आदि अन्य अस्तिकायो को भी वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है। यद्यपि प्राचीन 'दार्शनिक भौतिकवाद' और आधुनिक वैज्ञानिको के भौतिकवाद मे यह अन्तर तो है कि जहा प्राचीन भौतिकवादी चेतन अथवा आत्मा को सर्वथा ही जड (भूत) तत्त्व से अभिन्न मानते थे,[3] वहा आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिक मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के आधार पर जीवन और मन को जड भौतिक तत्त्व से सर्वथा अभिन्न नही मानते[4]। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार—"वैज्ञानिक भौतिकवादियो की मूल ईटें परमाणु नही, कण, तरग, विच्छेद-युक्त घटना-प्रवाह है, जिनके खमीर मे भी क्षण क्षण नाश उत्पाद का नियम मिला हुआ है। यह सच है कि जीवन या मन (आत्मा)

---

१ वैज्ञानिक भौतिकवाद, ले० राहुल साकृत्यायन, पृ० १११।

२. स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गल।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-११।

३ पाश्चात्य दार्शनिको मे डेमोक्रिटस की यह मान्यता थी कि भौतिक परमाणुओ से ही 'आत्मा' का निर्माण होता है। आत्मा की उत्पत्ति अत्यन्त ही चिकने, गतिशील और गोल परमाणुओ से होती है।

४ देखे, वैज्ञानिक भौतिकवाद, ले० राहुल साकृत्यायन, (प्रथम सस्करण), पृ० ५८-६०।

जिससे पैदा हुआ है, वह भूत (भौतिक तत्त्व) ही है, किन्तु मन भूत हर्गिज नहीं है। किसी तरह से भी नहीं है, चाहे उसके अन्तस्तल मे घुस कर देख ले। यह बिल्कुल गुणात्मक परिवर्तन पूर्व (भूत) प्रवाह मे टूट कर नया प्रवाह है।"[1] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भौतिकवादी वैज्ञानिक चेतन को भूत से भिन्न तो मानते हैं और उसकी वास्तविकता का भी निषेध नही करते, परन्तु चेतन की सत्ता को चरम वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही करते। बल्कि उसको भूत के गुणात्मक परिवर्तन द्वारा ही उद्भूत मानते है, अत इनके मत मे विश्व के मूल मे तो एक मात्र भूत ही चरम वास्तविकता है।

वैज्ञानिको के भौतिकवाद के समर्थन मे यह एक युक्ति दी जाती है कि शक्ति की अनश्वरता का नियम (ला ऑफ कोन्जरवेशन ऑफ ऐनर्जी) विज्ञान का प्रतिष्ठित नियम है। इस नियम के अनुसार विश्व की कुल शक्ति समान रहती है, न घटती है और न बढती है, लेकिन रूपान्तरित होती है। यदि जीव और चैतन्य को हम अभौतिक मान लेते हैं, तो उस नियम का उल्लघन होता है। विज्ञान ने सिद्ध किया है कि शरीर भौतिक तत्त्वों से बना है, इसलिए भौतिक है। जीवन और चैतन्य का अधिष्ठान वही है। हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थो (जैसे—अन्न, जल, गर्मी आदि) से जीवन-शक्ति बढती है। अब, यदि जीवन-शक्ति भौतिक शक्ति से भिन्न है, तो उसका अर्थ होगा कि बढी हुई जीवन-शक्ति के रूप मे नई शक्ति की उत्पत्ति हुई है, क्योकि अभौतिक होने से उसे भौतिक शक्ति (अन्न, जल आदि से प्राप्त शक्ति) का रूपान्तर नही कहा जा सकता। हम यह भी देखते हैं कि मानसिक इच्छाओ के कारण शरीर के अगो का सचालन होता है। यहा भी मन या चैतन्य को अभौतिक मानने का अर्थ होगा कि शारीरिक क्रियाओ के रूप मे व्यक्त अभौतिक शक्ति मन की इच्छाओ की अभौतिक शक्ति से उत्पन्न नई शक्ति है, क्योकि भौतिक होने के कारण उसे अभौतिक शक्ति का रूपान्तर नही माना जा सकता। इस प्रकार जीव और चैतन्य को अभौतिक मानने का निष्कर्ष होता है—नई शक्ति की उत्पत्ति। किन्तु ऐसा होने से विश्व की कुल शक्ति मे वृद्धि हो जायेगी, जो कि उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। चूकि वह नियम सत्य है, उसका विरोधी निष्कर्ष सत्य नही हो सकता, अत जीव और चैतन्य को अभौतिक नही माना जा सकता[2]। भौतिकवादियो की इस तर्क का निराकरण

१ वही, पृ० ५६।

२. देखें, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ८८।

जैन दर्शन के आधार पर सहजतया हो सकता है। जैन दर्शन के तथ्यो का विवेचन हम कर चुके हैं, उनमे से इन तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा :

१ पचास्तिकाय रूप विश्व का प्रत्येक अस्तिकाय 'अस्तित्व' की दृष्टि मे एक-दूसरे से स्वतन्त्र है, अत जीव और पुद्गल का अस्तित्व भी परस्पर स्वतन्त्र है।

२. सत् (वास्तविकता) की परिभाषा[1] मे ही प्रत्येक अस्तिकाय की 'अनश्वरता' (Conservation) का नियम निहित है। पर्यायत्व की अपेक्षा से सत् उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, फिर भी द्रव्यत्व की अपेक्षा से तो सदा ध्रुव ही रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पर्याय (अवस्था) के सतत प्रवाह मे प्रति समय परिवर्तन पाता हुआ भी पुद्गल द्रव्य सदा ही पुद्गल रहता है और जीव सदा जीव रहता है, न पुद्गल कभी जीव के रूप मे परिणत होता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप मे।

३ पुद्गल द्रव्य मे सभी भौतिक पदार्थों का और भौतिक शक्तियो का समावेश हो जाता है, अत पुद्गल द्रव्य की अनश्वरता के नियम मे भौतिक पदार्थो और भौतिक शक्तियो के परस्पर रूपान्तरण का निषेध नही है। अब पदार्थ और शक्ति की सुरक्षा का नियम वैज्ञानिक जगत् मे सयुक्त रूप धारण कर चुका है। और इसके अनुसार विश्व के सभी प्रकार के भौतिक पदार्थ और भौतिक शक्ति की तुला-राशि सदा अचल रहती है। यह नियम केवल भूत तत्त्व पर ही लागू होता है। जैन दर्शन आत्मा को पुद्गल से भिन्न मानता है, अत जैन दर्शन मे आत्मा की अनश्वरता और पुद्गल की अनश्वरता के दो नियम बन गये हैं। प्रथम नियम के अनुसार पुद्गल-तत्त्व, चाहे वह भौतिक पदार्थ के रूप मे हो या भौतिक शक्ति के रूप मे, द्रव्य की अपेक्षा से अक्षय और ध्रुव रहता है। दूसरे नियम के अनुसार जीव तत्त्व द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और अचल रहता है।

इन दो पृथक् नियमो के आधार पर ऊपर दिये गये तर्क का सहजतया निराकरण हो जाता है। शरीर-सम्बन्धी समस्त क्रियाए पौद्गलिक है, अत अन्न, जल, गर्मी आदि जिस शक्ति का उत्पादन करते हैं, वह भी पौद्गलिक ही है। ऊपर दिये गये तर्क मे जिस जीवन-शक्ति को भौतिक शक्ति से भिन्न कहा गया है, वह वस्तुत भिन्न नही है, बल्कि भौतिक (पौद्गलिक) ही है, क्योकि अन्नादि की परिणति रस, रक्त, वीर्य आदि मे होती है, जो सारे पौद्गलिक है और

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३१।

इनके ही रूपान्तर को ऊपर 'जीवन-शक्ति' कहा गया है। उसी प्रकार मन या चैतन्य से शारीरिक क्रियाओ की उत्पत्ति मानना भी गलत है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गलो से आवृत्त और सश्लिष्ट आत्मा तो पौद्गलिक क्रियाओ का केवल प्रेरक बनता है। शारीरिक क्रियाओ मे जो शक्ति व्यक्त होती है, वह कोई आत्मा मे उत्पन्न नही होती, बल्कि वह तो पौद्गलिक पदार्थ और पौद्गलिक शक्तियो का ही रूपान्तरण होता है। इसलिए चैतन्य (आत्मा) को अभौतिक मानने पर 'अनश्वरता' का नियम जरा भी खण्डित नही होता।

दूसरे प्रकार से भी उक्त तर्क का खण्डन किया जा सकता है। जैसे—"यह तर्क तभी कारगर हो सकता है, जबकि पहले यह मान लिया जाये कि जीव (चेतन) तथा जड सबकी व्याख्या भौतिक रासायनिक नियमो द्वारा हो सकती है। क्योकि शक्ति की अनश्वरता का नियम भौतिक रासायनिक नियम ही है।[1] किन्तु यह मान लेना तो भौतिकवाद को ही मान लेना है। अतएव यह तर्क भौतिकवाद को प्रमाणित करने के पहले ही उसे मान लेती है, जो कि उचित नही है। कुछ प्रमुख वैज्ञानिको का मत है कि उक्त नियम भौतिक-रासायनिक जगत् के लिए ही है, जीव या चेतन-जगत् के लिए नही। उस हालत मे तो निस्सन्देह ही वह भौतिकवाद की पुष्टि नही कर सकता।[2] इस प्रकार भौतिकवाद के समर्थन मे दिये जाने वाले उक्त तर्क का निराकरण हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद चेतन की सत्ता को इन्कार तो नही करता, किन्तु चेतन को भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उद्भूत मानता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियो का कहना है कि पृथ्वी की आयु २०,००० लाख वर्ष की है, जबकि मन (आत्मा) की आयु ५०० लाख वर्ष से पुरानी नही है। अर्थात् विश्व मे पहले केवल भूत ही था और ५०० लाख वर्ष पूर्व उस भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति हुई।[3] आधुनिक विज्ञान, जैन दर्शन और सामान्य तर्क के आलोक मे यदि हम इस मान्यता पर विचार करेगे, तो सहसा ही इसकी निर्मूलता का पता चल सकता है।

आधुनिक विज्ञान न तो विश्व को केवल पृथ्वी तक ही सीमित मानता

---

१. देखें, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलोसोफी, ले० डब्ल्यू जेरूसलेम, पृ० १४७।

२. दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, लेखक राजेन्द्रप्रसाद, पृ० ७८-७९, भौतिकवाद की समर्थक तर्क और उसके निराकरण के लिए देखें, वही, पृ० ७२-७९।

३ वैज्ञानिक भौतिकवाद, (प्रथम सस्करण) पृ० ३६।

है और न जीवन को भी। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य आकाशीय पिण्डो पर भी जीव के अस्तित्व की सम्भावना की जा रही है[1] और भावी अन्तरिक्ष-यात्राए सम्भवत इसके पुष्ट प्रमाण उपस्थित कर सकेगी, ऐसी आशा की जाती है। पृथ्वी पर भी जीवन कब अस्तित्व मे आया, यह अब तक निश्चित नही हो पाया है। भूत के गुणात्मक परिवर्तन से जीव की उत्पत्ति 'क्यो और कैसे होती है' इसका कोई उत्तर वैज्ञानिक आधारो पर नही दिया जा सकता[2]। अत यदि यह मान भी लिया जाये कि पृथ्वी पर 'जीवन' का प्रारम्भ पृथ्वी की उत्पत्ति के बहुत समय बाद हुआ, तो भी 'भूत' के गुणात्मक परिवर्तन से ही 'चेतन' की उत्पत्ति हुई, ऐसा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर नही कहा जा सकता, यह तो केवल आनुमानिक कल्पना ही है।

सामान्य अनुभव के आधार पर भी उक्त मान्यता की असिद्धि सरलतया हो सकती है। सामान्य अनुभव हमे यही बतलाता है कि जीव और भूत, इन दोनो तत्त्वो मे गुणो की मौलिक भिन्नता है। आत्मा के चैतन्य-गुण का भूत मे सर्वथा अभाव है। जिस पदार्थ मे जिस गुण का सर्वथा अभाव हो, वह गुण किसी भी प्रकार के परिवर्तन द्वारा प्रकट नही हो सकता। तर्कशास्त्र मे उपादान की यह मर्यादा सर्वमान्य है, अत गुणात्मक परिवर्तन का उक्त प्रकार का सिद्धान्त ही गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी अनुभव करते है कि जब आज भी जीवन की उत्पत्ति भूत-पदार्थ से होनी शक्य नही है, तो अतीत मे ऐसा हुआ हो, यह कैसे माना जा सकता है?

जैन दर्शन के आलोक मे यदि उक्त मान्यता का अवलोकन किया जाये, तो सहसा उसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जैन दर्शन बतलाता है कि आत्मा और पुद्गल, ये दोनो तत्त्व सदा से इस विश्व मे थे और सदा रहेगे। दोनो के अस्तित्व को अनादिकालीन माने बिना 'विश्व-आयु' सम्बन्धित अनेक प्रश्नो का समाधान नही मिल सकता[3]। अब यदि विकासवादियो द्वारा कथित पृथ्वी की जीवन-विकास की कहानी को सत्य माना भी जाये, तो भी यह मानना जरूरी नही है कि 'भूत' ही स्वय परिवर्तित होकर चेतन का रूप धारण कर विकसित हो रहा है। जैन दर्शन के काल-चक्र का सिद्धान्त यह तो निरूपण करता ही है कि विकास और ह्रास का क्रम विश्व के कुछ क्षेत्रो मे चलता

---

१ कोरोनेट, खण्ड २६, अक ५, पृ० ३०।

२. द्रष्टव्य, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७८।

३ इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

रहता है। 'पृथ्वी' के आदिकाल मे पौद्‌गलिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण जीवो के उत्पन्न होने के योग्य योनियो के अभाव मे यहा जीवन का अभाव हो, यह सम्भव है। वाद मे जैसे-जैसे जीवनानुकूल स्थिति बनी और जीवो के उत्पन्न होने योग्य योनियो का प्रादुर्भाव हुआ, तो 'जीव' उनमे आकर जन्म लेने लगे। ऐसे ही सभवतः जीवन-विकास का क्रम वना हो। इस प्रकार भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति को मानने की अपेक्षा जीव और भूत को पृथक्-पृथक् सत्ता के रूप मे स्वीकार करना ही तर्कसगत है।

इस चर्चा के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि भौतिकवाद, चाहे वह प्राचीन रूप मे हो या नवीन रूप मे, 'विश्व क्या है ?' का जो उत्तर प्रस्तुत करता है, वह न्यायसगत नही है। केवल भूत को चरम वास्तविकता मान लेने से 'विश्व क्या है ?' की प्रहेलिका सुलझ नही सकती।

बर्ट्रेण्ड रसल का दर्शन और जैन दर्शन

विश्व की चरम वास्तविकता एक नही, अपितु अनेक है, यह अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद है। दार्शनिक विचारधाराओ मे यदि कोई विचारधारा जैन दर्शन के अधिक निकट हो, तो वह अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद की है। इस विचारधारा मे भी तत्त्वो के स्वरूप, सख्या आदि को लेकर अनेक अभिप्राय प्रस्तुत हुए हैं। द्वैतवाद विश्व मे दो तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है—जड और चेतन। अनेकवाद अनेक प्रकार के तत्त्वो का प्रतिपादन करता है। अनुभयवाद जड और चेतन के अतिरिक्त तीसरे ही प्रकार के तत्त्वो को विश्व की वास्तविकता मानता है।

आधुनिक दार्शनिको मे वर्ट्रेण्ड रसल की विचारधारा मे 'अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद' का प्रतिपादन हुआ है। रसल के विचारो को हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि वे भौतिक पदार्थों के अस्तित्त्व को अनुभूति पर आधारित नही मानते। रसल ने सभी प्रकार की आदर्शवादी और ज्ञाता-सापेक्षवादी विचारधाराओ का तार्किक ढग से खण्डन किया है। वरकले के अनुभववाद और प्लुतो के प्रत्ययो के सिद्धान्त की भी उन्होंने तर्कपूर्ण रीति से धज्जियां उड़ाई हैं। ज्ञान-मीमांसिक विश्लेषण की दृष्टि से रसल ने एक नये प्रकार के वास्तविकतावाद को जन्म दिया है। इसमे स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञेय पदार्थो का अस्तित्व ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र है। जैन दर्शन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इस प्रकार पदार्थो के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को दोनो दर्शनो मे स्वीकार किया गया है।

बर्ट्रेण्ड रसल जहा पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है, वहा चैतन्य के अस्तित्व को स्वीकार करते है, अत भौतिकवाद के भी वे विरोधी है। यहा तक तो उनका जैन दर्शन के साथ सामजस्य रहता है। किन्तु इससे आगे वे मानते हैं कि विश्व की वास्तविकता 'अनुमय' अर्थात् जड और चेतन से परे तीसरे प्रकार के तत्त्व हैं, जिनको वे घटनाए (ईवेण्ट्स) कहते है। इस प्रकार उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओ के समूह हैं। घटनाए अपने आप मे जड और चेतन दोनो से भिन्न हैं और आकाश-काल के सीमित प्रदेश मे स्थित हैं[1]। इन घटनाओ को वे स्वभावत. गत्यात्मक (डाइनेमिक) मानते है तथा एक दूसरे से सम्बन्धित भी। 'घटना' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उन्होने लिखा है—"जब मैं 'घटना' के विषय मे कह रहा हू, तो मेरा तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नही है। बिजली की चमक को देखना एक घटना है, मोटर के टायर को फटते सुनना अथवा सडे अण्डे को सूघना या किसी मेढक के शरीर की शीतता का अनुभव करना आदि 'घटनाए' है।"[2] इन घटनाओ के सम्बन्ध परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है, जिनके कारण उनका कोई समूह 'जड' कहलाता है और कोई 'चेतन'। इस प्रकार जड पदार्थों की घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्ध चेतन पदार्थो की घटनाओ के सम्बन्धो से भिन्न हैं, यद्यपि दोनो मे विद्यमान घटनाओ का स्वरूप एक ही है।[3]

जैन दर्शन के द्रव्य-गुण-पर्यायवाद के साथ यदि रसल के इस घटना सिद्धान्त' की तुलना की जाये, तो इनके बीच रहे हुए सादृश्य-वैसदृश्य का पता लग सकता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय का आश्रय है।[4] प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य मे जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा गया है।[5] जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाश एव काल, सभी द्रव्यो मे प्रतिक्षण यह पर्याय का क्रम चलना रहता है। जिसको रसल 'घटना'

---

१ एन आउटलाइन ऑफ फिलोसोफी, पृ० २८७।

२ वही, पृ० २८७।

३ दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३१।

४ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३।

५ पूर्वोत्तराकारपरित्यागादान पर्याय।

—वही, १-४४।

कहते हैं, वह सम्भवतः 'पर्याय' का द्योतक लगता है। रसल पदार्थो को घटनाओ के समूह रूप मानते है, जैन दर्शन 'पर्याय-प्रवाह' के आधार को द्रव्य मानता है। रसल की 'घटनाए' गत्यात्मक हैं और एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, तो जैन दर्शन भी पर्यायो को सदा गतिमान और एक-दूसरे मे सम्बन्धित मानता है। घटनाए और पर्याय दोनो हमारे अनुभव से परे नही हैं। रसल जहा घटनाओ को विविध सम्बन्धो से जड और चेतन मे विभाजित करते हैं और जड पदार्थो की घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्धो को चेतन पदार्थो की घटनाओ के सम्बन्ध से भिन्न मानते है, वहा जैन दर्शन भी पुद्गल और जीव की पर्यायो को भिन्न-भिन्न मानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि रसल प्रत्येक घटना को एक स्वतन्त्र तत्त्व के 'अनुभय' मानते हैं, जबकि जैन दर्शन पर्याय को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर रसल का यह अनुभयवाद भी अन्तत. तो द्वैतवाद मे ही परिणत हो जाता है, क्योकि जहा पारस्परिक सम्बन्धो मे वे घटनाओ को दो प्रकारो मे विभाजित करते है, वहा मौलिक तत्त्व घटनाए न रह कर जड और चेतन ही बन जाते हैं।

जड-चेतन की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी सम्बन्धो की परीक्षा करते हुए डा० डब्ल्यू० टी० स्टेस (W T. Stace) इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि ये सम्बन्ध अनुभयवाद को वस्तुतः द्वैतवाद बना डालते हैं[1]। वे कहते हैं—"यदि जड और चेतन का अन्तर उनके तत्त्वो के सम्बन्धो का अन्तर है, तो इसका तात्पर्य यह है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वो मे जो सम्बन्ध है, वह भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध मे बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् वह भौतिक नही है। यह भी निश्चित है कि यह अनुभय नही है, तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा। अनुभय नही होने का मतलब है कि जड और चेतन; दोनो मे भिन्न नही है, अर्थात् भौतिक या मानसिक है। यह भी मालूम है कि भौतिक नही है, इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा। इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थो के तत्त्वो मे विद्यमान सम्बन्ध भौतिक हैं। अतएव अनुभय तत्त्वो से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध सिर्फ चेतन है और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक। इसका मतलब है कि जड और चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है। किन्तु ऐसा होने मे उनका वास्तविक द्वैत

---

१. देखे, दी फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसल, पी० ए० सिल्प द्वारा सम्पादित, पृ० ३५५–३८४।

सिद्ध हो जाता है। इस द्वैत का परिहार नही हो सकता, क्योंकि यह द्वैत सम्बन्धो का है और सम्बन्ध ही जड को जड और चेतन को चेतन बनाने वाले हैं।"[1] इस प्रकार, यद्यपि रसल ने घटनाओ को अनुभय तत्त्वो के रूप मे बताया है, पर वस्तुत. तो उनके मूल मे जड या चेतन कोई-न-कोई तो होता ही है।[2]

यह तो जैन दर्शन भी मानता है कि जितने भी चेतन-तत्त्व हैं और परमाणु-पुद्गल हैं, वे सभी स्वतन्त्र वास्तविकताए हैं और इस दृष्टि से विश्व के मूल तत्त्वो की सख्या तो अनन्त ही है। जहा हम इन तत्त्वो को प्रकारो मे बाटते हैं, वहा हमारे सामने केवल दो भेद रह जाते हैं—जीव और पुद्गल।[3] अस्तु, रसल का दर्शन पाश्चात्य जगत् का एक ऐसा दर्शन है, जो सम्भवत जैन दर्शन के सबसे निकट माना जा सकता है।

समीक्षात्मक वास्तविकता और जैन दर्शन

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिको मे प्रो० हेनरी मार्गेनो की विचारधारा भी जैन दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है। प्रो० मार्गेनो ने 'कन्स्ट्रक्ट्स' के सिद्धान्त का निरूपण करके यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। अभौतिक वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं।[4] इस प्रकार जैन दर्शन के साथ इनकी विचारधारा का काफी सामजस्य प्रतीत होता है। मार्गेनो की विचारधारा मे ज्ञान-मीमासिक विश्लेषण के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ की वास्तविकता के विषय मे चिन्तन किया गया है और वह विचारधारा समीक्षात्मक वास्तविकतावाद के निकट चली जाती है।

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद[5] के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया मे तीन तत्त्व होते हैं .

१. ज्ञाता
२ ज्ञेय
३ ज्ञात पदार्थ

---

१ दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३३।

२ रसल ने स्वय अपने दर्शन को द्वैतवाद कहा है; देखें, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ३७१।

३ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन वास्तविक तत्त्व हैं, किन्तु इनकी सख्या एक-एक ही है।

४. दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० ४५८।

५. देखे, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४५।

'ज्ञाता' ज्ञान प्राप्त करने वाला है। जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी को 'ज्ञेय पदार्थ' कहते हैं। मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है, उसी को 'ज्ञात पदार्थ' कहते है। उसे प्रदत्त (डेटम) भी कहते हैं, क्योंकि ज्ञाता को यही प्राप्त होता है, वास्तविक वस्तु नही मिलती। यह सिद्धान्त वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु, दोनो मे द्वैत या भिन्नता मानता है, इसलिए इस ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद (एपिस्टेमोलोजीकल ड्यूअलिज्म) कहते हैं। इस प्रकार इसके अनुसार ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ मे सख्यात्मक भिन्नता तो होती है; किन्तु इन प्रदत्तो के द्वारा यथार्थ वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्योकि हम प्रदत्तो को नही देखते, बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओ को देखते हैं।

जैन दर्शन ज्ञेय पदार्थ को स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है तथा ज्ञाता का भी स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व मानता है। 'ज्ञात पदार्थ' ज्ञेय पदार्थ से सख्यात्मक भिन्नता रखता है। ज्ञान प्रक्रिया मे दो प्रकार के साधनो का उपयोग होता है—ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय। ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से न केवल सख्यात्मक भिन्नता रखता है, बल्कि इनमे स्वरूपात्मक भिन्नता भी होनी सम्भव है। हा, यह ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ और ऐन्द्रिय उपकरणो के पारस्परिक सम्बन्धो के अनुरूप ही होता है। गणित की भाषा मे इसे कहे तो—यदि अ ज्ञेय पदार्थ है और ब ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ है, तो ब=फ (अ, ऐन्द्रिय सम्बन्ध)[1] होता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान मे आने वाले विश्व और वास्तविक विश्व मे यह 'द्वैत' हो जाता है। जहा अतीन्द्रिय साधनो के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, वहा ज्ञात पदार्थ और ज्ञेय पदार्थ मे सख्यात्मक द्वैत तो रहता है, किन्तु स्वरूपात्मक द्वैत नही रहता। अर्थात् यदि क अतीन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ है, तो

क = अ होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन और समीक्षात्मक वास्तविकतावाद मे बहुत कुछ सादृश्य है, किन्तु थोडा अन्तर भी है। समीक्षात्मक वास्तविकतावाद जहा प्रदत्त और यथार्थ वस्तु मे स्वरूपात्मक भिन्नता को स्वीकार नही करता, वहा जैन दर्शन उसकी सम्भवता को स्वीकार करता है। दूसरी बात यह है कि 'प्रदत्तो' को जैन दर्शन मे कोई स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही किया गया है, किन्तु वह वस्तुत ज्ञाता का ही एक अंग

---

१ फ () फलन (फक्शन) का चिह्न है।

बन जाता है। हां, उसका स्वरूप 'ज्ञेय पदार्थ' पर आधारित अवश्य होता है। ऐसा मानने से जो दोष समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में आते हैं,[१] जैन दर्शन की विचारधारा उनसे मुक्त रह जाती है।

हाइसनबर्ग का दर्शन और जैन दर्शन

वैज्ञानिकों में अनेक ऐसे हैं, जो अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद को स्वीकार करते हैं। प्राचीन युग में न्यूटन ने स्पष्ट रूप से भूत और चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया था। आधुनिक युग में हाइसनबर्ग, व्हीट्टाकर आदि भी पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार करते हैं, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हाइसनबर्ग का स्थान वर्तमान वैज्ञानिकों की प्रथम श्रेणी में है। उन्होंने अपने **भौतिक विज्ञान और दर्शन** नामक ग्रन्थ में आधुनिक विज्ञान के दर्शन की जो चर्चा की है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने भौतिक पदार्थों को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में माना है। साथ ही चेतन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं। उन्होंने माना है कि 'चेतन तत्त्व' को भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र और विकासवाद के सिद्धान्तों पर नहीं समझाया जा सकता।[२] हाइसनबर्ग यह भी मानते हैं कि 'वास्तविकता' को समझने के लिए हमारी सामान्य धारणाओं की सूक्ष्म परिभाषाएं आवश्यक है।[३] इनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत मान सकते हैं। उन्होंने स्वयं आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा में यह कहा है कि 'पदार्थ,' 'अनुभूति,' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषाएं आवश्यक हैं।[४]

जैन दर्शन के साथ यदि इसकी तुलना की जाये, तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकों की दार्शनिक विचारधाराओं में हाइसनबर्ग की विचारधारा जैन दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है। दोनों ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है। ज्ञाता, ज्ञेय-सम्बन्धी हाइसनबर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध न होने से इतनी ही समीक्षा पर्याप्त मानी जा सकती है।

हाईसनबर्ग के अतिरिक्त अन्य कुछ वैज्ञानिक भी भौतिक पदार्थों और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते हैं। किन्तु उनकी विचारधाराएं दर्शन के

---

१ विवरण के लिए देखें, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४७–३४८।

२ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ९५।

३. वही, पृ० ८४।

४ वही, पृ० ७८।

रूप मे उपलब्ध न होने से उनकी तुलनात्मक समीक्षा नही की जा सकती।

उपसहार

'विश्व क्या है ?' विश्व-प्रहेलिका के इस प्रमुख प्रश्न के समाधान मे दिये गये दार्शनिको और वैज्ञानिको के विचारो और सिद्धान्तो की जैन दर्शन के साथ एक तुलनात्मक समीक्षा करने का हमने प्रयत्न किया। हमने देखा कि विश्व की वास्तविकता के विषय मे उल्लिखित इन विविध दर्शनो मे और जैन दर्शन मे सादृश्य भी है और वैसदृश्य भी। किसी ने केवल 'ईश्वर' को वास्तविक माना है और सारे विश्व को अवास्तविक। किसी ने अनुभूत विश्व को अवास्तविक मानकर वास्तविकता को पारमार्थिक बताया है। किसी ने अनुभूति को ही वास्तविकता का मूल कारण माना है और अनुभूत विश्व को अवास्तविक कहा है। किसी ने केवल आत्मा या चेतन को ही वास्तविक माना है और भूत को अवास्तविक। किसी ने केवल भूत को वास्तविक माना है, तो चेतन को अवास्तविक अथवा भूत से ही उद्भूत। किसी ने चेतन, भूत सभी को अवास्तविक कहा है। किसी ने चेतन को भी वास्तविक कहा है और भूत को भी तथा किसी ने चेतन और भूत से भिन्न अनुभय को वास्तविक माना है।

विज्ञान का दर्शन उक्त विषय मे क्या दृष्टिकोण रखता है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हम देख चुके है कि वैज्ञानिक इस विषय मे पृथक्-पृथक् विचार रखते हैं। विज्ञान का प्रायोगिक पक्ष बहुधा सर्वसम्मत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, तो दार्शनिक पक्ष भी क्या ऐसा प्रतिपादन नही कर सकता ? इस विचारणीय प्रश्न को हम उक्त समीक्षा के आलोक मे हल करने का प्रयत्न करेंगे। हम देख चुके है कि वैज्ञानिको के दार्शनिक विचार मुख्यत तीन भागो मे विभाजित हो जाते हैं—१ आदर्शवाद, २. भौतिकवाद, ३. अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद। इनमे प्रथम दो दृष्टिकोण एकतत्त्ववाद (मोनिजम) का समर्थन करते हैं। किसी भी प्रकार के एकतत्त्ववाद की यह त्रुटि है कि वह तर्क और अनुभव के आधार पर खरा नही उतरता। आदर्शवादी वैज्ञानिक भौतिक विश्व की वस्तु-निष्ठता को अस्वीकार कर केवल चैतन्य को ही विश्व की वास्तविकता मानने का आग्रह करते है, तो भौतिकवादी वैज्ञानिक केवल भूत को विश्व की चरम वास्तविकता बताते हैं। दोनो पक्षो के वैज्ञानिक अपनी विचारधारा को विज्ञान-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वैज्ञानिको के इन दार्शनिक विवाद के पीछे राजनीति का भी प्रभाव है, ऐसा लगता है।

साम्यवादी नेताओ को जब पता चला कि कुछ वैज्ञानिक आधुनिक भौतिक विज्ञान के आदर्शवाद की विचारधारा के पक्ष मे बताते है, तो उन्हे बडी चिन्ता

हुई[1]। वे इस प्रयत्न मे लगे कि 'भौतिकवाद' को ही वैज्ञानिक दर्शन का स्थान प्राप्त हो। लेनिन ने ठेठ ई० १६०८ मे लिखा था—"सामान्य विज्ञान के क्षेत्र मे एव भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे से भी वैज्ञानिको का विशाल बहुमत भौतिकवाद के पक्ष मे है। बहुत ही अल्पसख्या मे कुछ एक आधुनिक भौतिक विज्ञान-वेत्ता आदर्शवाद के चक्कर मे पड गये है। यह नया आदर्शवादी भौतिक विज्ञान जो अभी-अभी प्रचारित हो रहा है, केवल प्रतिक्रियात्मक और अस्थाई है ।"[2] लेनिन के इस विचार की प्रतिक्रियारूप ही सम्भवत एडिंग्टन, जीन्स आदि वैज्ञानिको ने ईश्वर के अस्तित्व को और भौतिक पदार्थो के ज्ञाता-सापेक्ष अस्तित्व को वैज्ञानिक सिद्धान्तो के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार एक ओर आदर्शवाद को तो दूसरी ओर भौतिकवाद को विज्ञान-सम्मत बताने के प्रयत्न वैज्ञानिको के द्वारा हुए। यह सहज सम्भव है कि इस प्रकार के प्रयत्नो मे विज्ञान की तर्क-सगतता और अनुभव-सगतता को गौण कर दिया गया हो। इन दोनो विचारधाराओ की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनो विचारधाराए पूर्ण रूप से विज्ञान-सम्मत और तर्क-सम्मत नही है।

प्रो० स्टेबिंग, जिन्होने एडिंग्टन और जीन्स के आदर्शवादी विचारो की कटु आलोचना की है और उनके विचारो मे रही हुई असगतता को प्रकट किया है, 'भौतिकवाद' को भी विज्ञान-सम्मत दर्शन नही मानती। उन्होने इस बात को स्पष्ट रूप से लिखा है कि "भौतिकवादी येन-केन-प्रकारेण किसी प्रकार के तत्त्व-मैमासिक भौतिकवाद की स्थापना करना चाहते हैं। (वे चाहते है कि) वैज्ञानिक निष्कर्षो का जिस किसी भी प्रकार से ऐसा प्रतिपादन किया जाये, जिससे वे दार्शनिक विचार पुष्ट हो, जिन पर उनका राजनैतिक दर्शन व्यवसायिक रूप से आधारित है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पोषको की उतनी ही निकृष्ट तत्त्व-मीमासा और उतना ही अपूर्ण दर्शन है, जितना कि उन लोगो का है, जो दार्शनिक आदर्शवाद को मान्यता देते है। मैं इस सम्भावित भ्रान्ति को दूर करना चाहती हू। यदि मैं इस बात को सिद्ध करने मे सफल होती हू कि वर्तमान भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त आदर्शवाद के किसी भी प्रकार की पुष्टि नही करते तो ऐसा भी नही समझना चाहिये कि उन्हे (भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तो को) भौतिकवाद के किसी रूप की पुष्टि करने वाले सिद्ध करती

१ देखे, फिलोसोफी एण्ड फिजिसिस्ट्स, भूमिका, पृ० ११।

२ मेटेरियलिज़म एण्ड एम्पिरियो क्रिटिसिज़म, पृ० ३१०।

हू ।"[1] प्रो० स्टेबिंग के आदर्शवाद-विरोधी विचारो की चर्चा हम कर चुके हैं और देख चुके हैं कि उन्होने सफलतापूर्वक एडिंग्टन और जीन्स के दार्शनिक विचारो को विज्ञान और तर्क के साथ असगत सिद्ध किया है। उक्त उद्धरण से कहा जा सकता है कि भौतिकवाद को भी वे विज्ञान-सम्मत मानने को तैयार नहीं है। इस उद्धरण से विज्ञान के दर्शन पर राजनीति के प्रभाव को भी देखा जा सकता है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दर्शन की सज्ञा न तो आदर्शवाद को दी जा सकती है और न भौतिकवाद को।

तीसरा विकल्प रह जाता है—द्वैतवाद या अनेकतत्त्ववाद का। हाइसनवर्ग आदि वैज्ञानिको की मान्यता सम्भवत विज्ञान के दर्शन को निष्पक्ष रूप से प्रतिपादित करती है। उनके अभिमत मे आत्मा (चेतन) और भूत दोनो को स्वतन्त्र मौलिक वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार यद्यपि इन वास्तविकताओं के तात्त्विक स्वरूप के विषय में वर्तमान विज्ञान का चिन्तन स्पष्ट नही हो पाया है, फिर भी इनके स्वतन्त्र अस्तित्व को तो स्वीकार कर ही लिया गया है। हाइसनवर्ग ने अपनी **भौतिक विज्ञान और दर्शन** नामक पुस्तक के उपसहारात्मक अध्याय मे लिखा है: "मन, आत्मा, जीवन या ईश्वर-सम्बन्धी उन्नीसवी शताब्दी[2] की हमारी धारणाओं से आज आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास के कारण इनके विषय मे हमारी धारणाएं काफी भिन्न हो गई हैं। एतद् विषयक धारणाए प्राकृतिक भाषा के साथ सम्बन्धित होने के कारण वास्तविकता को अधिक छूती हैं। यद्यपि यह सही है कि इनकी व्याख्याए वैज्ञानिक अर्थ मे इतनी सुस्पष्ट नही हैं और सम्भवत इनके परिणामस्वरूप अनेक असगतिया भी उत्पन्न हो जाती हैं, फिर भी हमे वर्तमान मे तो उनको वैसे ही अपनाना होगा। क्योकि हम जानते हैं कि वे वास्तविकता को छूती है। इसके सम्बन्ध से यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान के अधिकतम समीचीन अश—गणित मे हमे बहुत सारी ऐसी धारणाओ को प्रयुक्त करना होता है, जो असगतियो को जन्म देने वाली होती हैं। उदाहरणार्थ—"यह सर्व विदित है कि 'अनन्त' सम्बन्धी (गणित की) धारणा असगतियो को उत्पन्न करती है, जिनका विश्लेषण भी

---

१. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, भूमिका, पृ० १२।

२. १९ वीं शताब्दी के वैज्ञानिको के दर्शन मे प्रमुखतया भौतिकवाद को ही स्थान मिला था। 'यान्त्रिक भौतिकवाद' उन्नीसवी शताब्दी के भौतिक विज्ञान की देन है।

किया गया है, परन्तु इस धारणा के बिना गणित के प्रमुख अशो का निर्माण प्राय: अशक्य सा बन जाता है।"[1] हाइसनबर्ग के इस कथन का तात्पर्य यही होता है कि विज्ञान-सम्मत दार्शनिक विचारधारा आत्मा की वास्तविकता को स्वीकार करती है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'विश्व क्या है?' की प्रहेलिका का विज्ञान-सम्मत हल निकालने मे अब तक सभी वैज्ञानिक एकमत नही हो पाये हैं। जैन दर्शन की विचारधारा और उसके आलोक मे की गई समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकता-वाद प्रस्तुत प्रहेलिका का विज्ञान-सम्मत हल निकालने मे मार्ग-दर्शक बन सकता है। जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है, फिर भी दार्शनिक आदर्शवाद से सहमत नहीं हैं। तत्त्व-मीमासा के दृष्टिकोण मे पुद्गल और जीव; दोनो के अस्तित्व का समान मूल्य है। अत भौतिकवाद और आदर्शवाद के बीच की खाई को पाटने के लिए जैन दर्शन का तत्त्व-मैमासिक दृष्टिकोण बहुत उप-योगी हो सकता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित सत् (वास्तविकता) की परि-भाषा द्रव्य, गुण, पर्याय का निरूपण, पाच अस्तिकायो का स्वरूप आदि तथ्य अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद के समक्ष उपस्थित होने वाली तर्कों का समा-धान दे सकते हैं।

आकाश और काल एक समीक्षा

'विश्व क्या है?' इस प्रश्न के अन्तर्गत विश्व के दो तत्त्व— आकाश और काल की चर्चा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आकाश और काल के स्वरूप के विषय मे विभिन्न दार्शनिको और वैज्ञानिको के विभिन्न अभिमतो की चर्चा हम कर चुके है। यहा उनकी समीक्षा की जा रही है।

पाश्चात्य दर्शन और जैन दर्शन

आकाश तत्त्व की वास्तविकता एव अवास्तविकता को लेकर पाश्चात्य दार्शनिको के दो पक्ष हो जाते है। प्रथम पक्ष मे जहा डेकार्ट्स, लाइबनीज, पाण्डित्यवादी दार्शनिक, काण्ट आदि आकाश को कोई स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही करते, वहाँ दूसरे पक्ष मे प्लुतो, अरस्तु, गेसेण्डी आदि आकाश को एक स्वतत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानते हैं। जैन दर्शन भी आकाश को एक 'अस्तिकाय' मानता है। इस प्रकार आकाश की वास्तविकता के विषय मे जैन दर्शन का दृष्टिकोण दूसरे पक्ष के साथ मे

---

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १७२।

कुछ दार्शनिक (लाइवनीज आदि) आकाश को दृश्य पदार्थों का 'क्रमरूप' मानते है । इस मान्यता को आधुनिक वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी स्वीकार किया है । इसको चर्चा वैज्ञानिको के आकाश-सम्बन्धी विचारो की समीक्षा मे की जायेगी ।

तीसरी विचारधारा पाश्चात्य दार्शनिको (गेसेण्डी आदि) के दर्शन मे तथा जैन दर्शन मे समान रूप से प्रतिपादित हुई है । यही मान्यता न्यूटन के आकाश–सम्बन्धी वैज्ञानिक निरूपण का आधार रही है । इसकी समीक्षा भी वैज्ञानिको के विचारो की समीक्षा मे करना अधिक उपयुक्त होगा ।

जिस प्रकार आकाश तत्त्व के विषय मे दार्शनिको मे विवाद रहा है, उसी प्रकार 'काल' के विषय मे भी अनेक प्रकार के सिद्धान्त दार्शनिको ने प्रस्तुत किये हैं । फिर भी कुछ एक दार्शनिको के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिक काल को स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही करते । जैन दर्शन के काल-सम्बन्धी निरूपण की चर्चा की जा चुकी है । श्वेताम्बर-परम्परा मे काल को स्वतन्त्र या चरम वास्तविकता के रूप मे नही माना गया है, जब कि दिगम्बर-परम्परा मे कालाणुओ के रूप मे काल को स्वतन्त्र वास्तविकता बताया गया है । इस प्रकार अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिको की काल-सम्बन्धी मान्यता श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिपादन के साथ सादृश्य रखती है । फिर भी सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से इनमे अन्तर रह जाता है । जैसे काण्ट ने काल को वास्तविकता के रूप मे तो नही माना है, किन्तु केवल प्राग्-अनुभव अन्त -दर्शन की उपज ही माना है, जब कि जैन दर्शन काल के अस्तित्व को केवल काल्पनिक नही मानता । जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) के अनुसार काल (नैश्चयिक) वास्तविताओं (जीव, पुद्गल आदि अस्तिकायो) की पर्याय ही है अत 'काल' का अस्तित्व ज्ञाता-सापेक्ष भी नही है । काण्ट का काल-सम्बन्धी सिद्धान्त सामान्य अनुभव भी स्वीकार नही कर सकता, क्योकि काल की धारणा परिवर्तन की अनुभूति के पश्चात्कालीन ही होती है ।

पाण्डित्यवादियो ने काल के विषय मे जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह बहुत कुछ कुछ जैन दर्शन के साथ समानता रखता है । अन्तर केवल इतना ही क जैन दर्शन काल' को केवल मस्तिष्क की उपज नही मानता, जब कि पाण्डित्यवादी काल की धारणा का आधार वास्तविक तथ्यो को मानते हुए भी मस्तिष्क के अतिरिक्त और कही उसके अस्तित्व को स्वीकार नही करते ।

लाइवनीज आदि का काल-सम्बन्धी मन्तव्य आधुनिक वैज्ञानिको के

निरूपण के सदृश-सा ही है। अत उसकी स्वतन्त्र समीक्षा अधिक मूल्य नहीं रखती।

न्यूटन और जैन दर्शन

आकाश और काल-सम्बन्धी वैज्ञानिकों की धारणाएं दार्शनिकों की धारणाओं की अपेक्षा मे समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। विज्ञान-जगत् मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व और पश्चात्कालीन धारणाएं परस्पर मे अत्यन्त भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। पहले हम प्राग्-आइन्स्टीन युग की धारणा की समीक्षा करते है।

न्यूटन की 'निरपेक्ष आकाश' और 'निरपेक्ष काल' की धारणाओं का विवेचन हम कर चुके हैं। न्यूटन द्वारा किया गया आकाश का निरूपण[1] जैन दर्शन के आकाशास्तिकाय के साथ अत्यधिक सदृशता रखता है। दोनों विचारधाराओं में आकाश को एक स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है तथा उसको अगतिशील, एक, अखण्ड और शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया गया है, फिर भी इनमे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर रह जाता है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड कर गति की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया, जब कि जैन दर्शन अभौतिक ईथर (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य) के सिद्धान्त से गति-स्थिति की समस्या का हल प्रस्तुत करता है। यही कारण था कि न्यूटन के सिद्धान्तों ने नहीं सुलझने वाली एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जिसके फल-स्वरूप आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने न्यूटन के भौतिक ईथर को तिलाञ्जलि दे दी। जहां तक न्यूटन के आकाश की वास्तविकता-सम्बन्धी निरूपण का प्रश्न है, उसकी तर्कसम्मतता अब भी अविच्छिन्न ही है। पश्चिम के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है: "न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त उस दुविधा को दूर करता है, जो 'शून्य' और 'वास्तविकता' के सम्बन्ध से उपस्थित होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त की अस्वीकृति का मुख्य कारण यही है कि 'निरपेक्ष आकाश' को जानना कतई सम्भव नहीं है; इसीलिए प्रायोगिक विज्ञान मे उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नहीं बन सकती। इससे भी अधिक व्यवहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाडी इसके

---

1. देखें, इसी पुस्तक मे पृ० २८, २९।

सादृश्य रखता है। आकाश की शून्याशून्यता को लेकर भी दो पक्ष बन जाते हैं—एक पक्ष मे शून्य आकाश (वेक्यूम) का अस्तित्व भी वास्तविक माना गया है, जबकि दूसरे पक्ष मे पदार्थों के अभाव मे आकाश का कोई अस्तित्व नही रह जाता। प्रथम पक्ष मे पाण्डित्यवादी दार्शनिक, काण्ट, गेसेण्डी आदि दार्शनिक है, तो दूसरे पक्ष मे डेकार्ट्स, लाइवनीज, प्लुतो, अरस्तु आदि है। जैन दर्शन सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रथम पक्ष के साथ ही सादृश्य रखता है। अलोकाकाश सम्पूर्णत रिक्त है, फिर भी वास्तविक है। वास्तविकता की दृष्टि से तो सम्पूर्ण लोकाकाश पदार्थो से व्याप्त है, फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से शून्यता की सम्भावना की जा सकती है।

आकाश के स्वरूप के विषय मे प्रमुखतया तीन विचारधाएँ बनती हैं:

१. आकाश केवल ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व है अथवा प्राग्-अनुभव अन्त-दर्शन की उपज ही है।

२. आकाश भौतिक पदार्थों से जुडा हुआ या उनका ही गुण रूप या क्रम रूप तत्त्व है।

३. आकाश ज्ञाता (आत्मा) और भूत से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र वास्तविकता है।

इन तीनो विकल्पो मे से प्रथम विकल्प को स्वीकार करने वाले है—पाण्डित्यावादी, काण्ट आदि। पाण्डित्यावादियो के अनुसार आकाश की कल्पना हम इसलिए करते हैं कि वास्तविक पदार्थों के विस्तार को देखते ही हमे यह अनुभव होता है कि इसका कोई-न-कोई आधार होना चाहिए। अत. आकाश स्वय मे कोई वास्तविक तत्त्व नही है, अपितु केवल हमारे मस्तिष्क की ही उपज है। किन्तु पाण्डित्यवादियो की यह धारणा तर्क-सगत नही होनी, क्योकि वास्तविक पदार्थो का आधार यदि वास्तविक नही होता है, तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उनका टिकाव कैसे हो सकता है? अतः यह मानना ही पडता है कि आकाश का वास्तविक अस्तित्व है। उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि शून्य आकाश का अस्तित्व भी शक्य है तथा आकाश स्व-अवस्थित और शाश्वत है। किन्तु वे मानते है कि ये सभी गुण हमारे द्वारा ही कल्पित हैं। यदि इनको हम वास्तविक मान लें, तो ईश्वर और आकाश मे कोई अन्तर नही रह जायेगा।[1] यह मान्यता तर्क-सगत नही है। ईश्वर की सर्व-व्यापकता की कल्पना स्वय ही अनाधारित है, अत. आकाश को वास्तविक मानने मे कोई

१. कोस्मोलोजी, पृ० १०१।

दोष नही है।

काण्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की 'आकाश केवल एक प्राग्-अनुभव अन्तः दर्शन की उपज है' तर्क के आधार पर खरा नही उतरता।[1] अब युक्लिडियेतर भूमिति के आविष्कार के बाद तो काण्ट की इस मान्यता का प्रत्यक्षतः खण्डन हो जाता है।[2] काण्ट की विचारधारा मे और जैन दर्शन की विचारधारा मे केवल यही साम्य है कि दोनो ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

दूसरी विचारधारा आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित मानती है। जैसे-प्लुतो ने 'कोरा' तत्त्व को माना है तथा अरस्तु ने भी भौतिक पदार्थ के अभाव मे आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नही किया है। इस मान्यता को भी हम स्वीकार नही कर सकते। यदि आकाश का वास्तविक अस्तित्व होता है, तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होना चाहिए, क्योंकि आकाश अनन्त है और भौतिक विश्व सान्त है।

आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना भी उपयुक्त नही है, जैसे डेकार्ट्स ने माना है। 'स्थान पाना' अथवा 'स्थान रोकना' भौतिक पदार्थ का गुण है, परन्तु जिसमे स्थान पाया जाता है, वह तो उससे भिन्न ही है। एक ही स्थान मे अनेक पदार्थो का आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर मे अनेक स्थानो मे आश्रित होना। 'आश्रय' देने वाले तत्त्व को आश्रित तत्त्व से भिन्न सिद्ध कर देता है। जैन दर्शन के अनुसार तो आकाशास्तिकाय के एक 'प्रदेश' पर अनन्त भौतिक परमाणुओ का आश्रय होना सम्भव है।[3] इसके अतिरिक्त आकाश अमूर्त्त है, जब कि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण सहित हैं और मूर्त्त हैं। तब अमूर्त्त आकाश मूर्त्त पदार्थ का गुण कैसे बन सकता है? इस प्रकार के अनेकानेक प्रश्न आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानने पर खड़े हो जाते हैं।

---

१. पाण्डित्यवादियो द्वारा किये गये काण्ट के विचारो के खण्डन के लिए देखें, वही पृ० ९७।

२ वैज्ञानिक आधार पर इसके खण्डन के लिये देखें फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ८१, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १६, १७, दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ६।

३. एक प्रदेशादिषु विकल्प पुद्गलानाम्।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-९।

कुछ दार्शनिक (लाइबनीज आदि) आकाश को दृश्य पदार्थों का 'क्रमरूप' मानते है । इस मान्यता को आधुनिक वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी स्वीकार किया है । इसकी चर्चा वैज्ञानिको के आकाश-सम्बन्धी विचारो की समीक्षा मे की जायेगी ।

तीसरी विचारधारा पाश्चात्य दार्शनिको (गेसेण्डी आदि) के दर्शन मे तथा जैन दर्शन मे समान रूप से प्रतिपादित हुई है । यही मान्यता न्यूटन के आकाश–सम्बन्धी वैज्ञानिक निरूपण का आधार रही है । इसकी समीक्षा भी वैज्ञानिको के विचारो की समीक्षा मे करना अधिक उपयुक्त होगा ।

जिस प्रकार आकाश तत्त्व के विषय मे दार्शनिको मे विवाद रहा है, उसी प्रकार 'काल' के विषय मे भी अनेक प्रकार के सिद्धान्त दार्शनिको ने प्रस्तुत किये है । फिर भी कुछ एक दार्शनिको के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिक काल को स्वतत्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही करते । जैन दर्शन के काल-सम्बन्धी निरूपण की चर्चा की जा चुकी है । श्वेताम्बर-परम्परा मे काल को स्वतत्र या चरम वास्तविकता के रूप मे नही माना गया है, जब कि दिगम्बर-परम्परा मे कालाणुओ के रूप मे काल को स्वतत्र वास्तविकता बताया गया है । इस प्रकार अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिको की काल-सम्बन्धी मान्यता श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिपादन के साथ सादृश्य रखती है । फिर भी सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से इनमे अन्तर रह जाता है । जैसे काण्ट ने काल को वास्तविकता के रूप मे तो नही माना है, किन्तु केवल प्राग्-अनुभव अन्त -दर्शन की उपज ही माना है, जब कि जैन दर्शन काल के अस्तित्व को केवल काल्पनिक नही मानता । जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) के अनुसार काल (नैश्चयिक) वास्तविताओ (जीव, पुद्गल आदि अस्तिकायो) की पर्याय ही है अत 'काल' का अस्तित्व ज्ञाता-सापेक्ष भी नही है । काण्ट का काल-सम्बन्धी सिद्धान्त सामान्य अनुभव भी स्वीकार नही कर सकता, क्योकि काल की धारणा परिवर्तन की अनुभूति के पश्चात्कालीन ही होती है ।

पाण्डित्यवादियो ने काल के विषय मे जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह बहुत कुछ कुछ जैन दर्शन के साथ समानता रखता है । अन्तर केवल इतना ही क जैन दर्शन काल' को केवल मस्तिष्क की उपज नही मानता, जब कि पाण्डित्यवादी काल की धारणा का आधार वास्तविक तथ्यो को मानते हुए भी मस्तिष्क के अतिरिक्त और कही उसके अस्तित्व को स्वीकार नही करते ।

लाइबनीज आदि का काल-सम्बन्धी मन्तव्य आधुनिक वैज्ञानिको के

निरूपण के सदृश-सा ही है। अत उसकी स्वतंत्र समीक्षा अधिक मूल्य नही रखती।

न्यूटन और जैन दर्शन

आकाश और काल-सम्बन्धी वैज्ञानिको की धारणाएं दार्शनिको की धारणाओ की अपेक्षा मे समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। विज्ञान-जगत् मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व और पश्चात्कालीन धारणाएं परस्पर मे अत्यन्त भिन्न प्रकार की दिखाई देती है। पहले हम प्राग्-आइन्स्टीन युग की धारणा की समीक्षा करते हैं।

न्यूटन की 'निरपेक्ष आकाश' और 'निरपेक्ष काल' की धारणाओं का विवेचन हम कर चुके हैं। न्यूटन द्वारा किया गया आकाश का निरूपण[1] जैन दर्शन के आकाशास्तिकाय के साथ अत्यधिक सदृशता रखता है। दोनो विचारधाराओ में आकाश को एक स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है तथा उसको अगतिशील, एक, अखण्ड और शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया गया है, फिर भी इनमे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर रह जाता है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड कर गति की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया, जब कि जैन दर्शन अभौतिक ईथर (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य) के सिद्धान्त से गति-स्थिति की समस्या का हल प्रस्तुत करता है। यही कारण था कि न्यूटन के सिद्धान्तो ने नही सुलझने वाली एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जिसके फल-स्वरूप आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने न्यूटन के भौतिक ईथर को तिलाञ्जलि दे दी। जहा तक न्यूटन के आकाश की वास्तविकता-सम्बन्धी निरूपण का प्रश्न है, उसकी तर्कसम्मतता अब भी अविच्छिन्न ही है। पश्चिम के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है: "न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त उस दुविधा को दूर करता है, जो 'शून्य' और 'वास्तविकता' के सम्बन्ध से उपस्थित होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन नही किया जा सकता। इस सिद्धान्त की अस्वीकृति का मुख्य कारण यही है कि 'निरपेक्ष आकाश' को जानना कतई सम्भव नही है; इसीलिए प्रायोगिक विज्ञान मे उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नहीं बन सकती। इससे भी अधिक व्यवहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाडी इसके

१. देखें, इसी पुस्तक मे पृ० २८, २९।

बिना भी चल सकती है।"[1] इस उद्धारण से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन का 'निरपेक्ष आकाश' अथवा जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से अकाट्य है। 'निरपेक्ष आकाश' के अस्तित्व पर 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' की चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी।

न्यूटन ने काल की जो परिभाषा दी है, उससे यह लगता है कि उन्होने काल को वास्तविक तत्त्व या द्रव्य के रूप मे न मान कर वास्तविक तथ्य के रूप मे प्रतिपादित किया है। जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) भी काल को वास्तविक तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता। न्यूटन ने निरपेक्ष गाणितिक काल का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जैन दर्शन के निरपेक्ष काल-मान—'समय' आदि उसी प्रकार के सिद्धान्त के द्योतक हैं। इस प्रकार काल के विषय मे भी दोनो सिद्धान्तो मे बहुत साम्य है, फिर भी न्यूटन के सिद्धान्त ने प्रकाश–गति की सीमितता को अस्वीकार करने के कारण आकाश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार ही नही किया है, जब कि जैन दर्शन मे प्रकाश-गति की सीमितता से होने वाले आकाश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध का विरोध उपलब्ध नही होता है।

इस प्रकार प्राग्-आइन्स्टीनीय विज्ञान के क्षेत्र की आकाश-काल-सम्बन्धी धारणाए जैन दर्शन की विचारधारा के साथ दार्शनिक (तत्त्व-मीमांसिक) अपेक्षा से अधिक सादृश्य रखती हैं।

आपेक्षिकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन

आइन्स्टीन द्वारा दिये गये आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र मे जो नई क्रान्ति आई, उसका आकाश-काल की धारणाओ पर भी गहरा प्रभाव पडा। इस सिद्धान्त के आविष्कार, इसके भौतिक विज्ञान के विविध पहलुओ पर पडे हुए प्रभाव तथा इसके दार्शनिक पक्ष की चर्चा भी हम कर चुके हैं। जैन दर्शन के माध्यम से इसकी तुलनात्मक समीक्षा यहा की जा रही है।

आकाश और काल के विषय मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त के दो पहलू हो जाते है।

१. आकाश और काल की सापेक्षता।

२. आकाश और काल की वास्तविकता।

आइन्स्टीन द्वारा प्रदत्त मूल आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे कहा गया है :

---

१ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६१।

"किसी भी प्रकार के प्रयोग के द्वारा किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति का पता नही लगाया जा सकता।" इस सिद्धान्त के आधार पर सामान्यतया यह तात्पर्य निकाला जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व ही नही है। यदि यही तात्पर्य सही हो, तो जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ मेल नही खाता। किन्तु उक्त तात्पर्य निर्विवादतया मान्य नही है। सर्वप्रथम तो यह जानना आवश्यक है कि आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे कथित अशक्यता ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के कारण है अथवा वस्तु-सापेक्ष असम्भवता के कारण है। यदि ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के परिणाम रूप ही हम किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति को जानने मे असमर्थ रहते हैं, तो निरपेक्ष गति के वास्तविक अस्तित्व का अन्त नही आ जाता। जैन दर्शन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि उक्त अशक्यता ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के कारण ही है, न कि वस्तु-सापेक्ष असम्भवता के कारण। राइशनबाख ने इस प्रकार के विपर्यय को स्पष्ट उदाहरण के द्वारा समझाया है "अवश्य ऐसे बहुत सारे प्रसग होते हैं, जहा भौतिक विज्ञान परिमाणो को निकालने मे समर्थ नही होता। इसका अर्थ क्या यह होता है कि जिस राशि का हम परिमाण निकालना चाहते हैं, उसका अस्तित्व ही नही है? उदाहरणार्थ, हवा के एक घन सेण्टीमीटर मे रहे हुए अणुगुच्छे (मोलिक्यूल) की सख्या का सही-सही निश्चय करना अशक्य है। निश्चितता की अत्यधिक मात्रा के साथ हम कह सकते है कि एक-एक अणुगुच्छ को गिनने मे हम असफल ही रहेगे, तो फिर क्या हम यह परिणाम निकाल लें कि इस सख्या का अस्तित्व ही नही है? प्रत्युत हमे यही कहना होगा कि ऐसा पूर्णांक होना ही चाहिए, जो इस राशि का बिल्कुल सही द्योतक हो। आपेक्षिकता के सिद्धान्त की भूल इसी तथ्य मे निहित है कि उसमे जानने की अशक्यता को वास्तविक असम्भवता के साथ उलझा दिया गया है।"[1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व ही नही है, ऐसा फलित आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आधार पर निकालना अयथार्थ होगा।

विश्व के प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक हाइसनबर्ग ने इसी उलझन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है – "ईथर नामक परिकल्पित द्रव्य, जो १९ वी शताब्दी मे मैक्सवेल के सिद्धान्तो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, अब आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा नामशेष कर दिया गया है। इसी बात को कभी-कभी

---

१ दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, पृ० २८।

इस प्रकार भी कहा जाता है कि 'निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त' खण्डित हो चुका है। किन्तु ऐसे कथन को बहुत सावधानी के साथ स्वीकार करना चाहिए।"[1] यद्यपि हाइजनबर्ग ने यह तो स्वीकार नहीं किया है कि आकाश नामक कोई स्वतन्त्र अगतिशील वास्तविकता का अस्तित्व है, फिर भी उन्होंने यह तो माना ही है कि भौतिक ईथर के नामशेष हो जाने से 'आकाश' नामशेष नहीं हो गया है। अन्यत्र उन्होंने एक तर्क आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आलोचकों के नाम पर उपस्थित किया है, जिसको यद्यपि वे स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी यह तो मानते है कि इस तर्क को प्रायोगिक आधार पर गलत सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि इसमे ऐसी कोई धारणा नहीं की गई, जो विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त से भिन्न हो। उसको प्रस्तुत करते हुए वे लिखते है : "आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है—'निरपेक्ष आकाश और निरपेक्ष काल का नास्तित्व विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा किसी भी प्रकार से सिद्ध नही होता है। (उस सिद्धान्त मे तो) यही बताया गया है कि किसी भी सामान्य प्रयोग मे वास्तविक आकाश और वास्तविक काल प्रत्यक्षतः भाग नही लेते, किन्तु यदि प्राकृतिक नियमो के इस पहलू को ध्यान मे ले लिया जाये तथा गतिमान् निर्देश-निकायों के लिए सही प्रतीयमान काल (मानो) का व्यवहार किया जाये, तो निरपेक्ष आकाश की धारणा के विरोध मे कोई तर्क नहीं रह जाता। ऐसा भी सम्भवतः माना जा सकता है कि हमारा आकाशगंगा का गुरुत्व-केन्द्र (सेंटर ऑफ ग्रेविटी) निरपेक्ष आकाश मे (कम से कम लगभग) स्थिर है।' इससे आगे आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आलोचक यह भी कह सकते हैं—'हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य के नाप-तोल निरपेक्ष आकाश की स्पष्ट परिभाषा देने मे हमे समर्थ बना देगे।" और इस प्रकार हम आपेक्षिकता के सिद्धान्त का खण्डन कर सकेंगे'।"[2] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आधार पर निरपेक्ष आकाश के अस्तित्व को स्वीकार न करना गलत सिद्ध हो सकता है।

प्रो० मार्गेनो भी इस बात को स्वीकार तो करते ही हैं कि निरपेक्ष आकाश एक सभवित कन्स्ट्रक्ट्स है . "निरपेक्ष आकाश को स्वीकार करने वाला अपनी विचारधारा को इस सरल तथ्य पर आधारित करता है कि त्रिवैमितिक आकाश की कल्पना वह तभी कर सकता है, जबकि वह आकाश पदार्थ-

---

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १०७।

२. वही, पृ० १२०।

शून्य हो। इस प्रकार का आकाश एक सम्भवित कन्स्ट्रक्ट्स है और वह प्राथमिक प्रश्न के ढाचे मे ही निरपेक्ष है।" [1] इससे आगे उन्होंने यही बताया है कि इस प्रकार का आकाश उपयोगी न होने से वैज्ञानिक इसको स्वीकार नही करते, फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से स्वीकार्य हो ही जाता है कि निरपेक्ष आकाश का अस्तित्व समाप्त नही हुआ है।

निरपेक्ष आकाश को जिस प्रकार से जैन दर्शन ने स्वीकार किया है, उसका खण्डन तो आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा किया ही नही जा सकता। हा, यह अवश्य मानना पडता है कि भौतिक विज्ञान के प्रायोगिक क्षेत्र मे इस प्रकार के निष्क्रिय तत्त्व की कोई आवश्यकता प्रतीत न होने से उसके अस्तित्व को मानना भी आवश्यक न समझा जाये। इसी बात को हम रसल के शब्दो में देख चुके है। अत तार्किक क्षेत्र मे निरपेक्ष आकाश की वास्तविकता तो अनिवार्य हो ही जाती है और यदि इसको वैज्ञानिक स्वीकार नही करते हैं, तो सम्भवत विश्व-प्रहेलिका से सम्बन्धित अन्य पहलुओ के उत्तर, वे नही दे सकते।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दूसरा पहलू है—आकाश और काल की वास्तविकता। हम देख चुके है कि वैज्ञानिक इस विषय मे एकमत नही हैं। आइन्स्टीन आदि जहा आकाश और काल को चेतन (ज्ञाता) द्वारा कल्पित तत्त्व ही मानते हैं, वहा राइशनबाख आदि उसकी वास्तविकता को इन्कार नही करते। इस समस्या का हल प्राप्त करने के लिए हमे पहले कुछ धारणाओ का स्पष्टीकरण करना पडेगा। वैज्ञानिक शब्दावलि में आकाश, काल, आकाश काल की चतुर्वेमितिक सततता, गुरुत्व-क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र (मेक्ट्रिकल फील्ड) तथा ईथर, इन शब्दो के द्वारा किन-किन तथ्यो का निरूपण हुआ है और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दो (आकाशास्तिकाय, काल, धर्म, अधर्म, द्रव्य) से ये कहा तक सम्बन्धित होते हैं? ये दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। आकाश शब्द का प्रयोग आइन्स्टीन आदि केवल 'पदार्थ क्रम' के अर्थ मे करते है, जबकि राइशनबाख आदि पदार्थ क्रम के अतिरिक्त आकाश को एक स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे देखते हैं। जन दर्शन मे भी आकाशास्तिकाय को आश्रय देने वाला वास्तविक द्रव्य कहा है। यह धारणा आइन्स्टीन की आकाश की धारणा से नितान्त भिन्न है। यदि आइन्स्टीन की आकाश की धारणा को स्वीकार किया जाता है, तो उससे पदार्थों के आश्रय की समस्या नही सुलझती। अत. जहा हम तर्कशास्त्रीय

---

१ दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १०५।

एक तारा, पुच्छलतारा या ज्योतिर्माला उस आकाश-काल की सततता मे, जिसमे होकर वे गति करते हैं, परिवर्तन ला देते है।"[1] दूसरी ओर उन पदार्थों को ही उस सततता की अवस्था का रूप माना जाता है। इस प्रकार चतुर्वैमितिक सततता का तत्त्व-मैमासिक दृष्टि से अस्पष्ट प्रतिपादन होने के कारण आइन्स्टीन द्वारा किया गया आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिपादन अत्यन्त निर्बल हो जाता है। इसके सम्बन्ध मे राइशनवाख ने स्पष्ट व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। वे आकाश, काल और पदार्थ तीनो को एक दूसरे से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं। परन्तु इनको परस्पर मिला नही देते। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता से यह तात्पर्य निकालना कि काल आकाश की ही एक विमिति है, गलत होगा। जैन दर्शन का प्रतिपादन इस विषय मे स्पष्ट और अधिक तर्क-सगत है। पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल को भिन्न मानकर चलने पर आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ कोई विरोध प्रतीत नही होता। पुद्गलास्तिकाय के सहति, गति आदि गुणो का आकाशास्तिकाय पर कोई प्रभाव नही पडता। जैन दर्शन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पौद्गलिक प्रभावो से उत्पन्न होने वाले गुरुत्व-क्षेत्र आदि भी पौद्गलिक होने चाहिए। अत उनमे होने वाले परिवर्तन पुद्गल से ही सम्बन्धित है, इसका आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

बर्ट्रेण्ड रसल द्वारा प्रतिपादित आकाश-सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिको की उलझन को और स्पष्ट कर देता है। एक तात्त्विक विवेचन के निष्कर्ष रूप मे उन्होने लिखा है—"इस तरह दो प्रकार के आकाश हो जाते हैं—एक तो ज्ञाता-सापेक्ष आकाश और दूसरा वस्तु-सापेक्ष आकाश। एक हमारे अनुभव द्वारा ज्ञात और दूसरा केवल अनुमानित या प्रकल्पित। किन्तु इस अपेक्षा से आकाश और विषय-ग्रहण के अन्य पहलुओ—जैसे रग, शब्द आदि मे कोई फर्क नही है। सब के सब अपने ज्ञाता-सापेक्ष रूप मे तो अनुभव द्वारा ज्ञात होते है, सब के सब अपने वस्तु-सापेक्ष रूप मे कार्यकारणवाद के द्वारा प्रकल्पित होते हैं। वर्ण, शब्द और गन्ध के हमारे ज्ञान से आकाश के हमारे ज्ञान को किसी भी कारण से भिन्न नही माना जा सकता।"[2] रसल द्वारा प्रतिपादित इन दो प्रकार के आकाशो का अनुभव-ग्राह्य (पर्सेप्चुअल) आकाश और

---

१. वही, पृ० ९२।

२ हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ७४४।

धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) आकाश कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रसल के शब्दो मे 'धारणात्मक आकाश' कहा जा सकता है, जबकि वैज्ञानिको का सम्बन्ध केवल अनुभव-ग्राह्य आकाश के साथ रहता है, किन्तु धारणात्मक आकाश का अस्तित्व स्वीकार किये बिना आश्रय-आश्रित सम्बन्ध की पहेली सुलझ नहीं सकती।

जैन दर्शन के दृष्टिकोण के अन्तर्गत तार्किक आधार पर आकाशास्तिकाय की अस्तित्व-सिद्धि की चर्चा की जा चुकी है। इस सम्बन्ध मे एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि आकाश सब पदार्थों को आश्रय देने वाला है, तो आकाश को कौन आश्रय देता है और यदि उसको आश्रय देने वाला और कोई है, तो फिर इस प्रकार चलने से अनवस्था दोष आ जायेगा। यह तर्क अति प्राचीन काल मे पाश्चात्य दार्शनिक जीनो (Zeno) द्वारा उपस्थित किया गया था। इसका उत्तर यही है कि भौतिक पदार्थ को आश्रय देने वाला तत्त्व मानने पर अनवस्था दोष आ सकता है। क्योंकि यह अनुभवगम्य है कि किसी भी प्रकार का भौतिक पदार्थ आश्रय के बिना टिक नही सकता। इसलिए हम आकाश नामक अभौतिक द्रव्य की धारणा करते हैं। आकाश की परिभाषा ही यह है कि 'जो स्वय तो स्व-आधारित है और दूसरे पदार्थों को आश्रय देने में समर्थ है।' अतः आकाश को आधार देने वाले किसी भी अन्य द्रव्य की कल्पना करने की आवश्यकता ही नही है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त न केवल आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा अखण्डित है, अपितु तर्क-सम्मत भी है।

अब हम आपेक्षिकता के सिद्धान्त के भौतिक विज्ञान-सम्बन्धी कुछ पहलुओ की समीक्षा करेंगे। आइन्स्टीन के विश्व सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई निश्चित आकार या बनावट नही है। जैसे लिकन बारनेट ने लिखा है : "ऐसा नही समझा जाना चाहिए कि गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी आइन्स्टीन का सिद्धान्त केवल एक गणित विषयक योजना है, क्योंकि इसका आधार वे गूढ धारणाएं हैं, जिनका सम्बन्ध विश्व से है। इन धारणाओ मे से सर्वाधिक उल्लेखनीय यह है कि विश्व एक अपरिवर्तनीय और अचल ढाचा नही है, जहा स्वतन्त्र पदार्थ, स्वतन्त्र आकाश और स्वतन्त्र काल मे स्थित हो। इसके विपरीत यह एक आकृति-विहीन अखण्डता है, इसकी कोई निश्चित बनावट नही है। यह लचीला और विभिन्नतापूर्ण है एव इसमे परिवर्तन अथवा विकृति सम्भव है। जहा भी

भूमिका को लेते है, वहा आइन्स्टीन की 'आकाश' सम्बन्धी ध रणा से काम नही चल सकता।

इसके अतिरिक्त भी आइन्स्टीन की दी हुई परिभाषा पर्याप्त नही है। जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे आकाश और गुरुत्व–क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र को एक ब ा दिया गया है, जहा आकाश केवल पदार्थों का क्रम न रह कर वक्रता को धारण करने वाला कोई तत्त्व या क्षेत्र का रूप ले लेता है। अब 'यह क्षेत्र क्या स्वतत्र वास्तविकता है ?'—इस प्रश्न का उत्तर यदि निषेध मे नही है तो यह क्षेत्र भी सम्भवत. वास्तविक 'आकाश' से अधिक भिन्न नही रह जाता। सामान्यतया यही माना जाता है कि वक्रता या क्षेत्र की उत्पत्ति पदार्थों की सहति से उत्पन्न होती है। जहा पर भी सहति वाला पदार्थ होता है, वह अपने आस-पास इस क्षेत्र को वैसे ही उत्पन्न कर देता है, जैसे चुम्बक के आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र हो जाता है अथवा विद्युत् प्रवाह के आस-पास विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। तब यही कहा जा सकता है कि क्षेत्र कोई स्वतत्र वास्तविकता नही है। किन्तु वस्तुत ऐसा नही है। पदार्थों के अभाव मे भी सूक्ष्म मात्रा मे वक्रता या क्षेत्र का अस्तित्व बना रहता है। एडिंग्टन ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है . 'उस प्रदेश मे जहा किसी भी प्रकार के ज्ञात भौतिक पदार्थ या विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र का अभाव है, वहा पर भी एक निश्चित अल्प मात्रा मे प्राकृतिक वक्रता होती है, जिसे मुख्यात रूप मे विश्व-सम्बन्धी अचल कहा जाता है। इस वक्रता का उत्तरदायी उस प्रदेश को रोकने वाला कोई तत्त्व है, जिसे चाहे हम आकाश कहे क्षेत्र कहे या ईथर[1] कहे।"[2] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निश्चित है कि भौतिक पदार्थ के अभाव मे भी कोई ऐसा तत्त्व रह जाता है, जिसे हमे स्वतत्र वास्तविकता का ही रूप मान लेना पडेगा। जैन दर्शन का 'आकाशास्तिकाय' तो सम्भवत इससे भी भिन्न रह जायेगा। हा, जिस रूपमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय

---

१. एडिंग्टन ने 'ईथर' सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया है। उनके अभिमत मे आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर मे अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र तीनो ही एक हैं। देखे, न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० ३८–४१।

२ न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० ४७।

की कल्पना की गई है, उससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि वे इस प्राकृतिक वक्रता के लिए उत्तरदायी हो। यद्यपि इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नही है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि आइन्स्टीन की आकाश की परिभाषा इस रूप मे गलत हो जाती है। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आकाशास्तिकाय नामक तत्त्व की जो धारणा जैन दर्शन मे है, उसकी पूर्ति वैज्ञानिको की आकाश, क्षेत्र या ईथर-सम्बन्धी धारणा नही कर सकती।

'विश्व-सम्बन्धी अचल' से सूचित होने वाली प्राकृतिक वक्रता को छोड कर, अब हम सामान्यतया महति से उद्भूत वक्रता या क्षेत्र की समीक्षा करे। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के स्थान मे आइन्स्टीन ने इस वक्रता-सिद्धान्त की स्थापना की है। यह स्पष्ट है कि इस आकाश का अस्तित्व भौतिक पदार्थ या महति से सम्बन्धित है। जहा पर भी 'महति' का अस्तित्व होता है, उसके आस-पास इस क्षेत्र या आकाश की उत्पत्ति हो जाती है। यदि महति को वहा से हटा लिया जाता है, तो वह क्षेत्र भी वहा से हट जाता है। दूसरे शब्दो मे यह क्षेत्र उसी तरह महति के साथ सम्बन्धित है, जैसे चुम्बक के साथ चुम्बकीय क्षेत्र होता है। इसके दार्शनिक प्रतिपादन मे यही धारणा बन सकती है कि गुरुत्व-क्षेत्र भौतिक पदार्थ का ही एक अग है, कोई स्वतन्त्र वास्तविकता नही है। अत. यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय या अधर्मास्तिकाय महति द्वारा जनित इस गुरुत्व-क्षेत्र से बिलकुल भिन्न तत्त्व है।

अब, 'चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सतता' की धारणा को ले। इसके विषय मे आइन्स्टीन के विचारो को समझना कठिन है। जैसे कि पहले बताया जा चुका है, वे इसे वास्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानते हैं। विश्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वे यही देते हैं कि विश्व चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सततता है[1]। विश्व पदार्थो से नही, घटनाओ से बना हुआ है और ये घटनाए इस चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सततता की ही विविध अवस्थाए हैं। इस प्रकार का विवेचन अत्यन्त ही उलझन-पूर्ण लगता है। एक ओर तो यह माना जाता है कि पदार्थ अपनी महति के कारण चतुर्वैमितक सततता मे वक्रता उत्पन्न कर देता है—"जिस प्रकार सागर मे तैरती मछली अपने आस-पास के पानी को आन्दोलित कर देती है, उसी तरह

---

१. दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ७६।

एक तारा, पुच्छलतारा या ज्योतिर्माला उस आकाश-काल की सततता मे, जिसमे होकर वे गति करते है, परिवर्तन ला देते है।"[1] दूसरी ओर उन पदार्थो को ही उस सततता की अवस्था का रूप माना जाता है। इस प्रकार चतुर्वैमितिक सततता का तत्त्व-मैमासिक दृष्टि से अस्पष्ट प्रतिपादन होने के कारण आइन्स्टीन द्वारा किया गया आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिपादन अत्यन्त निर्बल हो जाता है। इसके सम्बन्ध मे राइशनबाख ने स्पष्ट व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। वे आकाश, काल और पदार्थ तीनो को एक दूसरे से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं। परन्तु इनको परस्पर मिला नही देते। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता से यह तात्पर्य निकालना कि काल आकाश की ही एक विमिति है, गलत होगा। जैन दर्शन का प्रतिपादन इस विषय मे स्पष्ट और अधिक तर्क-सगत है। पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल को भिन्न मानकर चलने पर आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ कोई विरोध प्रतीत नही होता। पुद्गलास्तिकाय के सहति, गति आदि गुणो का आकाशास्तिकाय पर कोई प्रभाव नही पडता। जैन दर्शन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पौद्गलिक प्रभावो मे उत्पन्न होने वाले गुरुत्व-क्षेत्र आदि भी पौद्गलिक होने चाहिए। अत उनमे होने वाले परिवर्तन पुद्गल से ही सम्बन्धित हैं, इसका आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

बर्ट्रेण्ड रसल द्वारा प्रतिपादित आकाश-सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिको की उलझन को और स्पष्ट कर देता है। एक तात्त्विक विवेचन के निष्कर्ष रूप मे उन्होने लिखा है—"इस तरह दो प्रकार के आकाश हो जाते हैं—एक तो ज्ञाता-सापेक्ष आकाश और दूसरा वस्तु-सापेक्ष आकाश। एक हमारे अनुभव द्वारा ज्ञात और दूसरा केवल अनुमानित या प्रकल्पित। किन्तु इस अपेक्षा से आकाश और विषय-ग्रहण के अन्य पहलुओ—जैसे रग, शब्द आदि मे कोई फर्क नही है। सब के सब अपने ज्ञाता-सापेक्ष रूप मे तो अनुभव द्वारा ज्ञात होते है, सब के सब अपने वस्तु-सापेक्ष रूप मे कार्यकारणवाद के द्वारा प्रकल्पित होते है। वर्ण, शब्द और गन्ध के हमारे ज्ञान से आकाश के हमारे ज्ञान को किसी भी कारण से भिन्न नही माना जा सकता।"[2] रसल द्वारा प्रतिपादित इन दो प्रकार के आकाशो का अनुभव-ग्राह्य (पर्सेप्चुअल) आकाश और

---

१ वही, पृ० ६२।

२. हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ७४४।

धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) आकाश कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रसल के शब्दो मे 'धारणात्मक आकाश' कहा जा सकता है, जबकि वैज्ञानिको का सम्बन्ध केवल अनुभव-ग्राह्य आकाश के साथ रहता है, किन्तु धारणात्मक आकाश का अस्तित्व स्वीकार किये बिना आश्रय-आश्रित सम्बन्ध की पहेली सुलझ नही सकती।

जैन दर्शन के दृष्टिकोण के अन्तर्गत तार्किक आधार पर आकाशास्तिकाय की अस्तित्व-सिद्धि की चर्चा की जा चुकी है। इस सम्बन्ध मे एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि आकाश सब पदार्थों को आश्रय देने वाला है, तो आकाश को कौन आश्रय देता है और यदि उसको आश्रय देने वाला और कोई है, तो फिर इस प्रकार चलने से अनवस्था दोष आ जायेगा। यह तर्क अति प्राचीन काल मे पाश्चात्य दार्शनिक जीनो (Zeno) द्वारा उपस्थित किया गया था। इसका उत्तर यही है कि भौतिक पदार्थ को आश्रय देने वाला तत्त्व मानने पर अनवस्था दोष आ सकता है। क्योकि यह अनुभवगम्य है कि किसी भी प्रकार का भौतिक पदार्थ आश्रय के बिना टिक नही सकता। इसलिए हम आकाश नामक अभौतिक द्रव्य की धारणा करते हैं। आकाश की परिभाषा ही यह है कि 'जो स्वय तो स्व-आधारित है और दूसरे पदार्थों को आश्रय देने मे समर्थ है।' अत: आकाश को आधार देने वाले किसी भी अन्य द्रव्य की कल्पना करने की आवश्यकता ही नही है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त न केवल आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा अखण्डित है, अपितु तर्क-सम्मत भी है।

अब हम आपेक्षिकता के सिद्धान्त के भौतिक विज्ञान-सम्बन्धी कुछ पहलुओ की समीक्षा करेंगे। आइन्स्टीन के विश्व सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई निश्चित आकार या बनावट नही है। जैसे लिकन बारनेट ने लिखा है: "ऐसा नही समझा जाना चाहिए कि गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी आइन्स्टीन का सिद्धान्त केवल एक गणित विषयक योजना है, क्योकि इसका आधार वे गूढ धारणाएं हैं, जिनका सम्बन्ध विश्व से है। इन धारणाओ मे से सर्वाधिक उल्लेखनीय यह है कि विश्व एक अपरिवर्तनीय और अचल ढाचा नही है, जहा स्वतन्त्र पदार्थ, स्वतत्र आकाश और स्वतन्त्र काल मे स्थित हो। इसके विपरीत यह एक आकृति-विहीन अखण्डता है, इसकी कोई निश्चित बनावट नही है। यह लचीला और विभिन्नतापूर्ण है एव इसमे परिवर्तन अथवा विकृति सम्भव है। जहा भी

पदार्थ और गति है, वहा सततता मे व्यवधान पहुचता है।"[1] विश्व का यह चित्रण तर्क-सगत नही लगता, क्योकि यदि विश्व-स्थिति सहति की राशि (भौतिक शक्ति सहित) अचल रहती है, तो चतुर्वैमितिक सततता पर पडने वाला उसका प्रभाव भी एक-सा रहना चाहिए। यदि एक पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान मे गति करता है, तो विश्व की कुल सहति मे तो न्यूनाधिकता नही होती अत विश्व की समग्र अखण्डता, जिसकी बनावट का आधार तो विश्व-स्थित समग्र सहति राशि होनी चाहिए, मे परिवर्तन की कोई गुजाईश नही रह जानी चाहिए। जैन दर्शन का यही प्रतिपादन है—लोकाकाश स्थित धर्म-अधर्म द्रव्य एक निश्चित आकार मे सदा रहते हैं—इनकी बनावट मे कोई परिवर्तन नही आता।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण परिणाम है—आकाश-काल की विमितियो मे सकुचन। लोरेन्ट्ज द्वारा दिये गये समीकरणो से पता चला जाता है कि किसी भी पदार्थ की गति के साथ आकाश-काल की विमितिया सकुचित होती हैं। गतिमान् पदार्थ की लम्बाई गति की दिशा मे सकुचित हो जाती है—इसी को आकाशीय विमिति मे सकुचन माना गया है। अब यदि इस सकुचन को वास्तविक आकाश का ही सकुचन मान लिया जाये, तो यह गलत होगा। क्योकि यह सकुचन भौतिक पदार्थ की ही एक अवस्था परिवर्तन के फलस्वरूप है, न कि अभौतिक आकाश, जिसमे वह पदार्थ आश्रित है, के सकुचन के कारण।

काल-विमिति का सकुचन कुछ दुरूहता उत्पन्न कर देता है, इसको समझने के लिए एक सरल उदाहरण लिया जाये। एक तारा पृथ्वी से ४० प्रकाश वर्ष दूर है। अब यदि एक राकेट २४०००० किलोमीटर प्रति सैकिन्ड की गति से वहा जाता है, तो उसे वहा पहुचने मे कितना समय लगेगा? आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार इसके दो उत्तर हैं:

पृथ्वी-स्थित मनुष्य की अपेक्षा से तो तारे पर पहुचने मे—

$$\frac{३०००००\times४०}{२४००००}=५० \text{ वर्ष}$$

लगेंगे। (क्योकि प्रकाश की गति ३००००० कि० मी० प्रति सैकिण्ड है।) किन्तु जो मनुष्य उस राकेट मे बैठे हुए हैं, उनके लिए फिट्जजेराल्ड के सकुचन नियमो के अनुसार काल–विमिति मे सकुचन हो जायेगा। यह सकुचन १०.६

---

१ दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ९२।

के अनुपात मे होगा अर्थात् राकेट मे बैठे हुए मनुष्य के लिए तारे तक पहुचने मे $\frac{५० \times ६}{१०}$ = ३० वर्ष लगेगे।

उक्त उदाहरण से काल की विमिति के सकुचन को समझा जा सकता है, किन्तु इसके दार्शनिक पक्ष मे उलझन पैदा हो जाती है। मनुष्य की प्राकृतिक प्रक्रियाए (जिसमे उसकी आयु भी है) क्या इस सकुचन से प्रभावित होती हैं? अर्थात् गति के प्रभाव से काल का जो सकुचन हुआ है, उसके अनुसार ही क्या मनुष्य की प्राकृतिक प्रकियाए कार्य करती रहेगी? इस प्रश्न के उत्तर मे सम्भवत वैज्ञानिक एकमत नही हैं। प्रो० मार्गेनो इस विषय मे यही अभिमत प्रकट करते हैं कि ये सभी सकुचन किसी भी अर्थ मे वास्तविक ही है।[1] जबकि एडिंग्टन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'क्या आकाश-काल के सकुचन वास्तविक हैं?' तब इसके उत्तर मे उन्होने कहा था—"हम बहुधा 'सत्य' और 'वास्तविक सत्य' के बीच भेद करते हैं। उसी के आधार पर गतिमान् निकाय का सकुचन भी 'सत्य' कहा जा सकता है पर 'वास्तविक सत्य' नही कहा जा सकता।"[2] सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक के इस कथन से तो यही फलित होता है कि गति से जनित आकाश-काल के सकुचन नैश्चयिक दृष्टि से वास्तविक नही हैं।

सामान्य बुद्धि भी इस बात को स्वीकार नही कर सकती कि राकेट में गति करने वाले मनुष्य की आयु पृथ्वी-स्थित मनुष्य की आयु की अपेक्षा मे बढ जाती है। इसका तात्पर्य यही होता है कि वस्तुत आकाश–काल के जो निरपेक्ष मान है, उनका अस्तित्व मिट नही जाता। अन्यथा तो प्रकाश की गति को भी निरपेक्ष कहना उचित कैसे होगा? जैन दर्शन के दृष्टिकोण से उक्त सकुचन के प्रश्न को देखा जाये तो यही कहा जा सकता है कि भौतिक परिणतिया सापेक्ष हो सकती है, किन्तु नैश्चयिक आकाश-काल के मानो की निरपेक्षता एक वास्तविक तथ्य है।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' मे आकाश और काल की परस्परापेक्षता का जो निरूपण किया गया है, वह निर्विवाद है। इसका आधार प्रकाश-गति की सीमितता है। यह एक तथ्य है कि हमारी इन्द्रियो के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह इस गति से तेज चलने वाले किसी भी साधन की सहायता से नही

१ देखें, दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १४९।
२ न्यू पाथवेज् इन साईन्स, पृ० २७८।

हो सकता; अत घटना और द्रष्टा की (आकाशीय) दूरी के ऊपर युगपत्ता की परिभाषा आधारित हो जाती है। अत 'किसी भी घटना के पूर्ण विवेचन मे आकाश और काल दोनो जुडे हुए रहते है, यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से मान्य हो जाता है, किन्तु प्रकाश-गति की सीमितता का क्षेत्र कहा तक है ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

आपेक्षिकता का सिद्धान्त इसी परिकल्पना पर आधारित है कि प्रकाश का वेग उत्कृष्टतम वेग है। इससे अति वेग किसी भी पदार्थ का नही हो सकता। यदि जैन दर्शन के दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाये तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह परिकल्पना अयथार्थ हो। जैन दर्शन मे जीव और पुद्गल—दोनो को गतिमान् माना है। जीव की गति भी दो प्रकार की कही जा सकती है—

१ आकाश मे स्थानान्तर अर्थात् आकाश के एक भाग से दूसरे भाग मे गमन।

२ एक ही स्थान मे रहते हुए भी दूरस्थ पदार्थो का बाह्य साधनो की सहायता विना ज्ञान कर लेना।

जव जीव मृत्यु के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होता है या मुक्त दशा को प्राप्त होता है, तव प्रथम प्रकार की गति होती है। दूसरे प्रकार की गति स्थानान्तर की गति नही है, पर इसमे जीव (आत्मा) दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान (ग्रहण) कर लेता है। इन गतियो मे जो वेग होता है, वह प्रकाश के वेग से भी अत्यधिक हो सकता है। स्थानान्तर मे जीव (मृत्यु और दूसरे जन्म के बीच) उत्कृष्टतया एक समय[1] मे रज्जुओ[2] का अन्तर भी तय कर सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञान मे भी आत्मा एक समय मे रज्जुओ दूर स्थित पदार्थो का ज्ञान कर लेती है।

यह तो जीव के उत्कृष्टतम वेग की शक्यता है। पुद्गल भी आश्चर्य-जनक वेग से गति करने मे समर्थ होते हैं। पुद्गल की चरम इकाई परमाणु है, जो एक समय मे समग्र लोक की ऊँचाई (१४ रज्जु) को पार कर सकता है। यह परमाणु की उत्कृष्टतम गति मानी गई है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार तो यह वेग तभी सम्भव हो सकता है, जब कि पदार्थ की सहित 'शून्य' हो। जैन दर्शन भी परमाणु को सहित-शून्य

---

१. देखें, परिशिष्ट—२।

२. देखें, इसी पुस्तक मे पृ० ११४।

स्वीकार करना है। जैन दर्शन के अनुसार 'सहति' पुद्गल का मूलभूत गुण नही है। अत शून्य सहति वाले पदार्थ का वेग यदि प्रकाश के वेग से भी अधिक हो जाये तो आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार भी अशक्य नही है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से तो यह सम्भव माना जा सकता है कि प्रकाश का वेग ही उत्कृष्टतम वेग है, ऐसा कहना अयथार्थ होगा।

आधुनिक युग मे अन्तरिक्ष-यात्रा-सम्बन्धी आविष्कारो की वृद्धि के साथ-साथ वैज्ञानिको की कल्पना मे प्रकाश के वेग की सीमा को पार करने की बात भी आई है। अन्तरिक्ष-यात्रा से सम्बन्धित एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक पुस्तक के लेखक आर्थर क्लार्क ने अपनी पुस्तक के अन्त मे इस सम्भावना को प्रकट करते हुए लिखा है " " क्या यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि प्रकाश के वेग को कभी भी नही लाघा जा सकेगा? आपेक्षिकता का सिद्धान्त जो कुछ भी हो, आखिर तो एक 'सिद्धान्त' ही है। जैसे न्यूटन का 'गुरुत्वाकर्षण का नियम', जो स्वय शताब्दियो तक अखण्डित रहा था और पूर्णत सही माना जाता था, इसके द्वारा परिशोधित हुआ था, वैसे ही क्या एक दिन यह (सिद्धान्त) भी परिशोधित नही हो जायेगा?

"इस प्रश्न का उत्तर देने का कोई भी प्रयास हमे दर्शन के गहरे पानी मे उतार देगा तथा आकाश और काल के मौलिक स्वरूप विषयक विचारो को छूनेवाला होगा। यह सदिग्ध है कि कोई भी जीवित मनुष्य आज इस प्रकार की चर्चा मे कोई मूल्यवान् योग दे सके, अत इसका निर्णय तो भविष्य पर ही छोड देना होगा।"[1] इस प्रकार के उद्धरण से यह सम्भावना पुष्ट हो जाती है कि प्रकाश-वेग का उल्लघन अशक्य नही है और यदि यह सम्भावना सत्य सिद्ध हो जाती है तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त जिस नीव पर खडा है, वह नीव ही ढह जाती है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त की सत्यता की कसौटी सम्भवत. तब हो सकेगी, जब स्थूल विश्व (मेक्रोकोस्मोस) के नियमो की समीचीनता सूक्ष्म विश्व (माइक्रोकोस्मोस) मे भी यथावत् सिद्ध हो जायेगी। अब तक सूक्ष्म विश्व विषयक विज्ञान की ज्ञानराशि अत्यधिक अल्प है, ऐसी स्थिति मे वैज्ञानिक नियमो की सत्यता के विषय मे अन्तिम रूप से कुछ भी कहना सम्भव नही माना जा सकता।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' का जहा तक सम्बन्ध है, इसकी प्रायोगिक

---

१. दी एस्टप्लोरेशन ऑफ स्पेस, पृ० १७५।

रहित) आकाश की विद्यमानता को सम्भावित सिद्ध कर दिया। यह नया सिद्धान्त डी सीटर नामक डच ज्योतिर्वैज्ञानिक ने दिया। ऐसे शून्य आकाश को 'डी सीटर का विश्व' कहते हैं।[1]

इस प्रकार जहा आइन्स्टीन का विश्व-आकाश सम्पूर्णतया अवगाहित है, वहा डी सीटर का विश्व-आकाश शून्य है—सम्पूर्णतया अनवगाहित है। जैन दर्शन का लोक-आकाश जहा सम्पूर्णतया अवगाहित है, वहा अलोक-आकाश शून्य है—सम्पूर्णतया अनवगाहित है। इसमे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान के परिवर्तित विश्व-समीकरण मे परिवर्द्धित पद 'अलोक-आकाश' का सूचक है, और मूलभूत पद लोक-आकाश का। आइन्स्टीन का विश्व लोक-आकाश है और डी सीटर का विश्व अलोक-आकाश। इस प्रकार, आइन्स्टीन और डी सीटर के विश्व का सुन्दर समन्वय जैन लोकालोक-आकाश मे हो जाता है।

विश्व की वक्रता के विषय मे विश्व-समीकरण के हल वैज्ञानिको के सामने यह समस्या खडी कर देते हैं कि वक्रता धन है अथवा ऋण ? धन वक्रता वाला विश्व सान्त और बद्ध तथा ऋण वक्रता वाला विश्व अनन्त और खुला पाया जाता है। आइन्स्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है, अतः सान्त और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की सम्भावना भी विश्व-समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और ऋण वक्रता के आधार पर क्रमश 'सान्त और बद्ध' तथा 'अनन्त और खुले' विश्व की सम्भावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश की ऋण मान लेने पर जैन दर्शन का विश्व-सिद्धान्त पुष्ट हो सकता है। इस प्रकार जैन विश्व-सिद्धान्त धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले विश्व-सिद्धान्त का समन्वय है।

श्री जी० आर० जैन आइन्स्टीन के विश्व की जैन-लोक के साथ तुलना करते हुए लिखते है :[2] "आइन्स्टीन के बेलनाकार विश्व-सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आदि भी नही है, अन्त भी नही है। दूसरे शब्दो मे यह 'स्थिर इकाई' है। अब यदि हम विश्व को अनन्त (क्षेत्र की दृष्टि से) मान लेते हैं, तो इसकी 'स्थिरता' सम्भव नही हो सकती। क्योकि वैसी स्थिति मे हम यह सोच सकते हैं कि अनन्त आकाश अनेक विश्वो से भरा हुआ है और इनके आकर्षण के कारण अपना विश्व अनन्त आकाश मे बिखर जाता है। इसलिए

१ देखें, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १२६।

२ कास्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० १२३-१२४।

अपने विश्व की स्थिरता को टिकाने के लिए हमे यह मानना ही पडेगा कि विश्व 'सान्त' है। किन्तु दूसरी ओर गाणितिक समीकरण सान्त विश्व मे पर शून्य आकाश के अस्तित्व को असम्भव बताते हैं। इसलिए सारा आकाश ही 'सान्त' है, जो कि विश्व को भी सान्त बनाता है।

"इस तर्क की अपेक्षा मे जैन दृष्टिकोण अधिक बुद्धिगम्य है। जैन विचारधारा के अनुसार विश्व (लोकाकाश) का स्थैर्य इसलिए बना रहता है कि इससे बाहर गति और स्थिति के माध्यम नही हैं। परिणामस्वरूप, जड–पदार्थ या ऊर्जा इससे बाहर जा ही नही सकते, अर्थात् विश्व की कुल ऊर्जा सदा अचल रह जाती है। दूसरी बात यह है कि जैन दर्शन आकाश को द्रव्य (सत्) मानता है, अत लोकाकाश के परे 'असत्' नही, किन्तु एकमात्र आकाश का ही अस्तित्व होता है। इस प्रकार सभी बाधाए निपुणता से दूर हो जाती हैं।"

आइन्स्टीन के 'विश्व' सम्बन्धी विचारो के पक्ष एव प्रतिपक्ष मे वैज्ञानिको के द्वारा आलोचनाए हुई हैं। इस प्रकार का विश्व, जैसा कि पहले बताया गया, सरलतापूर्वक बुद्धिगम्य नही हो सकता है। कुछ वैज्ञानिको ने उसे यह कह कर 'अकल्पनीय' बताया है कि "यह कल्पना करना असम्भव है कि एक अद्भुत सीमा के बाद 'आकाश' का अस्तित्व न हो और गणितज्ञो के लिए भी सीमित आकाश की कल्पना करना अपनी बुद्धि का दिवाला निकालने के समान हो जाता है।"[1] अन्य प्रसिद्ध लेखको ने इसके सम्बन्ध मे कहा कि "एक मर्यादा से परे 'कुछ नही' होने की विचारधारा स्व-खण्डनात्मक है।"[2]

आइन्स्टीन के सान्त आकाश के सिद्धान्त के प्रतिपक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वह 'रिक्त आकाश' का अस्तित्व स्वीकार नही करता, अत आकाश को सान्त मान लेता है। किन्तु जहा काल के विषय मे वह इस कल्पना को असम्भव बताता है कि एक ऐसा 'क्षण' था, जिससे पूर्व कोई 'क्षण' नही था, वहा 'क्षेत्र' या आकाश के विषय मे भी यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक निश्चित सीमा से परे क्षेत्र न हो?[3]

वैज्ञानिको के द्वारा किये गये इस विरोध का प्रतिरोध भी आइन्स्टीन के सीमित आकाश वाले विश्व-सिद्धान्त के समर्थक वैज्ञानिको ने करने का

---

१. एक्सप्लोरिंग दी युनिवर्स, ले० एच० वार्ड, पृ० १६।
२ फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १८८।
३ दी नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड, पृ० १३७।

आधार पर की गई कसौटी भी पूर्ण नही मानी जाती। स्वय हाइसनवर्ग ने यह स्वीकार किया है—"सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त अब तक भी बहुत सकडी प्रायोगिक आधार शिला पर खडा है और इसलिए इसको विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त की अपेक्षा मे और अधिक अनिश्चित मान लेना चाहिए ... ... ।"[1]

विज्ञान की प्रगतिशीलता से सम्बन्धित अनेको लेखो और पुस्तको मे बहुधा यह व्यक्त किया जाता है कि विज्ञान के भावी प्रयोगभूत के सिद्धान्तो को गलत सिद्ध कर दें तो कोई आश्चर्य नही है। ऐसे ही एक लेख मे रावर्ट सी कावेन ने आइन्स्टीन क आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बारे मे निष्कर्ष रूप मे लिखा था "यद्यपि आपेक्षिकता के सिद्धान्त की प्रायोगिक आधार भूमि पुष्ट होती रही है, फिर भी भौतिक विज्ञान-वेत्ता इस वृहत् सन्दर्भ मे तो यही प्रश्न रखते रहेगे—'क्या आइन्स्टीन सच्चे थे' ?"[2] उस लेख की विस्तृत चर्चा का साराश यही है कि आपेक्षिकता के सिद्धान्त का प्रायोगिक आधार कितना ही दृढ क्यो न हो जाये, उसकी निश्चितता तो सदिग्ध रहेगी। यदि अन्य वैज्ञानिको के इससे सम्बन्धित विचारो को छोड भी दे तो आइन्स्टीन ने स्वय इस बात को स्वीकार करते हुए कहा था : "कितने ही प्रयोग क्यो न कर लिए जायें, मुझे वे कभी भी सत्य सिद्ध नही कर सकते, केवल एक ही प्रयोग मुझे कभी भी असत्य सिद्ध कर देगा।" आइन्स्टीन का यह कथन एक ओर जहा उस महान् वैज्ञानिक की निरभिमानता का द्योतक है, वहा दूसरी ओर भौतिक विज्ञान की अपूर्णता को भी अच्छी तरह प्रकाश मे ला देता है।

उपसहार

समग्र विवेचन के निष्कर्ष मे यही कहा जा सकता है कि प्रथम तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल-सम्बन्धी जिन धारणाओ को उपस्थित करता है, उनकी सत्यता असदिग्ध नही है और दूसरा इसका दार्शनिक प्रतिपादन सर्वसम्मत नही है। कुछ वैज्ञानिको के द्वारा किया गया प्रतिपादन सम्भवत. ईश्वरवादी दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित है तथा स्पष्ट और तर्कसगत भी नही है। आकाश-काल और विश्व की गति-स्थिति-सम्बन्धी समस्याओ को हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धान्त वस्तुत हो आज के

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १११।

२. भारत ज्योति (अग्रेजी साप्ताहिक पत्र), वम्बई ता० ३१ जुलाई १९६० ।

वैज्ञानिको के सामने एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली उपस्थित करते है । यह सही अर्थ मे अस्तित्व का दर्शन है । जैन दर्शन मे निरूपित सिद्धान्त का स्रोत तर्क नही, अपितु अन्त -अनुभूति या विशिष्ट आत्म-ज्ञान है, जिसमे तत्त्व मे प्रत्यक्ष सम्पर्क बनता है । तर्क तो इन सिद्धान्तो को एक कसौटी मात्र बन सकती है । 'वास्तविकता' के पीछे रहे 'क्यो' को हम सम्भवत न तो तर्क के सहारे जान सकते हैं और न भौतिक साधन–प्रसाधन तथा ऐन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जान सकते हैं । प्रो० मार्गेनौ ने वास्तविकता के स्वरूप नामक पुस्तक के अन्तिम पृष्ठो मे लिखा है—"यह निश्चित है कि वास्तविकता का कोई भी कारण (भौतिक अर्थ मे) हो नही सकता । ' ""ऐसे बिन्दु पर जाते ही वैज्ञानिक छुट्टी ले लेता है और अस्तित्व का दार्शनिक सूत्रधार बन जाता है ।"[1]

विश्व का परिमाण और आयु

आइन्स्टीन का विश्व और जैन-लोक

आइन्स्टीन के बेलनाकार विश्व मे आकाश को इस प्रकार वक्र माना गया है कि सम्पूर्ण विश्व एक बद्ध-आकार को धारण करने वाला और 'सान्त' बन जाता है । जैन दर्शन भी लोक-आकाश को वक्र तथा सान्त स्वीकार करता है । लोक-आकाश किस प्रकार से वक्र है, यह तथ्य क्षेत्र-लोक के गाणितिक विवेचन से सुस्पष्ट हो चुका है ।

आइन्स्टीन के विश्व मे समग्र आकाश स्वय सान्त और बद्ध हो जाता है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार आकाश-द्रव्य तो अनन्त है, किन्तु लोक-आकाश सान्त और बद्ध है । अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन दो द्रव्यो की सान्तता और बद्धाकारता के कारण लोक सान्त और बद्धाकार हो जाता है ।

आइन्स्टीन के विश्व मे समग्र आकाश अवगाहित है—भरा हुआ है—रिक्त नही है । आइन्स्टीन के ई० १९१५ के मूलभूत समीकरणो के अनुसार तो अवगाहित पदार्थ के अभाव मे आकाश का अस्तित्व ही नही रह जाता । आइन्स्टीन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए मूलभूत समीकरणो मे एक पद 'विश्व-विज्ञान-सम्बन्धी पद' (कोस्मोलोजीकल टर्म) और जोड दिया । किन्तु इसका परिणाम विपरीत ही आया । अर्थात् इसमे आइन्स्टीन का सिद्धान्त गलत पाया गया । परिवर्तित समीकरणो ने स्पष्टतया शून्य (अनवगाहित–पदार्थ-

---

१. दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटी पृ० ४५८ ।

रहित) आकाश की विद्यमानता को सम्भावित सिद्ध कर दिया। यह नया सिद्धान्त डी सीटर नामक डच ज्योतिर्वैज्ञानिक ने दिया। ऐसे शून्य आकाश को 'डी सीटर का विश्व' कहते हैं।[1]

इस प्रकार जहा आइन्स्टीन का विश्व-आकाश सम्पूर्णतया अवगाहित है, वहा डी सीटर का विश्व-आकाश शून्य है—सम्पूर्णतया अनवगाहित है। जैन दर्शन का लोक-आकाश जहा सम्पूर्णतया अवगाहित है, वहा अलोक-आकाश शून्य है—सम्पूर्णतया अनवगाहित है। इससे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान के परिवर्तित विश्व-समीकरण मे परिवर्द्धित पद 'अलोक-आकाश' का सूचक है, और मूलभूत पद लोक-आकाश का। आइन्स्टीन का विश्व लोक-आकाश है और डी सीटर का विश्व अलोक-आकाश। इस प्रकार, आइन्स्टीन और डी सीटर के विश्व का सुन्दर समन्वय जैन लोकालोक-आकाश मे हो जाता है।

विश्व की वक्रता के विषय मे विश्व-समीकरण के हल वैज्ञानिको के सामने यह समस्या खडी कर देते हैं कि वक्रता धन है अथवा ऋण ? धन वक्रता वाला विश्व सान्त और बद्ध तथा ऋण वक्रता वाला विश्व अनन्त और खुला पाया जाता है। आइन्स्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है, अतः सान्त और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की सम्भावना भी विश्व-समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और ऋण वक्रता के आधार पर क्रमश 'सान्त और बद्ध' तथा 'अनन्त और खुले' विश्व की सम्भावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश की ऋण मान लेने पर जैन दर्शन का विश्व-सिद्धान्त पुष्ट हो सकता है। इस प्रकार जैन विश्व-सिद्धान्त धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले विश्व-सिद्धान्त का समन्वय है।

श्री जी० आर० जैन आइन्स्टीन के विश्व की जैन-लोक के साथ तुलना करते हुए लिखते है :[2] "आइन्स्टीन के बेलनाकार विश्व-सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आदि भी नही है, अन्त भी नही है। दूसरे शब्दो मे यह 'स्थिर इकाई' है। अब यदि हम विश्व को अनन्त (क्षेत्र की दृष्टि से) मान लेते हैं, तो इसकी 'स्थिरता' सम्भव नही हो सकती। क्योकि वैसी स्थिति मे हम यह सोच सकते हैं कि अनन्त आकाश अनेक विश्वो से भरा हुआ है और इनके आकर्षण के कारण अपना विश्व अनन्त आकाश मे बिखर जाता है। इसलिए

१ देखें, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १२६।
२ कास्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० १२३-१२४।

अपने विश्व की स्थिरता को टिकाने के लिए हमे यह मानना ही पडेगा कि विश्व 'सान्त' है। किन्तु दूसरी ओर गाणितिक समीकरण सान्त विश्व म पर शून्य आकाश के अस्तित्व को असम्भव बताते हैं। इसलिए सारा आकाश ही 'सान्त' है, जो कि विश्व को भी सान्त बनाता है।

"इस तर्क की अपेक्षा मे जैन दृष्टिकोण अधिक बुद्धिगम्य है। जैन विचारधारा के अनुसार विश्व (लोकाकाश) का स्थैर्य इसलिए बना रहता है कि इससे बाहर गति और स्थिति के माध्यम नही हैं। परिणामस्वरूप, जड–पदार्थ या ऊर्जा इससे बाहर जा ही नही सकते, अर्थात् विश्व की कुल ऊर्जा सदा अचल रह जाती है। दूसरी बात यह है कि जैन दर्शन आकाश को द्रव्य (सत्) मानता है, अत लोकाकाश के परे 'असत्' नही, किन्तु एकमात्र आकाश का ही अस्तित्व होता है। इस प्रकार सभी बाधाए निपुणता से दूर हो जाती हैं।"

आइन्स्टीन के 'विश्व' सम्बन्धी विचारो के पक्ष एव प्रतिपक्ष मे वैज्ञानिको के द्वारा आलोचनाए हुई हैं। इस प्रकार का विश्व, जैसा कि पहले बताया गया, सरलतापूर्वक बुद्धिगम्य नही हो सकता है। कुछ वैज्ञानिको ने उसे यह कह कर 'अकल्पनीय' बताया है कि "यह कल्पना करना असम्भव है कि एक अद्भुत सीमा के बाद 'आकाश' का अस्तित्व न हो और गणितज्ञो के लिए भी सीमित आकाश की कल्पना करना अपनी बुद्धि का दिवाला निकालने के समान हो जाता है।"[1] अन्य प्रसिद्ध लेखको ने इसके सम्बन्ध मे कहा कि "एक मर्यादा से परे 'कुछ नही' होने की विचारधारा स्व-खण्डनात्मक है।"[2]

आइन्स्टीन के सान्त आकाश के सिद्धान्त के प्रतिपक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वह 'रिक्त आकाश' का अस्तित्व स्वीकार नही करता, अत आकाश को सान्त मान लेता है। किन्तु जहा काल के विषय मे वह इस कल्पना को असम्भव बताता है कि एक ऐसा 'क्षण' था, जिससे पूर्व कोई 'क्षण' नही था, वहा 'क्षेत्र' या आकाश के विषय मे भी यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक निश्चित सीमा से परे क्षेत्र न हो ?[3]

वैज्ञानिको के द्वारा किये गये इस विरोध का प्रतिरोध भी आइन्स्टीन के सीमित आकाश वाले विश्व-सिद्धान्त के समर्थक वैज्ञानिको ने करने का

१ एक्सप्लोरिंग दी युनिवर्स, ले० एच० वार्ड, पृ० १६।
२ फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १८८।
३ दी नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड, पृ० १३७।

प्रयत्न किया है। उनके अनुसार[1], "जो सीमित आकाश का विरोध करते हैं, वे 'सान्त' और सीमित'—इन दोनों के भेद को नहीं समझ पाये हैं। युक्लिडीयेतर भूमिति का आकाश, जिसकी वक्रता घन है, 'सान्त' है अर्थात् वह सुनिश्चित सख्या में घन-माइलों को समाहित करता है (सुनिश्चित वोल्यूम वाला है); किन्तु इसकी कोई सीमा नहीं है। ऐसा कोई स्थान नहीं होता, जहा कि उसका अन्त आ जाता हो और उसकी सीमा से परे कुछ भी न हो। 'सान्तता' और 'सीमितता' के बीच यह जो अन्तर है, वह गणितज्ञ की समझ मे तो आ सकता है, किन्तु अन्य व्यक्तियों के लिए बुद्धिगम्य होना कठिन है। आइन्स्टीन का विश्व युक्लिडीय भूमिति से इसलिए भिन्न हो जाता है कि सीधी रेखा में चलने वाली प्रकाश-किरण पुनः अपने उद्गम स्थान पर पहुच जाती है। इसलिए वस्तुतः तो हम अपनी पीठ को देखने के लिए समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि पीठ मे से निकलने वाली प्रकाश-किरण विश्व की परिक्रमा कर पुनः अपनी आख मे प्रवेश कर सकती है। किन्तु अन्य कुछ कारणों से अपनी पीठ को देखना सम्भव नहीं हो सकता।" जैन दर्शन के विश्व-सिद्धान्त मे प्रकाश किरण वाले प्रश्न का भी समाधान इस प्रकार हो सकता है—सीधी चलने वाली किरण जहा तक लोक की सीमा नहीं आयेगी, वहा तक चलती रहेगी और सीमा पर पहुचने पर धर्मास्तिकाय के अभाव मे आगे नहीं बढ़ेगी; किन्तु परावर्तन के नियमानुसार परावर्तित हो जायेगी।[2]

आकाश किस प्रकार से सान्त होते हुए भी 'सीमित' नहीं होता, इसको समझाने के लिए आइन्स्टीन ने एक उदाहरण दिया है। [3]"एक वर्तुल की परिधि पर रहने वाले ऐसे प्राणियों की कल्पना की जाये, जो केवल एक विमिति का ज्ञान करने मे समर्थ हो। वे आगे पीछे (एक विमिति मे) गति करने मे समर्थ हो, किन्तु दाए-बाए और ऊपर-नीचे गति करने मे असमर्थ हो। अब, यदि वर्तुल अत्यन्त विस्तृत हो अथवा वर्तुल की परिधि पर चक्कर लगाने वाले इन प्राणियों को परिधि के स्थानों का ज्ञान न हो, तो बहुत चक्कर लगाने के बाद, उनको ऐसा लगेगा कि उनका विश्व अनन्त है और केवल एक विमिति

---

१ फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १८८।

२ वस्तुतः जैन आगमों मे 'शब्द' के विषय मे इस प्रकार का प्रतिपादन भी किया गया है कि शब्द के पुद्गल उद्गम-स्थान से चल कर फैलते-फैलते लोक के अन्त तक पहुच सकते हैं। देखें, पन्नवणा सूत्र, पद ११।

३ दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटी, पृ० १६४।

मे फैला हुआ है।

"इन प्राणियो से अधिक योग्यता वाले दूसरे प्राणी, जिनमे दो विमितियो का ज्ञान करने का सामर्थ्य हो, पहले वाले प्राणियो की भूल को अच्छी तरह समझ लेगे। वे उनसे (पहले वाले प्राणियो से) कहेगे कि आपका विश्व सान्त है, किन्तु दो विमितियो मे वक्र है। आप इसका अनुभव नही कर सकते, क्योकि आपका ज्ञान केवल एक विमिति तक सीमित है। स्मरण रहे कि पहले वाले प्राणियो के आकाश से परे दो विमिति वाला आकाश है, अत उनके लिए वह प्राप्य नही है। अब मानो कि दूसरे प्रकार के प्राणी तीन विमिति वाले गोले पर चलते है। वे भी पहले वाले प्राणियो की तरह अपने आकाश को दो विमितियो मे अनन्त मान लेंगे। किन्तु मनुष्य उसे बता सकता है कि यह उनकी भूल है, वस्तुत. उनका आकाश सान्त और तीन विमितियो मे वक्र है।

"इसी तरह कौन कह सकता है कि मनुष्य का त्रिवैमितिक आकाश, जो कि उसको अनन्त अनुभूत हो रहा है, वस्तुत. सान्त और चार विमितियो मे वक्र है ?"

इस उदाहरण के द्वारा आइन्स्टीन ने अपने सिद्धान्त की यह कह कर पुष्टि की है कि मनुष्य का ज्ञान तीन विमितियो तक सीमित है और जैसे एक वैमितिक ज्ञान वालो को और द्वि-वैमितिक ज्ञान वालो को अपना-अपना आकाश अनन्त अनुभूत होता था, किन्तु वस्तुत सान्त और दो विमितियो मे तथा तीन विमितियो मे वक्र था, उसी तरह मनुष्य का आकाश भी सान्त है और चार विमितियो मे वक्र है।

आकाश के सान्त होते हुए भी हम उसकी सीमा को नही पा सकते, इस सिद्धान्त को एक अन्य वैज्ञानिक पोइनकेर ने काफी स्पष्ट किया है। 'सान्त आकाश का क्या अर्थ है? आकाश यदि सान्त है, तो इससे परे क्या है ?' इन प्रश्नो का उत्तर पोइनकेर ने इस प्रकार दिया है [1] "अपना विश्व एक अत्यन्त विस्तृत गोले के समान है और विश्व मे उष्णतामान का विभागीकरण उस प्रकार हुआ है कि गोले के केन्द्र मे उष्णतामान अधिक है और गोले को सतह की ओर क्रमश घटता हुआ विश्व की सीमा (गोले की अन्तिम सतह) पर वह वास्तविक शून्य को प्राप्त होता है। सभी पदार्थो का विस्तार उष्णतामान के

---

१ दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटि, पृ० १६३, १६४, फाउण्डेसन्स ऑफ साईन्स, पृ० ७५।

अनुपात से होता है। अत यदि केन्द्र की ओर से सीमा की ओर हम चलेंगे तो हमारे शरीर का तथा जिन पदार्थों के पास से हम गुजरेंगे, उन पदार्थों का भी विस्तार क्रमश घटना प्रारम्भ हो जायेगा। किन्तु हमें इस परिवर्तन का कोई अनुभव नहीं होगा। यद्यपि हमारा वेग दिखने में वही रहेगा, किन्तु वस्तुतः वह घट जायेगा और हम कभी सीमा तक नहीं पहुंच पायेंगे, अत. यदि केवल 'अनुभव' के आधार पर हम कहे, तो हमारा विश्व अनन्त है, किन्तु वस्तु-वृत्त्या तो हम 'अन्त' को पा नहीं सकते। हमारी पहुंच केवल एक सीमा तक रहेगी। उसके बाद आकाश अवश्य होगा, किन्तु हमारी पहुंच से बाहर होगा।"

इस उदाहरण में पोईनकेर ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि हमारे विश्व के उष्णतामान का विभागीकरण इस प्रकार है कि ज्यो-ज्यो हम सीमा के समीप जाने का प्रयत्न करते हैं, त्यो-त्यो हमारे वेग में और विस्तार में कमी होती रहती है। परिणामत हम सीमा को प्राप्त ही नहीं कर सकते। इस विचार को हम जैन दर्शन की उस उक्ति के समीप मान सकते हैं कि "लोक के सब अन्तिम भागो में 'अबद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट' पुद्गल होते हैं। लोकान्त तक पहुंचते ही सब पुद्गल स्वभाव से ही रूक्ष हो जाते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में सङ्कुटित नहीं हो सकते। इसलिए लोकान्त से आगे पुद्गलों की गति हो ही नहीं सकती। 'यह एक लोक-स्थिति है।"[1] 'रूक्षत्व' परमाणुओं का मूल गुण माना गया है। आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावलि में इसका पर्यायवाची क्या है, यह कहना कठिन है। कुछ प्रमाणों के आधार पर यह एक प्रकार का (ऋण अथवा धन) विद्युत्-आवेश हो ऐसा लगता है।[2] पोईनकेर के अभिमत को यदि जैन-दर्शन में विवेचित सिद्धान्त का केवल शब्दान्तर ही माना जाये, तो 'अबद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट' पुद्गल का अर्थ 'वास्तविक शून्य तापमान वाले' पुद्गल हो सकता है। कुछ भी हो, दोनों उक्तियों के बीच का जो साम्य है, वह स्पष्ट है। पोईनकेर ने आकाश की 'सान्तता' और 'सीमितता' के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उक्त विचार दिया है, जबकि जैन दर्शन ने लोकाकाश की सान्तता और अलोकाकाश में गति-अभाव के कारण

---

१. सव्वेसुवि ण लोगन्तेसु अबद्धपासपुट्ठा पोग्गला लुक्खत्ताते वज्जति जेण जीव त पोग्गला तनो सचायति बहिता लोगन्ता गमणयाते एवप्पेगा लोगट्ठित्ति पण्णत्ता।

—ठाणाग सूत्र, १०-७०४।

२. देखें, जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० ४६।

रूप मे उक्त तथ्य बताया है। इस प्रकार दोनो उक्तियो मे मौलिक भेद भी तो अद्भुत साम्य भी है।

जैन दर्शन के 'लोकालोक' के विश्व-सिद्धान्त मे और आइन्स्टीन के 'सान्त और वक्र विश्व वाले सिद्धान्त' मे सादृश्य अधिक है, वैसदृश्य अल्प। स्थूल रूप इन तीन बातो मे दोनो सिद्धान्तो मे वैसदृश्य लगता है

१ जैन दर्शन समग्र आकाश को अनन्त मानता है, केवल लोकाकाश को सान्त मानता है। आइन्स्टीन का सिद्धान्त समग्र आकाश को सान्त मानता है।

२ जैन दर्शन का आकाश युक्लिडीय भी हो सकता है। आइन्स्टीन का आकाश युक्लिडियेतर है।

३. जैन दर्शन लोकाकाश के आकार को वक्र स्वीकार करता है। आइन्स्टीन का समग्र आकाश वक्र (पारिभाषिक अर्थ मे) है।

इन सब तर्क-वितर्को से हम इतना तो कह सकते है कि जैन दर्शन का लोकाकाश और अलोकाकाश का विश्व सिद्धान्त आइन्स्टीन के 'सान्त किन्तु असीमित' आकाश के विश्व-सिद्धान्त से अधिक बुद्धिगम्य व तर्क-सगत है।

विश्व-सिद्धान्त के दूसरे पहलू काल के विषय में तो आइन्स्टीन का अभिमत और जैन-दर्शन का मन्तव्य परस्पर मे पूर्ण सामजस्य रखते हैं। दोनो ही सिद्धान्त विश्व' को काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त स्वीकार करते हैं। आइन्स्टीन के विश्व मे काल विमिति का अनन्त तक व्याप्त होना और जैन-दर्शन के विश्व-सिद्धान्त मे काल की दृष्टि से लोकालोक का अनादि अनन्त होना, एक ही तथ्य का उच्चारण है। 'काल की दृष्टि से विश्व की शाश्वतता' को प्रतिपादित करने वाले ये दो सिद्धान्त—वैज्ञानिक जगत् मे आइन्स्टीन का सिद्धान्त और दार्शनिक जगत् मे जैन दर्शन का सिद्धान्त—काल की दृष्टि से विश्व को सादि सान्त मानने वाले, अन्य वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तो को एक बडी चुनौती है।

विस्तारमान विश्व और जैन-लोकालोक

आइन्स्टीन के विश्व-सिद्धान्त मे विश्व को स्थिर प्रतिपादित किया गया है। (यहा 'विश्व' से 'आकाश' का तात्पर्य है।) आइन्स्टीन के बाद मे वर्ण-पट-मापक यत्र के द्वारा किये गये निरीक्षणो के आधार पर 'विस्तारमान विश्व' का सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् मे आया है। वर्तमान मे प्रचलित अधिकाश विश्व-सिद्धान्त 'विस्तारमान विश्व-सिद्धान्त' पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनु-

सार 'विश्व-आकाश' विस्तृत हो रहा है। पहले इस सामान्य सिद्धान्त के विषय मे चर्चा करके इस पर आधारित अन्यान्य सिद्धान्तो की चर्चा करना उपयुक्त होगा।

जैन दर्शन के दृष्टिकोण से निम्न कारणो के आधार पर विश्व-आकाश का विस्तार होना सर्वथा असम्भव है

१. आकाश 'अगतिशील' द्रव्य है।

२. आकाश एक अखण्ड द्रव्य है तथा क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त और असीम है। अर्थात् ऐसा कोई भी स्थान नही है, जहा आकाश न हो। ऐसी स्थिति मे आकाश का विस्तार कैसे और कहा हो सकता है ?

३. यदि आकाश को सान्त भी मान लिया जाये, तो भी नाना प्रश्न खडे हो जाते हैं। जैसे—सान्त आकाश के परे क्या है ? यदि 'कुछ' है, तो आकाश से किस प्रकार से भिन्न है और वह 'कुछ' विस्तारमान है या स्थिर ? यदि वह भी विस्तारमान है, तो 'किसमे' विस्तृत हो रहा है ? यदि उससे भी परे अन्य कोई तत्त्व है और उससे परे अन्य कोई तत्त्व, तो इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। यदि वह 'कुछ' स्थिर है, तो आकाश को स्थिर मानने मे क्या आपत्ति है ? दूसरे पक्ष मे यदि सान्त आकाश से परे 'कुछ नही' है तो आकाश का विस्तार किस मे होगा ? क्योकि 'कुछ नही' मे आकाश का विस्तार हो नही सकता। इस प्रकार ये सामान्य तर्क पर आधारित प्रश्न भी सुलझ नही पाते हैं।

सुप्रसिद्ध सोवियत वैज्ञानिक व० मेजेन्तसेव ने लिखा है [१] "लेमेत्रे, एडिंग्टन, मिल्न, बॉंडी और दूसरे बुर्जुआ आदर्शवादी वैज्ञानिक यह बताते हैं कि "लाल स्थानान्तर" से ब्रह्माण्ड के फैलाव के बारे मे पता चलता है जो मानो सीमित नही है, वल्कि उसका सीमावद्ध परिमाण है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी समय अतीत मे ब्रह्माण्ड विल्कुल छोटा था और एक ही 'जनक-परमाणु' से वना था। इस असाधारण ईश्वर रचित 'परमाणु' म सभी ग्रह, तारे और मदाकिनिया मूलरूप मे निहित थी। इसके बाद परमाणविक विस्फोट हुआ और छोटे-से ब्रह्माण्ड को टुकडे-टुकडे कर दिया और 'जनक-परमाणु' के टुकडे अब मदाकिनिया और विभिन्न ज्योतिर्पिण्डो के रूप मे चारो तरफ उडते फिरते हैं। लेमेत्रे और मिल्न ने तो यह भी हिसाव लगा लिया था कि कई लाख करोड साल पहले ऐसा विस्फोट हुआ था और इसा

१. विश्व और परमाणु, पृ० १४३-१४८।

काल को 'विश्वारम्भ' समझना चाहिए।

"ऐसे सिद्धान्तो और सूत्रो का वैज्ञानिक दिवालियापन जाहिर है। वास्तव मे अगर विश्वाकाश सीमित ही होगा, तो आदर्शवादियो द्वारा कथित वह सीमित ब्रह्माण्ड कहा है ?

"लाल स्थानान्तर की प्रकृति की अभी तक सम्पूर्ण व्याख्या नही की गई है। जो भी हो, अगर यह घटना सचमुच ही मदाकिनियों के फैलाव का नतीजा है, तो जहा पदार्थ की विचित्रता का कोई अन्त नही है और न हो सकता है, उस समस्त ब्रह्माण्ड मे इस फैलाव का सम्बन्ध जोडना असम्भव है।"

इसके अतिरिक्त अनेक वैज्ञानिक तर्क, जिनकी चर्चा वैज्ञानिको के शब्दो मे पहले ही हो चुकी है, 'विस्तारमान-विश्व' के सिद्धान्त को अत्यधिक अनिश्चित सिद्ध कर देते हैं।

विस्तारमान विश्व के पक्ष मे यदि कोई भी तर्क है, तो वह यही है कि 'लाल-रेखा मे परिवर्तन' के प्रश्न को सुलझाने के लिए अन्य कोई समाधान नही मिलता। किन्तु क्या यह सोचनीय स्थिति नही है कि 'लाल-रेखा-परिवर्तन' के एक प्रश्न को सुलझाने के लिए विस्तारमान विश्व-सिद्धान्त को मान्यता दी जाये, जिसके मानने पर उपरोक्त अनेक प्रश्न खडे हो जाते है ? अच्छा होगा, यदि 'लाल-रेखा-परिवर्तन' के प्रश्न को हल करने के लिए उसमे सम्बन्धित अन्यान्य प्रक्रियाओ का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जाये और कोई ऐसा समाधान निकाला जाये, जो कि वैज्ञानिक जगत् मे सर्वमान्य हो सके और सामान्यतया उपस्थित होने वाले तर्को को समाधान भी दे सके।

ऊपर दिये गये तर्को के उपरान्त एक तर्क 'विस्तारमान-विश्व-सिद्धान्त' के विरोध मे यह भी हो सकता है कि 'लाल-रेखा-परिवर्तन' की प्रक्रिया को 'दूरस्थ तारापुजो की शीघ्र गति की सूचक' मान लेने पर भी यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि 'विश्व-आकाश' विस्तृत हो रहा है ? क्योकि लाल-रेखा-परिवर्तन' की प्रक्रिया तो केवल 'दूरस्थ तारापुजो की गति की सूचक' है। अर्थात् दूरस्थ तारापुज शीघ्र गति से हम से (पृथ्वी से) दूर हो रहे हैं, न कि दूरस्थ 'आकाश'। इस प्रकार अनुमानित गति यदि आकाश की न मानकर, केवल तारापुजो की मानी जाती है, तो 'विस्तारमान-विश्व' का वर्तमान सिद्धान्त गलत हो जाता है और विश्व-आकाश के 'स्थिरता' का सिद्धान्त स्वीकार्य हो जाता है।

होयल के स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा हम कर चुके हैं। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार निम्न दो बातें हैं

१. विश्व का विस्तार हो रहा है।

२. विश्व मे नया जड उत्पन्न हो रहा है।

इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप ये दो तथ्य सामने आये हैं :

३. विश्व काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है।

४. विश्व-आकाश अनन्त है।

जैन दर्शन का विश्व-सिद्धान्त इस विषय मे निम्न चार तथ्यो को रखता है .

१ आकाश द्रव्य अगतिशील, है, अत विश्व का विस्तार नही हो सकता।

२. असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। विश्व-स्थित द्रव्य की राशि 'अचल' है।

३ विश्व काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है।

४. आकाश-द्रव्य अनन्त है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि षड्-द्रव्य लोकाकाश सान्त है।

स्थायी-अवस्थावान् विश्व सिद्धान्त और जैन दर्शन के विश्व सिद्धान्त की तुलना उक्त चार तथ्यो के आधार पर सरलता से हो सकती है। प्रथम दो वाते, जो कि स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त का आधार हैं, जैन दर्शन स्वीकार नही करता। अन्तिम दो विचारो के विषय मे जैन दर्शन और उक्त सिद्धान्त मे काफी सामजस्य दिखाई देता है। तीसरे तथ्य के विषय मे तो दोनो ही मे सम्पूर्ण ऐक्य है। चौथे तथ्य के निरूपण मे किंचित् भेद है। जैन दर्शन आकाश को अनन्त मानता हुआ भी निवासित आकाश (लोकाकाश) को सान्त मानता है, जबकि स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त अनन्त आकाश मे निवासित-अनिवासित का भेद नही करता।

जैन दर्शन और होयल के सिद्धान्त मे दूसरे तथ्य का निरूपण पूर्व-पश्चिम-सा हुआ है। 'असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति' का निरूपण अत्यन्त अतार्किक और अकल्पनीय प्रतीत होता है। आन्वीक्षिकी मे यह एक सुप्रसिद्ध और सुप्रमाणित सत्य स्वीकार किया गया है कि असत् से किसी भी सत् पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती। किसी भी सत् पदार्थ की उत्पत्ति का उपादान कारण 'सत्' ही होगा, चाहे वह किसी भी रूप मे हो। यही वात लिंकन बारनेट ने 'विश्व की आदि' प्रकरण के अन्त में कही है, जिसकी चर्चा हम कर चुके है।[1]

---

१. देखें, पृ० ६७।

'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' के 'नये जड की उत्पत्ति' का निरूपण न केवल तर्क के आधार पर खण्डित होता है, अपितु वैज्ञानिक जगत् मे सबसे अधिक मान्य और समस्त भौतिक विज्ञान का मूल आधार द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा के नियम' के आधार पर भी गलत हो जाता है, क्योंकि उक्त निरूपण इस नियम से नितान्त ही विरुद्ध है। इस नियम का प्रतिपादन है कि "विश्व-स्थित जड और शक्ति की सयुक्त राशि अविनाशी और शाश्वत है। इसलिए जहा कहीं और जब कभी भी वह नष्ट होती है अथवा उत्पन्न होती देखी जाती है, वहा वह न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न। केवल एक परिवर्तन लेती हुई दूसरे रूप मे प्रकट हो जाती है। पर उस परिवर्तन मे उसकी मात्रा ज्यो की त्यो स्थित रहती है।"[1] इस प्रकार जहा वैज्ञानिक जगत् का मूलभूत सिद्धान्त 'नये जड की उत्पत्ति' का सर्वथा निषेध करता है, वहा 'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' नये जड की उत्पत्ति प्रतिक्षण हो रही है—इस परिकल्पना को लेकर चल रहा है। इसका मतलब यह होता है कि यदि 'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' का उक्त निरूपण सही मान लिया जाये, तो 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा के नियम' को तिलाजलि देनी पडेगी, जो कि किसी भी वैज्ञानिक को मान्य नही हो सकता।

जो प्रतिपादन वैज्ञानिक जगत् मे 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' करता है, वही प्रतिपादन जैन दर्शन मे 'परिणामी-नित्यत्ववाद' करता है। बल्कि यह कहना अधिक सम्यक् होगा कि 'परिणामी-नित्यत्ववाद' का क्षेत्र उससे भी अधिक विस्तृत है। क्योंकि 'परिणामी-नित्यत्ववाद' वही प्रतिपादन सभी 'द्रव्यो' के लिए करता है, जबकि उक्त वैज्ञानिक नियम का प्रतिपादन केवल 'जड' तक सीमित है। जैसे कि बताया जा चुका, 'परिणामी-नित्यत्ववाद' प्रत्येक द्रव्य को—सत्मात्र को द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुव और पर्याय की अपेक्षा से परिणमनशील—उत्पत्ति और विनाश युक्त स्वीकार करता है; अत: इस सिद्धान्त को मानने वाला जैन दर्शन असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति कभी भी स्वीकार नही कर सकता। **नासदुत्पादः**[2] यह जैन दर्शन का मौलिक प्रतिपादन है। अत स्थायी-अवस्थावान् विश्व का 'नये जड की उत्पत्ति' का निरूपण जैन दर्शन के आधार पर भी गलत सिद्ध होता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'नये जड की उत्पत्ति' का निरूपण न

---

१. देखें, **थीसिस ओन एनर्जी**, लेखक एल० ए० कोर्न्डिग।

२. **श्रीभिक्षु न्यायकर्णिका**, ७–५।

तो सामान्य तर्क विद्या से सगत है, न वैज्ञानिक जगत् के मूलभूत सिद्धान्त से मेल खाता है और न जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त के आधार पर सही उतरता है। इसके अतिरिक्त, इस निरूपण के विषय मे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' के प्रतिपादक 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना इसलिए करते है कि यदि यह परिकल्पना नही की जाती है, तो 'विस्तारवान विश्व' की प्रहेलिका का समाधान नहीं हो सकता। उनका कहना है कि "विश्व-विस्तार से आकाश मे जो रिक्तता होती है, वह हमारे अनुभव मे नहीं आती, अत हमे यह मानना होगा कि विश्व मे नया जड उत्पन्न हो रहा है, जो कि उस रिक्तता को पुन भर देता है।" इस प्रकार नये जड की उत्पत्ति की परिकल्पना विश्व-विस्तार की उपधारणा पर आधारित है। किन्तु विश्व-विस्तार की प्रक्रिया स्वय ही न तो अब तक सुप्रमाणित है और न इसके विषय मे वैज्ञानिको का मतैक्य है। इस प्रकार केवल एक अर्ध-प्रमाणित और विवादास्पद उपधारणा को प्रमाणित करने के लिए स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' के प्रतिपादकों को 'नये जड की उत्पत्ति' की आश्चर्य-जनक परिकल्पना करनी पडती है। इस तथ्य को दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये, तो यह प्रतीत होता है कि 'विश्व-विस्तार' का सिद्धान्त ऐसा है कि जो 'शश-शृंगवत्' इस 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना के बिना समझा नहीं जा सकता। वस्तुत तो शश-शृंग जैसी उक्त परिकल्पनाओ को जन्म देने वाला 'विश्व-विस्तार' का सिद्धान्त ही है। अत 'विश्व-विस्तार' के सिद्धान्त को मानने का अर्थ हो जाता है, उक्त प्रकार की असत् परिकल्पनाओ को जन्म देना।

इस सिद्धान्त के प्रवर्तको के द्वारा एक अन्य हास्यास्पद तर्क उपस्थित किया जाता है कि[1] "यह सत्य है कि 'नया जड प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहा है,' यह सुझाव 'द्रव्य की सुरक्षा के नियम' के साथ सगत नही है। किन्तु उत्पन्न होने वाली नये जड की राशि का अनुपात प्रति दश खरब ($१०^{१२}$) वर्षो मे, प्रति एक लीटर (१००० घन सेण्टीमीटर) क्षेत्र मे एक उद्जन अणु का है, अत व्यवहार मे उपयोगी किसी भी निरीक्षण के ऊपर इसका असर नही होता। केवल उसके दीर्घ-बहिर्वेश (एक्स्ट्रीम एक्स्ट्राप्लोटेशन)[2] पर इसका प्रभाव

१ दी युनिटी ऑफ दी युनिवर्स, पृ० १३३।

२ बाह्य गणना या बहिर्वेश का अर्थ होता है, जिस राशि का मूल्य दूसरी राशि पर आधारित हो, उस राशि का ज्ञात मूल्यो की मर्यादाओ मे बाहर मूल्य निकालने के लिए आनुमानिक गणना करना। जैसे कोई राशि 'क' है,

पडता है।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'नये जड की उत्पत्ति' को स्वीकार करने से जो असगतता द्रव्य-सुरक्षा के नियम के साथ होती है, वह अति स्वल्प मात्रा मे है और व्यवहार मे उपेक्षणीय मानी जा सकती है। इस प्रकार यह कथन 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना की द्रव्य-सुरक्षा के नियम के साथ रही हुई असगतता को तो स्वीकार कर ही लेता है। अब व्यवहार मे उसको 'उपेक्षणीय' मानना भी उपयुक्त नही होगा। क्योकि स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' विश्व को अनादि स्वीकार करता है। अनादि काल की अपेक्षा मे दश खरब वर्ष 'उपेक्षणीय' हो जाते हैं। वस्तुत तो अनन्त-अनन्त बार 'दश खरब वर्ष' बीत चुके हैं। अत 'नये जड की उत्पत्ति' का अनुपात उक्त कथन के अनुसार लिया जाये, तो भी अनादि विश्व मे अनन्त-अनन्त उद्जन-अणुओ की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। इसको हम किस प्रकार उपेक्षणीय मान सकते है ?

यदि अनन्त आकाश को विस्तारमान नही माना जाये, तो आकाश को अनन्त मानने से आकाश का घनफल भी अनन्त लीटर मान सकते हैं। किन्तु काल-प्रवाह के साथ उत्पन्न होने वाले उद्जन अणुओ की सख्या अनन्त-अनन्त हो जाती है और बढती ही रहती है, जबकि आकाश का घनफल स्थिर रहता है। इसका परिणाम यह होना चाहिए था कि विश्व की घनता भी अनन्त उद्जन-अणु प्रति लीटर हो जाती। किन्तु यह प्रत्यक्ष निरीक्षणो के साथ सगत नही है, अत यह सिद्ध हो जाता है कि 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना विश्व-विस्तार-सिद्धान्त के आधार से ही टिकी हुई है। किन्तु 'स्थायी अवस्था-वान् विश्व-सिद्धान्त' आकाश को विस्तारमान भी स्वीकार करता है और अनन्त भी। यह वस्तुत. अचिन्त्य है कि अनन्त का विस्तार कैसे हो सकता है ? दूसर पक्ष मे यदि विस्तारमान विश्व को सान्त मान लिया जाता है, तो भी सगत नही होता। क्योकि नये उत्पन्न-अणुओ की सख्या अनन्त-अनन्त हो जाती है, जबकि विश्व का घनफल 'सान्त' लीटर ही रह जाता है। इस प्रकार पुनः विश्व की घनता का अनन्त उद्जन-अणु प्रति लीटर हो जाना प्रत्यक्ष निरीक्षणो से सगत नही होता है। इस प्रकार, विश्व-आकाश को विस्तारमान मानने से न तो उसको अनन्त मान सकते हैं और न सान्त। तीसरा कोई विकल्प हो

जिसका मूल्य राशि 'ख' के मूल्य पर आधारित है। (गाणितिक सज्ञा मे क = फ (ख)) क' का मूल्य 'ख'$_1$ और 'ख'$_2$ के बीच ज्ञात है। अब, यदि ख$_1$ और ख$_2$ की मर्यादा से बाहर 'क' का मूल्य निकालना हो तो अनुमान के आधार पर निकाला जा सकता है और उसी को 'बहिर्वेश' कहते है।

नही सकता। अतः विश्व-विस्तार का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाता है और यदि विश्व-विस्तार का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाता है, तो 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना की आवश्यकता ही नही रहती।

इस समग्र तार्किक विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' का तीसरा और चौथा निरूपण गलत है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के निरूपणो के विरुद्ध वैज्ञानिको के द्वारा जो प्रमाण दिये गये हैं, उनकी चर्चा हम कर चुके हैं। इनमे विशेषतः उल्लेखनीय विचार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० ज्योर्ज गेमो के हैं और आधुनिकतम आलोचना प्रो० मार्टीन रीले की है। इस प्रकार 'स्थायी-अवस्थावान्' विश्व-सिद्धान्त दर्शन एव विज्ञान की कसौटी पर अब तक तो सर्वथा सदिग्ध ही रहा है। इस सिद्धान्त के निरूपक यदि 'लाल-रेखा-परिवर्तन' की प्रक्रिया को कोई अन्य वैज्ञानिक आधार पर समझाने का प्रयत्न करे, तो न तो उन्हे 'विस्तारमान विश्व' को मान्यता देने की कोई आवश्यकता रहे और न 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना की। ऐसी स्थिति मे इस सिद्धान्त का जो रूप बनता है, वह जैन दर्शन के विश्व-सिद्धान्त से अधिक मात्रा मे अभिन्न नही रह जाता।

आरोह-अवरोहशील विश्व और अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी

'काल-प्रवाह के साथ विश्व-प्रक्रियाओ मे आरोह-अवरोह आते रहते है'—यह निरूपण वैज्ञानिको के द्वारा 'स्वत. सचालित कम्पनशील विश्व', 'अति-परिवलीय विश्व' और 'चक्रीय विश्व' के सिद्धान्तो के रूप मे किस प्रकार किया गया है, इसका विवेचन विश्व को अनादि-अनन्त मानने वाले विश्व सिद्धान्तो की चर्चा के अन्तर्गत किया जा चुका है। दूसरी ओर जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र का सिद्धान्त इसी तथ्य का निरूपण किस प्रकार से करता है, यह भी बताया जा चुका है। इनमे परस्पर कहा तक समानता हो सकती है, इसकी चर्चा भी सरस और उपयोगी होगी।

स्वत. सचालित कम्पनशील विश्व की कल्पना विश्व-विस्तार के सिद्धान्त पर आधारित है; अत जैन दर्शन का जो मतभेद विश्व-आकाश के विषय मे 'विस्तारमान विश्व-सिद्धान्त' के साथ है, वह इसके साथ भी स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। परन्तु काल के दृष्टिकोण से विश्व के निरूपण के विषय मे यह सिद्धान्त और जैन दर्शन एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं। दोनो ही विश्व के अस्तित्व को अनादि-अनन्त स्वीकार करते हैं और काल-प्रवाह के साथ विश्व के आरोह-अवरोह का प्रतिपादन भी करते हैं। किन्तु यह प्रति-

पादन विश्व के भिन्न-भिन्न पहलुओ के विषय मे है । स्वत. संचालित कम्पन-शील विश्व-सिद्धान्त 'विश्व-आकाश मे सङ्कोच और विस्तार' के रूप मे आरोह-अवरोह की कल्पना करता है, जबकि जैन दर्शन अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र के रूप मे 'समय क्षेत्र' की कुछ प्राकृतिक प्रक्रियाओं के विषय मे यह निरूपण करता है । इस प्रकार यह साम्य केवल औपचारिक हो जाता है ।

प्रस्तुत सिद्धान्त के विषय मे ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि 'विस्तारमान विश्व' की समीक्षा के अन्त मे जिस सुझाव का उल्लेख किया गया था, वह सुझाव इस सिद्धान्त के विषय मे अधिक सरलता के साथ कार्यान्वित हो सकता है । जैसे कि वहां[1] बताया गया था—लाल-रेखा-परिवर्तन की प्रक्रिया केवल तारापुञ्जो की गति की सूचिका है, आकाश के विस्तार की नही । अब, प्रो० टोलमेन का 'स्वत संचालित कम्पनशील विश्व' का प्रतिपादन 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना पर आधारित है । यदि उक्त सुझाव को स्वीकार कर लिया जाये, तो इस परिकल्पना की आवश्यकता नही रहती और परिणामस्वरूप जितनी भी समस्याएं इस परिकल्पना के स्वीकार करने से जन्म लेती हैं, वे स्वय ही समाप्त हो जाती हैं, अत प्रस्तुत सिद्धान्त और उक्त सुझाव के सयुक्त आधार पर कहा जा सकता है कि विश्व-आकाश स्थित तारापुञ्ज काल-प्रवाह के साथ एक-दूसरे से दूर और समीप गति करते रहते हैं, जब ये तारापुञ्ज काल-प्रवाह के साथ एक-दूसरे से दूर या निकट होते हैं, तब लाल-रेखा मे तदनुरूप परिवर्तन आता रहता है । वर्तमान काल मे ये एक-दूसरे से दूर हो रहे है, इसलिए हम लाल-रेखा की कम्पन-आवृत्ति मे कमी होते देख रहे हैं । भविष्य मे जब इनकी वर्तमान विरोधी गति उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेगी, तब ये एक-दूसरे के निकट होना प्रारम्भ कर देंगे और लाल-रेखा का परिवर्तन वर्तमान मे निरीक्षित परिवर्तन से विपरीत होगा अर्थात् लाल-रेखा की कम्पन-आवृत्ति मे वृद्धि होगी । जब इनका निकट होना उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त होगा, तब पुन ये दूर होना प्रारम्भ कर देंगे । इस प्रकार काल-प्रवाह के साथ तारापुञ्जो की गति की दिशा बदलती रहेगी और परिणामस्वरूप तारापुञ्ज दूर और निकट होते रहेगे । परन्तु इन गतियो का (दूर और निकट होने का) विश्व-आकाश पर कोई गति-सम्बन्धी प्रभाव नही पडेगा अर्थात् किसी भी स्थिति मे विश्व-आकाश तो अगतिशील ही रहेगा और

१. देखें पृ० २०६ ।

अपने वर्तमान कद को चाहे वह सान्त हो या अनन्त, अचल रख लेगा।

यह प्रतिपादन हमने केवल मूलभूत विश्व-समीकरण के फ्रीडमान द्वारा दिये गये एक प्रकार के हल पर आधारित 'स्वतः सञ्चालित कम्पनशील विश्व' सिद्धान्त तथा सामान्य तर्क पर आधारित उक्त सुझाव के संयुक्त आधार पर किया है। इस प्रतिपादन को जैन दर्शन का समर्थन कहा तक प्राप्त हो सकता है, इसके विषय मे भी चिन्तन करना चाहिए। यह प्रतिपादन अगतिशील, स्थिर कद वाले आकाश के निष्कर्ष पर हमे पहुचाता है। इस दृष्टिकोण से जैन दर्शन का समर्थन इसे प्राप्त हो जाता है। किन्तु तारापुञ्जो की गति वास्तविक है या नही, इसके विषय मे जैन दर्शन के आधार पर कुछ भी कहना सभव नही है।

आइन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की समानता' के नियम पर आधारित चक्रीय विश्व-सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा मे हमने देखा कि किस प्रकार यह सिद्धान्त विश्व को निर्माण और ध्वस के अनन्त चक्रो मे से गुजरने वाला किन्तु शाश्वत घोषित करता है। वैज्ञानिक जगत् मे यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धान्त के साथ अधिकतम सामञ्जस्य रखता है। 'चक्रीय विश्व-सिद्धान्त' और 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का सिद्धान्त' स्थूल रूप से एक ही तथ्य का निरूपण करते हैं कि विश्व की प्रक्रियाओ मे काल-प्रवाह के साथ निर्माण और ध्वस क्रमश होता रहता है और इन चक्रो के चलते रहने पर भी विश्व का अस्तित्व अनादि अनन्त है। दोनो सिद्धान्तो की सूक्ष्म दृष्टि से तुलना करना वर्तमान मे सम्भव नही है, क्योकि जैन दर्शन मे 'कालचक्रो' की काल-गणना जिन मानो[1] मे हुई है, उनका व्यवहारिक गणित मे परिवर्तन करना कठिन है। दूसरी ओर चक्रीय विश्व-सिद्धान्त जिस रूप मे ध्वस और निर्माण की कल्पना करता है, वह अति स्थूल है। उसका व्यवहारिक जगत की प्रक्रियाओ के साथ सम्बन्ध नही है; जबकि जैन दर्शन मे अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी' द्वारा व्यवहारिक प्रक्रियाओ मे आने वाले आरोह-अवरोहो का चित्रण किया गया है।

'चक्रीय विश्व-सिद्धान्त' के विषय मे निम्न दो बाते उल्लेखनीय हैं:

१. यह सिद्धान्त जिन परिकल्पनाओ पर आधारित है, (जिनका सक्षिप्त विवेचन हम कर चुके है) वे ठोस प्रायोगिक और सैद्धान्तिक आधार पर निर्मित हैं।

---

१. देखें, परिशिष्ट—२।

२. इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विश्व का केवल काल की दृष्टि से ही निरूपण किया गया है, अत विश्व-आकाश विस्तारमान है या स्थिर, इसके विषय मे यह सिद्धान्त कुछ भी नही कहता।

अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त और स्वतः सञ्चालित कम्पनशील विश्व-सिद्धान्त मे केवल इतना ही अन्तर है कि अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त विश्व को काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त मानता हुआ भी उसमे केवल एक सकोच-विस्तार की कल्पना करता है, जबकि स्वतः सञ्चालित कम्पनशील विश्व मे अनन्त सकोच-विस्तार की कल्पना की गई है, अत स्वतः सञ्चालित कम्पनशील विश्व के साथ जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-सिद्धान्त का जितना सादृश्य था, उतना इस सिद्धान्त के साथ नही है।

डॉ० ज्योर्ज गेमो का 'उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त' भी 'अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त' पर आधारित है। यद्यपि डॉ० गेमो के सिद्धान्त की चर्चा 'सादि विश्व-सिद्धान्तो' के अन्तर्गत की जाती है, फिर भी वस्तुतः तो 'अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त' पर आधारित होने के कारण डॉ० गेमो द्वारा प्रतिपादित 'उद्विकासी विश्व' भी काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त हो ही जाता है। इस तथ्य की पुष्टि डॉ० गेमो के शब्दो मे ही हम देख चुके हैं। इस प्रकार काल की दृष्टि से शाश्वत होने का कारण डॉ० गेमो का 'उद्विकासी विश्व' जैन दर्शन के शाश्वत विश्व के साथ सामञ्जस्य रखता है। किन्तु इससे अधिक इनमे कोई सादृश्य नही है।

जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-सिद्धान्त और उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त मे एक विलक्षण वैसदृश्य दिखाई देता है। जैन दर्शन के अनुसार वर्तमान काल अवसर्पिणी कालचक्र के अन्त के समीप का है। अर्थात् वर्तमान काल से लगभग ३९५०० वर्ष पश्चात् उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होगा, जबकि उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान युग विस्तार-काल के आरम्भ का है। अर्थात् लगभग ५० करोड वर्ष पूर्व ही विश्व का सकोच काल समाप्त हुआ था। इस प्रकार प्रथम जहा विश्व को 'अवरोह' के अन्त के समीप मानता है, वहा दूसरा 'आरोह' के प्रारम्भ के समीप स्वीकार करता है।

डॉ० गेमो ने 'उद्विकासी-विश्व' के प्रतिपादन मे एक मनोरजक कल्पना की है। सिकुडते हुए और विस्तृत होते हुए विश्व मे काल-प्रवाह के साथ विश्व की अन्य प्रक्रियाओ पर क्या प्रभाव रहा होगा, इस विषय का निरूपण करते हुए डा० गेमो लिखते हैं : [1]"जब विश्व सिकुड रहा था, तब क्या विश्व

१ वन, टू, थ्री" इनफिनिटी, पृ० ३३५।

की सभी प्रक्रियाएं उल्टे क्रम से चलती थी ? यह प्रश्न हम अपनी कल्पना के बल पर अपने आपको पूछ सकते हैं। इसने आगे यह कल्पना भी कर सकते हैं कि क्या साठ से अस्सी करोड वर्ष पूर्व आप यह पुस्तक उल्टे क्रम से—अन्तिम पृष्ठ से प्रारम्भ कर आदि पृष्ठ की ओर पढ रहे थे ? अथवा कल्पना को इससे भी आगे दौडाने पर यह प्रश्न भी हो सकता है कि क्या उस समय मनुष्य अपने मुंह मे से पकाई हुई मुर्गी निकाल कर, अपने रसोईघर मे उसमे जीवन डालकर उसे बाहर खेत मे भेजा करते थे; जहा वे मुर्गिया वृद्धावस्था मे युवावस्था और युवावस्था से बाल-अवस्था को प्राप्त होती हुई अन्त मे अण्डे का स्वरूप धारण कर लेती थी ? ... इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर केवल वैज्ञानिक आधार पर नही दिया जा सकता। क्योकि जब विश्व सिकुडता-सिकुडता उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ था, तब विश्व-स्थित समस्त जड-राशि केवल एक छोटे से अणु के भीतर समाहित हो गई थी और इस प्रक्रिया के कारण सकोचमान-विश्व मे 'कौन-सी क्रिया किस रूप मे होती थी ?' इसका सारा इतिहास ध्वस्त हो गया।"

डा० गेमो द्वारा किये गये इस निरूपण की समीक्षा जैन दर्शन के 'कालचक्रीय-सिद्धान्त' के आलोक मे करने मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक की विचित्र कल्पनाओ का और प्रश्नो का समाधान सहज रूप से मिलना सम्भव हो सकता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे प्रकृति की प्रक्रिया का आरोह-अवरोह किस प्रकार होता है, इसका सक्षिप्त विवेचन हम कर चुके हैं। इसके आधार पर डा० गेमो के प्रश्नो का उत्तर यही है कि प्रकृति की प्रक्रियाओ के उलटने का अर्थ 'पुस्तक को अन्त से शुरू कर आदि तक पढना' और 'मुह से मुर्गी निकाल कर मुर्गी का ह्रास होकर अण्डे मे प्रविष्ट होना' आदि नही है। किन्तु उसका अर्थ होता है—पुद्गल के वर्ण गन्ध, रस और स्पर्श—इन मूल गुणो की पर्यायो मे हानि-वृद्धि होना और इसके परिणामस्वरूप ही मनुष्यो के आयुष्य, ऊंचाई[1], अस्थि-सख्या आदि जीवन से सम्बन्धित प्रक्रियाओ मे अवसर्पिणी

---

१ जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धान्त मे प्राणियो की ऊंचाई आदि का जो निरूपण किया गया है, उसकी पुष्टि कुछ एक आधुनिक वैज्ञानिक खोजो द्वारा हुई है। एक पुरातत्त्व अन्वेषक-युगल डॉ० लूई लीके और श्रीमती मेरी लीके ने पूर्व अफ्रीका के टागानिका मे आज से २० लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य एव पशुओ के कुछ अवशेषो की खोज की है। उनके अनुसार उस युग मे रहने वाली भेड के सीग १५ फीट लम्बे थे तथा एक पक्षी की लम्बाई दो मंजिल मकान

काल मे उत्तरोत्तर ह्रास और उत्सर्पिणी काल मे उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

इस प्रकार प्रकृति के ह्रास-विकास की प्रहेलिका को सुलझाने के लिये जहा एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक चित्र-विचित्र कल्पनाएं करता है, वहा जैन दर्शन सुस्पष्ट विवेचन के द्वारा उसका समुचित समाधान करता है।

डॉ० गेमो के सिद्धान्त के विषय मे ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :

१. डॉ० गेमो का सिद्धान्त काल की अनन्तता को स्वीकार करता है, फिर भी केवल एक ही सकोच-विस्तार का प्रतिपादन करता है।

२ स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त के निरूपको ने डॉ० गेमो के सिद्धान्त को अति सदिग्ध बताया है और इसके विरोध मे अनेक प्रमाण[1] उपस्थित किये हैं।

सादि विश्व-सिद्धान्त और जैन दर्शन

'विश्व का निश्चित प्रारम्भ' मानने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तो मे मुख्य तीन भेद हैं·

१. एबे लेमेत्रे का सिद्धान्त।

२. प्रो० मार्टीन रीले का सिद्धान्त।

३ अन्य सिद्धान्त।

इन सिद्धान्तो की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। सादि-विश्व-सिद्धान्तो के विषय मे एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्या ये सिद्धान्त 'विश्व' के अस्तित्व मात्र को 'सादि' स्वीकार करते हैं, अथवा 'विश्व' की वर्तमान या विशेष अवस्था को ? यदि वे केवल विश्व की वर्तमान या विशेष अवस्था का 'आरम्भ' स्वीकार करते हैं, तो यह स्वय स्वीकृत हो जाता है कि विश्व का अस्तित्व तो अनादि है ही, केवल विश्व की अवस्था का परिवर्तन कोई निश्चित काल पूर्व हुआ था। ऐसी स्थिति मे जैन दर्शन के साथ इन सिद्धान्तो का अधिक वैषम्य नही रह जाता। किन्तु यदि वे विश्व के अस्तित्व मात्र के ही आरम्भ का प्रतिपादन करते हैं, तो जैन दर्शन के अनुसार वह तर्क-सगत नही होता।

जितनी थी, जिसके अण्डे 'बार्उलिंग' गेंद से भी बडे होने चाहिए। देखें, रीडर्स डाइजेस्ट, अप्रेल १९६४ मे दी मेन ऑफ टू मिलियन्स ईयर्स एगो एण्ड हिज ह्यूज एनिमल कम्पेनियन्स शीर्षक लेख।

१ ये प्रमाण अधिक मात्रा मे पारिभाषिक होने के कारण यहा नही दिये जाते हैं। इसके लिए देखें, दी युनिवर्स, पृ० ८५, ८६।

डा० ज्योर्ज गेमो और एब्रे लेमेत्रे के सिद्धान्त परस्पर मे बहुत साम्य रखते हैं, अतः जैन दर्शन का जो दृष्टिकोण डा० गेमो के सिद्धान्त के विषय मे है, वही प्राय लेमेत्रे के सिद्धान्त के विषय मे है। किन्तु जहा डा० गेमो का सिद्धान्त अतिपरवलीय विश्व को स्वीकार करता हुआ 'अनादि विश्व' की कल्पनाओ को लेकर चलता है, वहा लेमेत्रे का सिद्धान्त विश्व का निश्चित प्रारम्भ स्वीकार करता है। इसके अनुसार विश्व का प्रारम्भ एक अत्यन्त अद्भुत 'अणु' मे से हुआ था, जबकि डा० गेमो विश्व की प्रारम्भिक अवस्था को स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार डा० गेमो का सिद्धान्त जैन दर्शन के दृष्टिकोण से अधिक साम्य रखता है।

एबे लेमेत्रे के सिद्धान्त के विरोध मे जैन दर्शन वही तर्क उपस्थित करता है कि जिस अद्भुत अणु मे से विश्व का जन्म हुआ, उस अणु का अस्तित्व अनादि है या सादि ? यदि उसको अनादि माना जाये, तो 'विश्व' भी अनादि हो जाता है। यदि उसको 'सादि' माना जाये, तो उसका उपादान कारण कुछ और मानना पडेगा। अब चू कि असत् उपादान से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती, अत. उस अणु का उपादान कारण भी सत् होना चाहिए। इसको यदि सादि माना जाये तो उसी प्रकार उपादान कारणो की परम्परा चलने पर 'अनवस्था-दोष' उत्पन्न हो जाता है, अत. कही-न-कही 'अनादि-उपादान' स्वीकार करना ही पडता है, जो विश्व को मूलत· अनादि बना देता है।

दूसरी बात जो एबे लेमेत्रे के सिद्धान्त के विषय मे विवेच्य है, वह है 'विस्तारमान विश्व' की 'विस्तारमान विश्व' के विषय मे जैन दर्शन का जो दृष्टिकोण है, वही एबे लेमेत्रे के विश्व के विषय मे हो जाता है।

वैज्ञानिको के द्वारा दिये गये सिद्धान्तो मे से नव्यतम सिद्धान्त प्रो० मार्टीन रीले ने सन् १९६१ मे दिया था और इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा साहित्य की उपलब्धि के अभाव मे नही की जा सकती। प्रो० रीले और एबे लेमेत्रे के सिद्धान्त मे क्या अन्तर है, यह भी अभी तक उपलब्ध साहित्य के द्वारा नही पाया गया है। प्रो० रीले ने 'विश्व की आदि और अन्त है' इस सिद्धान्त का निरूपण किया है, अत. स्थूल रूप से जो तर्क सादि विश्व-सिद्धान्त के विषय मे दी गई थी और सान्त विश्व-सिद्धान्त के बारे मे दी जायेगी, वह प्रो० रीले के सिद्धान्त के विषय मे भी दी जा सकती है।

'विश्व की निश्चित आदि है' यह प्रतिपादन विज्ञान की अन्यान्य शाखाओ

के विद्वानो ने भी किया है। इनमे से एक सिद्धान्त जो 'रेडियो-क्रिया तत्त्वो' को घडी के रूप मे काम मे लेता है, विशेषतः उल्लेखनीय है। नवीनतम अनुमानो के अनुसार पृथ्वी पर उपलब्ध रेडियो-क्रिया तत्त्व ५० करोड वर्ष पूर्व अस्तित्व मे आए थे। इसके आधार पर यह निरूपण किया गया कि 'विश्व' की आयु ५० करोड वर्ष है।

इसके विषय मे निम्न दो तथ्य मननीय हैं

१. रेडियो-क्रिया के आधार पर काल का जो अनुमान लगाया जाता है, वह केवल यही सूचित करता है कि 'पृथ्वी पर उपलब्ध रेडियो-क्रिया तत्त्व ५० करोड वर्ष पूर्व अस्तित्व मे आये थे, किन्तु इसके आधार पर यह मान लेना कि समग्र पृथ्वी और अखिल विश्व का प्रारम्भ भी ५० करोड वर्ष पूर्व हुआ था, कहा तक तर्क-सगत हो सकता है ? प्रथम तो यह निश्चितता पूर्वक नही कहा सकता कि ५० करोड वर्ष पूर्व इन रेडियो-क्रिया तत्त्वो का अस्तित्व ही नही था। हो सकता है कि ५० करोड वर्ष पूर्व इनके अणुओ का जो रचना-क्रम था, वह इनके वर्तमान रचना-क्रम से अत्यन्त ही भिन्न हो। किन्तु इसका अर्थ यह नही हो सकता कि ये तत्त्व 'अस्तित्व' मे ही नही थे। इसके विषय मे तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी वर्तमान अवस्था का अस्तित्व ५० करोड वर्ष पुराना है। दूसरा तर्क यह है कि यदि इन तत्त्वो का अस्तित्व केवल ५० करोड वर्ष प्राचीन मान भी लिया जाये, फिर भी 'पृथ्वी के अन्य तत्त्वो का अस्तित्व और समग्र विश्व का अस्तित्व भी केवल उतना ही प्राचीन है,' यह किसी भी आधार पर नही कहा जा सकता।[1]

२ प्रो मिलन[2] ने रेडियो-क्रिया पर आधारित काल-गणना और पृथ्वी की गति पर आधारित काल-गणना मे महत्त्वपूर्ण अन्तर बताया है। इन दोनो काल-गणनाओ मे जो सम्बन्ध है, उसको इस प्रकार बताया जा सकता है

---

१. अभी-अभी प्रकाशित एक वैज्ञानिक लेख मे पश्चिम आस्ट्रेलिया के सूक्ष्म जीव विज्ञानविद् डा० जोह्न पेरेन्ट ने आस्ट्रेलिया के पर्वतीय तत्त्वो के अन्वेषण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी पर जीव का प्रारम्भ कम-से-कम २,७००,०००,००० (दो अरब सात करोड) वर्ष पूर्व हुआ था। विस्तृत चर्चा के लिए देखें, **स्टेट्समैन** (कलकत्ता-सस्करण) दैनिक पत्र, ता० १६ मई, १९६४।

२ देखे, **फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन**, पृ० ४३, ४४।

$$क' = क_0 \text{ लघु} \frac{क}{क_0} + क_0$$

जहां क = रेडियो-क्रिया पर आधारित काल-गणना मान।

क'=पृथ्वी की गति पर आधारित काल-गणना मान।

$क_0$='क' का वर्तमान मे मापा गया मूल्य, जो कि ४×१०⁹ वर्ष हैं।

इस समीकरण मे सहसा पता लग सकता है कि केवल वर्तमान मे क'=क है, किन्तु भूतकाल मे अधिक दूरस्थ काल-गणना के मान समान नही हैं। इसके आधार पर यह सिद्ध हो सकता है कि 'रेडियो-क्रिया' पर आधारित काल-गणना मान 'क' की अपेक्षा से तो विश्व की आदि निश्चित है, परन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से देखने पर तो इस काल को प्राप्त करने के लिए अनन्त 'क' मानो की आवश्यकता हो जाती है; अत. उसका वस्तुतः प्राप्त होना सभव नही है अर्थात् 'विश्व अनादि है'।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रेडियो-क्रिया' पर आधारित सिद्धान्त वस्तुतः तो 'अनादि विश्व' को ही प्रतिपादित करता है।

सान्त विश्व-सिद्धान्त और जैन दृष्टिकोण

'विश्व के अस्तित्व का एक समय अन्त आ जायेगा'—इस सिद्धान्त का निरूपण मुख्यत' उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम पर आधारित है। 'जब विश्व-स्थित अ न्ट्रोपी अपनी उत्कृष्टतम स्थिति को प्राप्त कर लेगी, तब विश्व की सभी प्रक्रियाएं स्थगित हो जायेंगी,' यह सिद्धान्त हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के विषय मे निम्न छ बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक है :

१. इस सिद्धान्त के अनुसार "विश्व-स्थित जड राशि (शक्ति रूप एव द्रव्य रूप) शून्य आकाश मे विलीन हो रही है।" इस निरूपण का अर्थ होता है कि विश्व की जड-राशि का नाश हो रहा है, किन्तु 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा के नियम' के अनुसार विश्व की जड-राशि शाश्वत काल के लिए अचल रहती है। इस प्रकार उक्त सिद्धान्त इस नियम के साथ असगत है। 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' विज्ञान का मूलभूत आधार माना गया है, अत. इसके विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्त को मान्यता देने का अर्थ होता है—विज्ञान-वृक्ष की जड को ही उखाड़ डालना। जैन दर्शन के 'परिणामी नित्यत्व-वाद' के दृष्टिकोण से भी यह निरूपण सम्यग् नही लगता। जिस प्रकार 'स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' का निरूपण 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का

नियम' और 'परिणामी-नित्यत्ववाद' के प्रतिकूल प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार यह सिद्धान्त भी। किन्तु जहा 'स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' 'नये जड की उत्पत्ति' की परिकल्पना करता है, वहां यह सिद्धान्त 'विश्व-स्थित जड के नाश' का निरूपण करता है। दूसरे शब्दो मे अपने अभिमत को पुष्ट करने के लिए 'स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त' के निरूपक नया जड उत्पन्न कर रहे है और इस सिद्धान्त के निरूपक 'विद्यमान जड का नाश'। हो सकता है, यदि इन दोनो सिद्धान्तो का परस्पर एकीकरण[1] कर दिया जाये, तो न तो नये जड की उत्पत्ति की आवश्यकता रहेगी और न विद्यमान जड के नाश की।

२ दूसरी ध्यान देने योग्य बात है—इस विषय मे सर जेम्स जीन्स का सुझाव। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सर जेम्स जीन्स के अनुसार, "यह सर्वथा कल्पनीय है कि विशेष प्रकार की आकाशीय स्थिति मे उष्णता-गति-विज्ञान का यह (दूसरा) नियम सही न हो।"[2] यह सुझाव यदि सही हो, तो उष्णता गति-विज्ञान के दूसरे नियम का प्रतिपादन विश्व के केवल सीमित क्षेत्रो मे ही कार्यक्षम हो सकता है। परिणामस्वरूप, इस सीमित क्षेत्र को छोड कर अन्य क्षेत्रो मे 'अन्त्रापी' की स्थिति भिन्न रूप से शक्य हो

---

१. एडिंग्टन ने 'विस्तारमान विश्व' और 'उष्णता-गति-विज्ञान' के अनुसार नाशमान विश्व के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे लिखा है. "जिस प्रकार उष्णता-गति-विज्ञान के अनुसार केवल एक ही दिशा मे नाश की ओर विश्व की गति हो रही है, उसी प्रकार 'विस्तारमान-विश्व-सिद्धान्त' के अनुसार केवल एक ही दिशा मे विस्तार की ओर विश्व की गति हो रही है, अत इन दो सिद्धान्तो मे परस्पर-सम्बन्ध की कल्पना करना स्वाभाविक है। किन्तु अब तक इसके बीच किसी सम्बन्ध की खोज नही हो पाई है।" (देखे, दी एक्स्पाण्डिग युनिवर्स, पृ० १२३)।

इसके अतिरिक्त कैलिफोर्निया के प्रो० टोलमेन का 'स्वत सचालित कम्पनशील विश्व' का सिद्धान्त भी 'विस्तारमान विश्व-सिद्धान्त' और 'उष्णता-गति-विज्ञान' के दूसरे नियम पर आधारित 'सान्त विश्व-सिद्धान्त' का सम्बन्ध बताता है। प्रो० टोलमेन ने 'सकोच और विस्तार' के क्रमश चक्रो की परिकल्पना कर 'विश्व की समाप्ति' की उक्त नियम पर आधारित परिकल्पना का निराकरण किया है। (देखे, फ्रोम युक्लिड टु एडिंग्टन, पृ० ४६)।

२. दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १३३।

जाती है और 'विश्व का अन्त है' यह निरूपण गलत हो जाता है। उक्त सुझाव का सही होना भी बहुत कुछ सम्भाव्य है। क्योंकि विज्ञान और गणित के क्षेत्रों में बहुधा ऐसा हुआ करता है कि विशेष प्रकार की स्थितियों में इनके नियमों की सत्यता टिक नहीं पाती, जैसे कि गुरुत्व-क्षेत्र में युक्लिडीय भूमिति के नियम कार्यक्षम नहीं होते।

इसी तथ्य का स्पष्ट निरूपण एडिंग्टन के शब्दों में इस प्रकार मिलता है [1] "वैज्ञानिक दर्शन में यह साधारणतया माना हुआ तथ्य है कि प्रकृति के नियमों [2] द्वारा किसी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन नहीं होता; केवल हमारे सीमित अनुभव में आने वाली प्रक्रियाओं के लिए ही उनका सत्य होना सम्भव है। इससे आगे 'ये सर्वदा और सर्वत्र सत्य हैं'—ऐसा विधान करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।"

३. तीसरा महत्त्वपूर्ण तर्क उक्त सिद्धान्त के विरोध में यह है कि उष्णता-गति-विज्ञान का दूसरा नियम स्वयं कहा तक प्रमाणित है, यह चर्चास्पद विषय है। इसके विषय में कहा गया है कि [3] "यह नियम वस्तुत: सत्य नहीं है, किन्तु केवल 'अति सम्भाव्य' है। इसकी अवस्था सन्दिग्ध है। ..... "अतः इसकी प्रामाणिकता के विषय में भी 'अति सम्भावना' की बात हो जाती है। ... इस नियम के अनुसार—यदि यांत्रिकी (मिकेनिक्स) के नियम सही हों, तो ये सम्भावनाएं हो सकती हैं।" इस प्रकार उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम के विषय में जहां सन्दिग्धता का स्थान है, वहां उस पर आधारित सान्त विश्व सिद्धान्त की स्थिति सहज रूप से सन्दिग्ध हो जाती है।

४. इस सिद्धान्त की सन्दिग्धता का चौथा प्रमाण है—'उष्णता गति-विज्ञान' के प्राचीन असापेक्षवादी (नॉन-रिलेटीविस्टीक) निरूपण और नवीन सापेक्षवादी निरूपण का वैषम्य। उष्णता-गति विज्ञान के दूसरे नियम पर आधारित सान्त विश्व-सिद्धान्त के विषय में चर्चा करते हुए व्हीट्टाकर लिखते

---

१. देखें, दी फिलोसोफी ऑफ दी फिज़िकल साईन्स, पृ० १९।

२. प्रायोगिक निरीक्षणों पर आधारित तथ्यों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर हम जो निष्कर्षों का सामान्यीकरण करते हैं, वे 'प्रकृति के नियम' कहलाते हैं। वही, पृ० १३।

३. इसके पूर्ण विवरण के लिए देखें, दी नेचर ऑफ दी फिज़िकल रियलिटी पृ० २१६ से २१८।

हैं : [1] "फिर भी यह नही कहा जा सकता कि यह तथ्य अनिश्चितता से सर्वथा मुक्त है। 'अति सम्भाव्य' होने पर भी निर्विवाद रूप से इसकी स्थापना नही हुई है। इसका कारण यह है कि यह पूर्णतया असापेक्षवादी उष्णता-गति विज्ञान पर आधारित है। जबकि सापेक्षवादी उष्णता-गति विज्ञान जो कि अब सही माना जा रहा है, असापेक्षवादी उष्णता-गति-विज्ञान से काफी भिन्न है। ...... यह सरल उदाहरण बताता है कि विश्व के विषय मे सामान्य रूप से निरूपण करते समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि यहा पर असापेक्षवादी उष्णता-गति-विज्ञान के नियम का उपयोग न करते हुए 'केलिफोर्निया इन्स्टीट्युट आफ टेक्नोलोजी के प्रो० टोलमेन द्वारा सशोधित नियमो का उपयोग होना चाहिए। प्रो०टोलमेन ने यह सिद्ध किया है कि कुछ परिस्थितियो मे विश्व, चाहे वह विस्तीर्यमाण हो या सकुच्यमान, प्रतिगमन कर सकता है और इस प्रकार असापेक्षवादी उष्णता-गति-विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित 'अन्तिम उष्णता-मृत्यु' से बच सकता है। इससे यह लगता है कि 'विश्व की भवितव्यता' के विषय मे किये गये निर्णय मे एक सूक्ष्म छिद्र का अवकाश रह जाता है।" सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक के इन शब्दो मे इस सिद्धान्त की सन्दिग्धता का स्पष्ट चित्रण हुआ है।

५. प्रस्तुत सिद्धान्त का ठोस विरोध विश्व के पुनर्निर्माण की कल्पना पर आधारित 'चक्रीय-विश्व-सिद्धान्त' ने किया है। इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा एव समीक्षा की जा चुकी है। स्मरण रहे कि यह सिद्धान्त विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा के नियम' और जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त 'परिणामी नित्यत्ववाद' के अनुकूल है।

६. क्या सान्त विश्व-सिद्धान्त वस्तुतः ही विश्व के 'अस्तित्व' का अन्त प्रतिपादित करता है? यह प्रश्न इस सिद्धान्त की वास्तविकता पर प्रकाश डाल सकता है। वस्तुत तो यह सिद्धान्त केवल इतना ही प्रतिपादन करता है कि एक निश्चित समय के बाद विश्व-स्थित अन्त्रोपी उत्कृष्टतम स्थिति को प्राप्त कर लेगी। किन्तु उस अवस्था मे विश्व के 'अस्तित्व' का भी नाश हो जायेगा, यह किस प्रकार कहा जा सकता है? इसका स्पष्टीकरण एडिंग्टन के शब्दो मे मिल सकता है : [2] "जिस समय विश्व सम्पूर्ण अव्यवस्था (उष्णता-गति-सतुलन)

---

१. फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० ४६।

२. न्यू पाथवेज़ इन साईन्स, पृ० ६२-६३।

की स्थिति को प्राप्त होगा, उसके बाद भी अनन्त काल तक उसका अस्तित्व रहेगा और उसमे स्थित पदार्थों को सभी प्रकार की स्थितियो को प्राप्त करने का पुन अवसर मिलेगा। काफी समय पश्चात् विश्व के परमाणु सम्भावना के नियमो के अनुसार उसी प्रकार व्यवस्थित रूप मे होगे, जिस प्रकार वर्तमान मे है। "यह स्थिति उस समय होगी, जब कोई एक दिन अति असम्भावित अवसर आयेगा और विश्व-स्थित 'अन्त्रोपी' का मूल्य उत्कृष्टतम मूल्य से काफी नीचे गिर जायेगा '' ''''। ऐसा परिवर्तन तब आयेगा, जबकि विश्व 'उष्णता-गति-सतुलन' की स्थिति से बहुत दूर की स्थिति को प्राप्त होगा, जैसे कि वर्तमान मे है।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की उत्कृष्टतम अन्त्रोपी वाली दशा मे भी न केवल विश्व का अस्तित्व बना रहेगा, किन्तु उसके पुर्ननिर्माण की सम्भावना भी रह जायेगी। यद्यपि एडिंग्टन ने इस सम्भावना को अति अल्प' माना है और इसकी उपेक्षा भी की है [1], फिर भी कुछ वैज्ञानिको का यह प्रतिपादन कि 'उस स्थिति मे काल स्वय समाप्ति को प्राप्त होगा'[2] गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान के प्राय. सभी सिद्धान्त—चक्रीय विश्व-सिद्धान्त, स्वत सञ्चालित कम्पनशील विश्व-सिद्धान्त, स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त, उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त—विश्व की काल विमिति को अनादि-अनन्त स्वीकार करते हैं; जैन दर्शन भी यही प्रतिपादन करता है। इस प्रकार ये सभी सिद्धान्त इस सिद्धान्त के विरोध मे है। यदि उक्त सिद्धान्त को सही मान लिया जाये, तो भी वह 'विश्व की वर्तमान व्यवस्थित अवस्था का अन्त आ जायेगा'—इस रूप तक ही सीमित रह जाता है। 'विश्व-अस्तित्व का अन्त' या 'विश्व के काल-विमिति का अन्त'—इस प्रकार का प्रतिपादन उक्त सिद्धान्त से फलित नही होता।

वैज्ञानिक जगत् मे तथा वास्तविकता की दृष्टि से 'सान्त विश्व-सिद्धान्त' का स्थान कितना सदिग्ध है, यह इन छ बातो के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष का नवनीत

पिछले पृष्ठो मे विज्ञान-जगत् के प्राचीन से अर्वाचीन युग तक के अधिकारी विद्वानो के और प्राग ऐतिहासिक जैन दर्शन के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्तो

---

१ देखें, वही पृ० ६४ से ७१।

२. दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १११।

का मन्थन किया गया। प्रत्येक पाठक अपनी तटस्थ भावना से इसका नवनीत निकालने के लिए स्वतन्त्र है, फिर भी यह आशा की जाती है कि निम्नलिखित तथ्य सुझाव के रूप मे उन्हे सहायक हो सकते है।

१. वर्तमान मे विज्ञान-जगत् मे विश्व-सम्बन्धी एक भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है, जो निर्विवादतया सबके द्वारा स्वीकृत हो। वैज्ञानिको के लिये 'विश्व' अब तक भी प्रहेलिका बना हुआ है। जैन दर्शन एक सर्वांगीण और व्यवस्थित विश्व-सिद्धान्त, इस प्रहेलिका के समाधान के रूप मे प्रस्तुत करता है।

२. विज्ञान-जगत् मे 'आकाश' और 'विश्व' के बीच मे कोई अन्तर नही है। इसके परिमाण के विषय मे दो मत हैं :

१. विश्व (आकाश) सान्त है।
२. विश्व (आकाश) अनन्त है।

जैन दर्शन विश्व और आकाश को सर्वथा एक नही मानता। 'विश्व' को 'आकाश' का एक भाग मानता है। इसके अनुसार :

१. आकाश (सम्पूर्ण) अनन्त है।
२. विश्व (लोकाकाश) सान्त है।
३. अलोकाकाश अनन्त है।[1]

३. 'विश्व सान्त है या अनन्त ?'—प्रहेलिका के इस पहलू को सुलझाने के लिए वैज्ञानिक 'आकाश की वक्रता' की कल्पना करते है।

जैन दर्शन इसका समाधान—(१) ऋण-घन ईथर और (२) आकाश के विभागीकरण के निरूपण से करता है।

४. 'विस्तारमान विश्व' का सिद्धान्त यद्यपि विज्ञान-जगत् मे अधिक से अधिक मान्यता प्राप्त हो रहा है, फिर भी इसका स्थान 'असदिग्ध' नही है।

जैन दर्शन विश्व-विस्तार को सर्वथा असम्भव निरूपित करता है।

५. विज्ञान-जगत् के अधिकाश सिद्धान्त और जैन दर्शन, प्रहेलिका के 'विश्व की आयु क्या है' इस पहलू का यही समाधान प्रस्तुत करते है कि विश्व

---

१. इसको साकेतिक रूप मे इस प्रकार लिखा जा सकता है
आकाश=लोक+अलोक
आकाश—अनन्त
लोक—सान्त
अलोक—अनन्त

काल की दृष्टि से आदि-रहित और अन्त-रहित है।

६ वैज्ञानिको का चक्रीय विश्व-सिद्धान्त और जैन दर्शन का 'काल-चक्र' का सिद्धान्त परस्पर अधिक साम्य रखते हैं।

७ भौतिक विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' और जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त 'परिणामी-नित्यत्ववाद' एक ही तथ्य का उच्चारण करते है कि अनन्त परिणमनो के होते हुए भी 'पदार्थ' शाश्वत है।

आज के वैज्ञानिक विश्व-प्रहेलिका को सुलझाने के लिए तत्पर हैं, फिर भी आशावान् नही है कि निकट समय मे वे इन गुत्थियो को सुलझा पायेंगे। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के विश्व-सिद्धान्त की तर्क-सगतता आज के वैज्ञानिको को प्रभावित करने वाली सिद्ध होगी। उनके लिए यह लाभदायक होगा कि विश्व-सम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त को मान्यता देने मे पूर्व जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित तथ्यो का स्मरण रखे। निम्न तथ्य विशेषत: ध्यातव्य हैं

१ आकाश एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, किन्तु पुद्गल (मैटर) से भिन्न है।

२. आकाश लोक और अलोक के रूप मे विभाजित है।

३ विश्व (लोकाकाश) का आकार 'त्रिशरावसम्पुट' होने के कारण वक्रतायुक्त है।

४ विश्व का कद (वाल्युम) किसी भी रूप मे $१०^{१०^{१९६}}$ घन माइलो से कम नही है।

५. अलोकाकाश अनन्त है। वह रिक्त होते हुए भी असत् (अवास्तविक) नही है।

६ लोकाकाश मे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य-(रियलिटी) है, जो कि गति और स्थिति के असाधारण माध्यम हैं। अलोकाकाश मे इनका अभाव होने से वहा कोई अन्य द्रव्य न तो है और न जा सकता है।

७ आकाश-द्रव्य अगतिशील है।

८. सभी पदार्थ (सत्) द्रव्यत्व की अपेक्षा से शाश्वत-अनादि—अनन्त है, अत विश्व भी शाश्वत है।

९. विश्व के विशेष क्षेत्रो मे उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी कालचक्र का प्रवर्तन होने से प्रकृति की प्रक्रियाओ मे आरोह–अवरोह होते रहते हैं।

अस्तु, आज के इस यन्त्र-प्रधान युग मे, दीर्घकाय दूरवीक्षणयत्र[1] (टेलिस्कॉप), रेडियो–दूरवीक्षणयत्र, सूक्ष्मवीक्षण यत्र (माइक्रोस्कोप), वर्ण–पट मापक यत्र (स्पेक्ट्रोमीटर) आदि यथार्थतम मापने वाले यन्त्रो से सुसज्जित वैधशालाओ एव प्रयोगशालाओ के होते हुए भी यदि वैज्ञानिक विश्व-प्रहेलिका को नही सुलझा पाये हैं, तो उस युग मे जबकि इन साधनो का सर्वथा अभाव था, जैन दार्शनिको ने किस प्रकार 'विश्व' का अध्ययन किया—न केवल अध्ययन अपितु 'विश्व की सान्तता', 'आकाश और काल की अनन्तता', 'गति-स्थिति माध्यमो (ईथरो) की वास्तविकता' विश्व का निश्चित परिमाण और आकार, पदार्थ के परिणामी-नित्यत्व धर्म, कालचक्र के प्रवर्तन के साथ प्रकृति के परिवर्तन आदि तथ्यो का विवेचनपूर्वक और असीम निश्चलता से किस प्रकार प्रतिपादन किया, यही प्रश्न जिज्ञासाशील मनुष्य को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की छोटी तलैया से निकाल कर आत्म-प्रत्यक्ष के लहलहाते महासागर की ओर झाकने को उत्कण्ठित कर देता है।



---

१ माउण्ट विलसन की वैधशाला मे ६० इंच और माउण्ट पैलोमेर की वेधशाला में २०० इच की दीर्घता के काच से युक्त दूरवीक्षण यंत्र का उपयोग होता है।

: १ :

परिशिष्ट

जैन दर्शन के क्षेत्र-मान

जैन दर्शन के क्षेत्र-मान[1] जहा अति सूक्ष्म जगत् मे 'परमाणु' से प्रारम्भ होते हैं, वहा अति स्थूल जगत् मे 'रज्जु' तक चले जाते हैं। पुद्गल-द्रव्य के अन्तिम अविभाज्य अश को 'परमाणु' कहते हैं। एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, उतने क्षेत्र को 'प्रदेश' कहते हैं। इस प्रकार प्रदेश त्रिविम-आकाश (थ्री-डाईमेन्शनल स्पेस) की इकाई है। दूसरे शब्दो मे प्रदेश 'वास्तविक भौमितिक विन्दु' (ट्रू-ज्योमेट्रिकल पोइट) है। अति सूक्ष्मता के कारण परमाणु असव्यवहार्य हो जाता है। इसलिए 'व्यवहारिक परमाणु'[2] नाम का दूसरा मान स्थापित किया गया है। यह अनन्त परमाणुओ का बना हुआ 'स्कन्ध' है। अनन्त व्यवहारिक परमाणुओ का (अर्थात् अनन्तानन्त परमाणुओ का) एक प्रसिद्ध 'स्कन्ध' 'उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका'[3] बनता है। यह मान दूरत्व की व्यवहार्य इकाई के रूप मे है।

व्यवहारिक मानो का कोष्ठक निम्न प्रकार है

८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	= १	श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका[4]
८ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	= १	ऊर्ध्व रेणु[5]
८ ऊर्ध्वरेणु	= १	त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	= १	रथरेणु
८ रथरेणु	= १	देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के[6] मनुष्य वालाग्र

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, काल अधिकार, अनुयोगद्वार सूत्र, उन्मान-प्रमाण विषय, लोकप्रकाश, सर्ग १, श्लोक २१ से ६७, तिलोयपण्णत्ती, सर्ग १, गाथा ६५ से ११६ के आधार से।

२. तिलोयपण्णत्ती मे व्यवहारिक परमाणु का उल्लेख नही है।

३. ति० प० मे इसके स्थान मे उवसन्नासन्न स्कन्ध और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र मे 'उण्ण श्रेणिया' ये नाम प्रयुक्त हुए हैं।

४. ति० प० मे इसके स्थान मे सन्नासन्न स्कन्ध और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र मे 'शीत श्रेणिया' ये नाम मिलते हैं।

५. ति० प० मे 'त्रुटि रेणु' है।

६. ति० प० मे 'उत्तम-भोग भूमि' है।

८ देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र	=	१ हरिवर्ष–रम्यक्वर्ष क्षेत्र[1] के मनुष्य के वालाग्र
८ हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र	=	१ हेमवत्-एरण्यवत्[2] क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र
८ हेमवत्-एरण्यवत् क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र	=	१ पूर्वविदेह-अपरविदेह[3] क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र
८ पूर्वविदेह-अपरविदेह क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र	=	१ भरत-ऐरावत[3] क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र
८ भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य के वालाग्र	=	१ लीक्षा
८ लीक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यवमध्य[4]
८ यवमध्य	=	१ उत्सेध अंगुल
(१००० उत्सेध[5] अंगुल	=	१ प्रमाण अंगुल)
६ अंगुल	=	१ पाद
२ पाद	=	१ वितस्ति
२ वितस्ति	=	१ हाथ
२ हाथ	=	१ कुक्षि (रिक्कु)
२ कुक्षि	=	१ धनुष
२००० धनुष	=	१ कोश

१ ति० प० मे 'मध्यम भोग भूमि' है।

२ ति० प० मे 'जघन्य भोग भूमि' है।

३ ति० प० मे दो के स्थान मे एक ही नाम 'कर्मभूमि' है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र वृत्ति मे दो के स्थान मे भी एक ही नाम 'पूर्व-पश्चिम विदेह' के वालाग्र है।

४ ति० प० मे 'यव' है।

५ ति० प० मे ५०० उत्सेध अगुल है।

४ कोश	=	१ योजन
असख्य योजन	=	१ रज्जु
७ रज्जु	=	१ जगश्रेणी[1]

जैन दर्शन के इन क्षेत्र-मानो का अन्य प्राचीन तथा आधुनिक क्षेत्र-मानो के साथ क्या सम्बन्ध है, यह जानना भी आवश्यक और उपयोगी होगा। प्राचीन जैनेतर ग्रन्थो मे भी क्षेत्र-मानो की तालिका मिलती है। ऐसी एक तालिका बौद्ध ग्रन्थ ललित-विस्तर[2] मे है, जिसको यहा पर उद्धृत किया जाता है :

७ परमाणु-रज	=	१ रेणु
७ रेणु	=	१ त्रुटि
७ त्रुटि	=	१ वातायन-रज
७ वातायन-रज	=	१ शश-रज
७ शश-रज	=	१ एडक-रज
७ एडक-रज	=	१ गो-रज
७ गो-रज	=	१ लिक्षा-रज
७ लिक्षा-रज	=	१ सर्षप
७ सर्षप	=	१ यव
७ यव	=	१ अगुली-पर्व
१२ अगुली-पर्व	=	१ वितस्ति
२ वितस्ति	=	१ हस्त
४ हस्त	=	१ धनु
१००० धनु	=	१ कोश
४ कोश	=	१ योजन

इन मानो की जैन मानो के साथ तुलना करने मे इनके बीच रहे हुए साम्य और वैषम्य का पता सहसा ही लग सकता है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अगुली-पर्व से लेकर योजन तक के मानो मे धनु-कोष के सम्बन्ध को छोडकर सम्पूर्ण साम्य है। जैन मानो मे जहा २००० धनुष का १

१. श्वेताम्बर-परम्परा मे 'जगश्रेणी' नाम नही है, किन्तु कुछ स्थानो मे 'अभ्राश श्रेणी' है—देखे, लोकप्रकाश, १२-१३६।

२. देखे, ललित विस्तर, आर० मित्र द्वारा सपादित, पृ० १६८।

कोश माना गया है, वहा बौद्ध मानो मे १००० धनु का एक कोश स्वीकार किया गया है अर्थात् जैन मानो के अनुसार १ कोश के १९२००० अगुल होते है, जबकि बौद्ध मानो के अनुसार ९६००० अगुली-पर्व होते है। अर्थात् जैन मान दो अगुल का बौद्ध मान १ अगुली-पर्व होता है ।

बौद्ध-मानो का आधुनिक मानो के साथ जो सम्बन्ध उपलब्ध होता है, उसके आधार पर जैन मानो का आधुनिक मानो के साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। एक मान्यता के अनुसार[1]

१ परमाणु रज = १.३ × ७⁻¹⁰ इच

है अर्थात्

एक अगुली-पर्व = १.३ इच

होता है। अर्थात्

जैन मान १ अगुल = ६५ इच

होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर

१ योजन=७ ८८ माइल होते है।

यदि अ ुली-पव और इ च के सम्बन्ध मे दो दशमलव स्थान तक का मूल्य निकाला जाए, तो—

१ अगुली-पर्व=१.३२ इ च

अर्थात् १ अगुल=०.६६ इ च

और १ योजन=८.०० माइल होते हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार भी[2] एक कोश के दो माइल होते हैं। उत्सेध अगुल से निष्पन्न योजन के ८ माइल होते है।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार प्रमाणागुल उत्सेधागुल से १००० गुना है और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार प्रमाणागुल उत्सेधागुल से ५०० गुना है; अत श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार—

प्रमाणागुल-निष्पन्न योजन=८००० माइल

दिगम्बर मान्यता के अनुसार—

प्रमाणागुल-निष्पन्न योजन=४००० माइल

---

१ देखे, हिन्दू गणित-शास्त्र का इतिहास, ले० डॉ० विभूतिभूषण दत्त और डॉ० अवधेशनारायण सिह, (हिन्दी सस्करण), पृ० १७७।

२ देखें, कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ११७।

उत्सेधागुल और देवकुरु–उत्तरकुरुक्षेत्र के मनुष्यों के बालाग्रों का सम्बन्ध काल-गणना मे उपयोगी है। श्वेताम्बर–परम्परा के अनुसार—

१ उत्सेध-आगुल[1] $= ८^{७}$ देवकुरु–उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यो का बालाग्र

और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार—

१ उत्सेध-आगुल $= ८^{७}$ उत्तम भोग भूमि के बालाग्र

होते हैं। ऊपर दिये गये मान 'एक-विम' माप हैं। दो-विम मानो मे दो मापों के नाम मिलते हैं[2]

१ प्रतरागुल $=$ (सूची-अगुल)^{२}

१ जग प्रतर $=$ (जग-श्रेणी)^{२}

त्रि-विम मानो मे श्वेताम्बर-परम्परा मे चार मापों के नाम दिये गए है[3]

१. खंडूक रज्जु के चतुर्थांश दैर्घ्य वाले घन चतुरस्र (क्यूब) को खडूक कहते है। १ खडूक के $\frac{१}{६४}$ घन रज्जु होते हैं।

२ सूची रज्जु श्रेणीबद्ध रहे हुए चार खण्डूक को सूची रज्जु कहते है। अर्थात् क्रमश १ रज्जु, $\frac{१}{४}$ रज्जु, $\frac{१}{४}$ रज्जु दैर्घ्य बाहुल्य और ऊचाई वाले आयत चतुरस्र को सूची रज्जु कहते हैं।

१ सूची रज्जु=४ खण्डूक।

अथवा १ सूची रज्जु=$\frac{१}{१६}$ घन रज्जु।

३ प्रतर रज्जु प्रतरबद्ध रहे हुए चार सूची रज्जु को 'प्रतर रज्जु' कहते हैं।

अर्थात् क्रमश. १ रज्जु, १ रज्जु, $\frac{१}{४}$ रज्जु दैर्घ्य बाहुल्य और ऊंचाई वाले आयत चतुरस्र (क्यूबोईड) को प्रतर रज्जु कहा जाता है।

१ प्रतर रज्जु=४ सूची रज्जु
=१६ खण्डूक
=$\frac{१}{४}$ घन रज्जु

---

१ यह अभिप्राय जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति के अनुसार है और इसका उपयोग ही पल्योपम की गणना करने के लिए लोकप्रकाश मे किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार यहा $८^{८}$ होने चाहिए।

२ तिलोयपण्णत्ती, १-१३२।

३ लोकप्रकाश, १२-१५, १०५, १०६।

४. **घन रज्जु :** घन चतुरस्राकार मे रहे हुए चार प्रतर रज्जु को घन रज्जु कहते हैं। अर्थात् १ रज्जु दैर्घ्य वाले घन चतुरस्र को घन रज्जु कहते हैं।

१ घन रज्जु=४ प्रतर रज्जु।
=१६ सूची रज्जु।
=६४ खण्डूक।

त्रि–विम मापो मे दिगम्बर परम्परा मे दो मापो के नाम मिलते हैं।[1]

१ घनागुल=(सूची अगुल)^3।
१ घनलोक=(जगश्रेणी)^3।



१. तिलोयपण्णत्ती, १-१३२।

: २ :

रिशिष्ट

जैन दर्शन के काल-मान

जैन दर्शन मे काल-गणना के मान तीन भागो में विभक्त हैं

१. सख्यात काल-मान

२. असख्यात काल-मान

३. अनन्त काल-मान

'समय' से लेकर 'शीर्ष प्रहेलिका' तक का काल 'सख्यात काल-मान' है। पल्योपम, सागरोपम आदि 'असख्यत काल-मान' और पुद्गल-परावर्तन आदि अनन्त काल-मान हैं।

प्रस्तुत पुस्तक मे स्थान-स्थान पर संख्यात तथा असख्यात काल-मानों का प्रयोग हुआ है, अत यहा पर इनकी विस्तृत परिभाषाए दी जा रही हैं।

सख्यात काल-मान

समय : काल का अविभागी मान समय है। 'समय' को काल का सूक्ष्मतम अश कह सकते हैं। समय की परिभाषा परमाणु की गति के आधार से निम्न प्रकार दी जा सकती है

शीघ्रतम वेग से गति करने वाला परमाणु लोक के एक अन्त से दूसरे अन्त तक (अर्थात् चतुदर्श रज्जु प्रमाण अन्तर) जितने काल में चला जाता है, वह काल एक समय है। यहा पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'समय' काल का अविभाज्य अश है। अतः शीघ्रतम गति से चलने वाला परमाणु यदि सात रज्जु प्रमाण अन्तर तय करता है, तो उसमे भी एक 'समय' लगेगा, आधा 'समय' नही, क्योंकि ½ समय का कोई अर्थ ही नही है। समय की सूक्ष्मता को व्यवहार मे समझाने के लिए जीर्ण वस्त्र-कर्त्तन का उदाहरण[1] दिया गया है।

एक तरुण, बलवान् और कलानिपुण दर्जी किसी एक अति जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को एक ही बार मे एक हाथ प्रमाण फाड डालता है। उस वस्त्र को फाडने में जितना काल व्यतीत होता है, उतने काल मे भी असख्यात समय व्यतीत हो जाते है, क्योकि वस्त्र तन्तुओ का बना है, प्रत्येक तन्तु अनेक 'पक्ष्मणो' का समुदाय है, प्रत्येक पक्ष्मण अनेक 'समितियो' के सगठन से बना है, प्रत्येक 'समिति' अनन्त सघातो का समुदाय है, प्रत्येक सघात अनन्त परमाणुओ के मिलने से बनता है। एक 'सघात' के भेद करने मे व्यतीत होने वाले काल से भी समय सूक्ष्मतर है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र, 'समय' का विषय।

आवलिका 'जघन्य-युक्त-असख्यात' समयो की एक आवलिका होती है। जघन्य-युक्त-असख्यात का मान जघन्यपरीत-असंख्यात[1] को जघन्य-परीत-असख्यात से गुणने पर आता है।

प्राण · (उच्छ्वास-नि श्वास) : ४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिकाओ का एक प्राण होता है। निरोगी, बलवान्, युवक पुरुष के एक 'उच्छ्वास-नि श्वास' की क्रिया में लगने वाला काल १ प्राण है।

संख्यात काल-मान कोष्ठक

१ समय=काल का सूक्ष्मतम अश

जघन्य-युक्त-असख्यसमय=१ आवलिका

४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$	आवलिका	=	१ प्राण
७	प्राण	=	१ स्तोक
७	स्तोक	=	१ लव
३८ $\frac{१}{२}$	लव	=	१ घडी
२	घडी	=	१ मुहूर्त्त(=४८ मिनट)
३०	मुहूर्त्त	=	१ अहोरात्र
३०	अहोरात्र	=	१ मास
१२	मास	=	१ वर्ष
८४०००००	वर्ष	=	१ पूर्वांग
"	पूर्वांग	=	१ पूर्व
"	पूर्व	=	१ त्रुटितांग
"	त्रुटितांग	=	१ त्रुटित
"	त्रुटित	=	१ अडडांग
"	अडडांग	=	१ अडड
"	अडड	=	१ अववांग
"	अववांग	=	१ अवव
"	अवव	=	१ हूहूकांग
"	हूहूकांग	=	१ हूहूक
"	हूहूक	=	१ उत्पलांग
"	उत्पलांग	=	१ उत्पल

१. देखें, परिशिष्ट–१।

,,	उत्पल	=	१ पद्माग
,,	पद्माग	=	१ पद्म
,,	पद्म	=	१ नलिनाग
,,	नलिनाग	=	१ नलिन
,,	नलिन	=	१ अर्थनिपुराग
,,	अर्थनिपुराग	=	१ अर्थनिपुर
,	अर्थनिपुर	=	१ अयुताग
,,	अयुताग	=	१ अयुत
,,	अयुत	=	१ प्रयुताग
,,	प्रयुताग	=	१ प्रयुत
,,	प्रयुत	=	१ नयुताग
,,	नयुताग	=	१ नयुत
,,	नयुन	=	१ चूलिकाग
,,	चूलिकाग	=	१ चूलिका
,,	चूलिका	=	१ शीर्षप्रहेलिकाग
,	शीर्षप्रहेलिकाग	=	१ शीर्षप्रहेलिका

यह कोष्ठक श्वेताम्वर-परम्परा के आधार पर दिया गया है ।[1] दिगम्बर परम्परा मे वर्ष के वाद के मान निम्न रूप से मिलते हैं [2]

८४००० ० वर्ष	=	१ पूर्वा ग
८४०००० ० पूर्वा ग	=	१ पूर्व
८४ पूर्व	=	१ पर्वा ग[3]
८४००००० पर्वा ग	=	१ पर्व[3]
८४ पर्व	=	१ नयुताग[4]
८४००००० नयुताग	=	१ नयुत[4]

---

१ देखें, अनुयोगद्वार सूत्र समय का विषय, लोक-प्रकाश, सर्ग २८-२९, भगवती सूत्र, ६-७ ।

२ तिलोयपण्णत्ती, ४-२९३ से ३०७, आदिपुराण, ३—२१८,२२७, लोकविभाग, ५—१३९-१४८ ।

३ ये दो नाम तिलोयपण्णत्ती मे छूट गए हैं, ऐसा लगता है।

४. तिलोयपण्णत्ती में 'नियुताग' और 'नियुत' हैं ।

$(८४०००००)^{२८} = (८४^{२८} \times १०^{१४०})$

दिगम्बर–परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट सख्यात काल–मान 'अचलात्म' है, जिसका मूल्य है

$$(८४^{३१} \times १०^{९०})$$

असख्यात काल-मान

समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक के काल–मान सख्या के द्वारा निर्दिष्ट हो सकते है, इसलिये ये 'सख्यात काल–मान' माने गये हैं। वास्तविक दृष्टि से तो 'सख्या' का विषय 'शीर्षप्रहेलिका' से आगे भी है,[1] किन्तु व्यवहारिक गणित की मर्यादा के बाहर होने के कारण 'शीर्षप्रहेलिका' को उत्कृष्ट सख्यात काल–मान माना गया है।

असख्यात काल–मानो की परिभाषाए उपमा के द्वारा दी गई हैं। इनके मुख्य दो भेद हैं :

१ पल्योपम २. सागरोपम

पल्योपम . वेलनाकार खड्डे या कुए को 'पल्य' कहा जाता है। 'पल्य' की उपमा से बताया गया मान 'पल्योपम' है। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओ मे इसका वर्णन भिन्न-भिन्न रूप से मिलता है। श्वेताम्बर–परम्परा के अनुसार[2] :

एक वेलनाकार कुए के वर्तुल का व्यास उत्सेध अंगुल प्रमाण से १ योजन है। वेलन की ऊचाई भी १ योजन है। इस कुएं को देवकुरु–उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यो के केशाग्रो से सम्पूर्ण भरा जाता है, जिससे कि वेलन का समग्र आकाश केशाग्रो से व्याप्त हो जाए। वेलन मे समाहित केशाग्रो की सख्या निकालने के लिए पहले वेलन का घनफल निकालना आवश्यक है।

वेलन का आधार वर्तुल है। इस वर्तुल का क्षेत्रफल

$= \pi$ (त्रिज्या)^{२}

$\therefore$ वेलन का घनफल $= \pi$ (त्रिज्या)^{२} ऊचाई

इस समीकरण मे π का मान $\sqrt{१०}$ लिया गया है।[3]

---

१ इसका विवेचन परिशिष्ट—३ मे किया गया है।

२. अनुयोगद्वार सूत्र, उपमा विषय, तथा लोकप्रकाश. १–६८ से १२१ के आधार पर।

३. वर्तुल की परिधि को वर्तुल के व्यास का भाग देने पर आने वाली सख्या को π कहते है। इसका सख्यात्मक मूल्य निकालने के लिए अति प्राचीन

१ योजन मान क्षेत्र के क्षेत्र-मान कोष्टक के आधार पर ७६८००० उत्सेध-अगुल होते हैं। १ उत्सेध-अंगुल के $८^{७}$ देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यो के बालाग्र होते हैं; अतः

१ योजन$=८^{७}\times ७६८०००$ देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यो के बालाग्र[1]

$$\therefore \text{त्रिज्या} = \frac{८^{७}\times ७६८०००}{२} \text{ दे० उ० क्षे० म० बालाग्र}$$

ऊंचाई$=८^{७}\times ७६८०००$ दे० उ० क्षे० म० बालाग्र

अत· वेलन का घनफल

$$=\frac{१६}{१}\left(\frac{१}{४}\right)\left(८^{७}\times ७६८०००\right)^{३}$$

=३३०, ७६२, १०४, २४६, ५६२, ५४२, १९९, ६०९, ७५३, ६० ०,०००,०००,० घन दे० उ० क्षे० म० बालाग्र

काल से प्रयत्न किया गया है। जैन आगमो मे π के लिए 'तीन से कुछ अधिक' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं— (देखें, **अनुयोग द्वार सूत्र**, उपमा विषय)। आगमेतर जैन ग्रन्थो मे इसका मूल्य—१० अथवा $\frac{१६}{१}$ लिया गया है। (देखे **त्रिलोकसार**, गाथा १७, **तिलोयपण्णत्ती**, १–११७, **लोकप्रकाश**, १–७)। जैनेतर प्राचीन ग्रन्थो मे भी π के लिए $\sqrt{१०}$ का उपयोग हुआ है। (देखे, **प्राचीन भारत मे गणित का योग**, पृ० ८) **षट्खण्डागम** पर वीरसेनाचार्य (ई० सन् ८१६) रचित धवला टीका मे दिये गए एक श्लोक के अनुसार π का मूल्य $\left(३+\frac{१६}{११३}+\frac{१६}{११३\times \text{व्याम}}\right)$ होता है। देखें, **षट्खण्डागम**, १-३-२ मे श्लोक १४, पुस्तक ४, पृ० ४२। इसमे प्रथम पद मे स्थित सख्या का मान ३ १४१५९२९२ आता है। आधुनिक गणित-शास्त्र के अनुसार π का मूल्य निम्न श्रेणी मे व्यक्त होता है:

$$\pi=४\left(१\ \frac{१}{३}+\frac{१}{५}-\frac{१}{७}+\frac{१}{९}-\frac{१}{११}+\ \ldots\ldots\right)$$

इसका मूल्य १४ दशमलव स्थान तक निकालने पर,

$\pi=३$ १४१५९२६५३५८९७९ आता है। (देखे, **ज्योमेट्री**, ले० चार्ल्स एफ० ब्रूमफिल्ड, रोबर्ट आर्डकोल्फ और मेरील ई० शान्कस, पृ० २०४–२०५)।

1 देखें, परिशिष्ट—१।

$= ३.३० \times १०^{३६}$ घन दे० उ० क्षे० म० बालाग्र लगभग[1]

इस प्रकार बेलन मे समाहित बालाग्र की संख्या

$= ३.६ \times १०^{३६}$

हैं। ये बालाग्र चार प्रकार[2] से बाहर निकाले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप चार प्रकार के पल्योपम होते हैं :

१. बादर उद्धार पल्योपम : प्रति समय एक बालाग्र कुए मे से बाहर निकाला जाए। जितने काल मे वह खड्डा खाली हो जाए, उतने काल को **बादर उद्धार पल्योपम** कहते हैं। बादर उद्धार पल्योपम केवल औपचारिक पल्योपम है, क्योकि इसका मान संख्यात समयो का है। प्रति समय एक बालाग्र बाहर निकालने पर,

३.३×१०^{३६}

समयो मे कुआ खाली हो जायेगा। इस प्रकार एक बादर उद्धार पल्योपम

$= ३.३ \times १०^{३६}$ समय

२. सूक्ष्म उद्धार पल्योपम पूर्वोक्त बालाग्रो मे से प्रत्येक बालाग्र के 'असख्य' खण्ड किये जाते हैं। प्रत्येक खण्ड केवल चक्षु द्वारा देखे जाने वाले सूक्ष्मतम पदार्थ से भी असख्य गुना छोटा होता है। इस प्रकार के बालाग्र-खण्डो मे से प्रति समय एक बालाग्र-खण्ड कुए मे से बाहर निकालने पर जितने काल मे समग्र कुआ रिक्त हो जाता है, उतने काल को 'सूक्ष्म उद्धार पल्योपम' (सू० उ० प०) कहते हैं। इस प्रकार

१ सू० उ० प० $= \{(३.३ \times १०^{३६}) \times$ असख्यात$\}$ समय

३. बादर अद्धा पल्योपम : पूर्वोक्त रीति से बालाग्रो से भरे हुए कुए मे से प्रति १०० वर्ष मे एक बालाग्र निकालने पर जितने काल मे समग्र कुआ रिक्त हो जाता है, उतने काल को 'बादर अद्धा-पल्योपम' कहते हैं। सख्यात वर्षो का मान होने के कारण यह भी केवल औपचारिक पल्योपम है। प्रति १०० वर्ष मे १ केशाग्र बाहर निकालने पर,

---

१. π का मूल्य ३.१४१५ लेने पर इस सख्या का मूल्य ३.०६×१०^{३६} आता है।

२. वस्तु तो छ प्रकार से निकाले जाते हैं, किन्तु अन्तिम दो प्रकार प्रस्तुत पुस्तक मे उपयोगी नही होने के कारण नही दिये गये है।

$१००\times३.३\times१०^{३६}$ वर्षों
मे कुआ रिक्त हो जाता है। इस प्रकार
एक बादर अद्धा-पल्योपम
$=१००\times३.३\times१०^{३६}$ वर्ष
$=३.३\times१०^{३८}$ वर्ष

४. **सूक्ष्म अद्धा पल्योपम :** सूक्ष्म अद्धा पल्योपम की तरह प्रत्येक बालाग्र के असख्य खण्ड किये जाते हैं। प्रति १०० वर्ष मे एक बालाग्र खण्ड बाहर निकालने पर जितने काल मे कुआ रिक्त होजाताहै, उतने काल को 'सूक्ष्म अद्धा पल्योपम' (सू० अ० प०) कहते हैं। इस प्रकार,

१ सू० अ० प० $= \{(३.३.\times१०^{३६})\times१००\times$ असख्यात$\}$ वर्ष
$=\{(३.३\times१०^{३८})\times$ असख्यात$\}$ वर्ष

असंख्यात काल-मान कोष्ठक

१ सूक्ष्म अद्धार पल्योपम$=३.३०\times१०^{३६}\times$असख्यात समय
१ सूक्ष्म अद्धा पल्योपम$=३.३०\times१०^{३८}\times$ असख्यात वर्ष

दिगम्बर परम्परा के अनुसार[1]

श्वेताम्बर-परम्परा में बताये गये कुएं के वर्णन मे जो योजन उत्सेध-अंगुल से निष्पन्न था, वह यहा प्रमाणागुल से निष्पन्न माना गया है। १ प्रमाणागुल के ५०० उत्सेध-अगुल होते हैं। अत[2]

१ योजन $=(७६८०००\times५००\times८^{७})$ उत्तम भोग भूमि के बालाग्र
अत वेलन का घनफल[3]
$=\frac{१९}{६}\times\frac{३}{४}\times(७६८०००\times५००\times८^{७})^{३}$
$=४१३, ४५२, ६३०, ३०८, २०३, १७७, ७४९, ५१२,$
$१९२, ०००,०००,०००,०००,०००,०००$ घन उत्तम भोग भूमि बालाग्र
$=४.१३\times१०^{४४}$ घन उत्तम भोग भूमि के बालाग्र लगभग[4]
इस प्रकार पल्य (कुए) मे समाहित बालाग्र की सख्या
$=४.१३\times१०^{४४}$ है।

---

१ तिलोयपण्णत्ती, १—११९ से १३० के आधार से।

२. देखें, परिशिष्ट—१।

३. यहा पर भी π का मूल्य $\frac{१९}{६}$ लिया गया है।

४. π का मूल्य ३.१४१५ लेने पर, यह संख्या—४.०७×१०^{४४} लगभग आती है।

इन बालाग्रों को बाहर निकालने के प्रकारों के आधार पर तीन प्रकार के पल्योपम होते हैं।

१. **व्यवहार पल्योपम** प्रति १०० वर्ष मे १ बालाग्र बाहर निकालने पर जितने काल मे सम्पूर्ण कुआ रिक्त होता है, उतने काल को **व्यवहार-पल्योपम** कहते हैं। व्यवहार पल्योपम औपचारिक पल्योपम है, क्योंकि इसका मान सख्यात वर्षों का है। प्रति १०० वर्षों मे एक बालाग्र बाहर निकालने पर,

$४१३ \times १०^{४४} \times १००$ वर्षों

मे कुआ रिक्त हो जायेगा, अत.

१ व्यवहार-पल्योपम $= ४.१३ \times १०^{४६}$ वर्ष

२ **उद्धार-पल्योपम :** व्यवहार पल्य के बालाग्रो मे से प्रत्येक के असख्यात करोड वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने खण्ड किये जाते हैं और इन खण्डो से पूर्वोक्त कुआ भरा जाता है। जितने काल मे कुआ रिक्त हो जाता है, उतने काल को उद्धार पल्योपम कहा जाता है। इस प्रकार

१ उद्धार पल्योपम $= (४.१३ \times १०^{४४}) \times$ (असख्यात करोड वर्षों के समयो की सख्या) समय

यदि १ वर्ष के समय की सख्या '$अ_१$' हो और 'असख्यात' वर्ष '$अ_२$' हो तो

१ उद्धार पल्योपम $= (४.१३ \times १०^{४४} \times अ_१ \times अ_२ \times १०^{७})$ समय

किन्तु $अ_१$ समय=१ वर्ष

अत

१ उद्धार पल्योपम $= (४.१३ \times १०^{४४} \times १०^{७} \times अ_२)$ वर्ष

$= (१०^{५} \times अ_२)$ व्यवहार पल्योपम

३ **अद्धा पल्योपम** उद्धार पल्य के बालाग्र-खण्डो मे से प्रत्येक के असख्यात वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने खण्ड किये जाते हैं। पूर्वोक्त प्रकार के कुए को इन खण्डो से सम्पूर्णतया भरा जाता है। प्रति समय एक खण्ड बाहर निकालने पर जितने काल मे कुआ रिक्त होता है, उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। इस प्रकार, कुए मे रहे खण्डो की सख्या

$= (४१३ \times १०^{४४} \times अ_१ \times अ_२ \times १०^{७}) \times$ (असख्यात वर्षों के समयो की सख्या) यदि असख्यात वर्ष $अ_३$ हो,

तो १ अद्धा पल्योपम $= (४१३ \times १०^{४४} \times अ_१ \times अ_२ \times १०^{७} \times अ_३ \times अ_१)$ समय

$= (४१३ \times १०^{४४} \times अ_१ \; अ_२ \; अ_३ \times १०^{७})$ वर्ष

=(४१३ × $१०^{५१}$) $अ_{१}$ $अ_{२}$ $अ_{3}$ वर्ष

=$१०^{५}$ $अ_{१}अ_{२}अ_{3}$ व्यवहार पल्योपम

यदि हम $अ_{२}$=$अ_{3}$ मान ले, तो

१ अद्धा पल्योपम=$१०^{५}$ $अ_{१}$ $अ^{२}_{२}$ व्यवहार पल्योपम

=($अ_{१}$ $अ_{२}$) उद्धार पल्योपम

पल्योपम काल-मान कोष्ठक

(१ व्यवहार पल्योपम=४१३×$१०^{४६}$ वर्ष)

१ उद्धार पल्योपम=($१०^{५}$×$अ_{२}$) व्यवहार पल्योपम

१ अद्धा पल्योपम=$अ_{१}$ $अ_{3}$ उद्धार पल्योपम

काल-मान और क्षेत्र-मानो का परस्पर सम्बन्ध

काल-मान और क्षेत्र-मानो के परस्पर सम्बन्ध को सूचित करने वाले दो समीकरण दिगम्बर-परम्परा मे मिलते हैं। इन समीकरणो मे 'अर्धच्छेदो' का उपयोग हुआ है। छेदागणित का आधुनिक नाम 'लघुगणक' (लोगरीद्म)[1] है।

प्रथम समीकरण मे सूची अगुल और अद्धा पल्योपम का सम्बन्ध इस प्रकार दिया गया है [2] "अद्धा पल्योपम के जितने अर्धच्छेद हो, उतनी जगह

---

१ 'लघुगणक' की व्याख्या .

यदि $लघु_{य}$ क=अ हो

तो $अ^{य}$=क होता है।

'य' को 'स्थापना' (Base) कहते है।

अर्धच्छेद का अर्थ होता है—'स्थापना दो के लघुगणक' (Logarıtham to the base$_{२}$) और इसको संज्ञा मे '$लघु_{२}$' (Log_{2}) लिखा जाता है। वास्तव मे किसी सख्या के अर्धच्छेद उस सख्या के बराबर होते हैं, जितने वार कि हम उसका अर्द्धीकरण कर सकें। अर्थात् यदि किसी राशि क के अर्धच्छेद अ प्राप्त करने हो तो—

अ = क के अर्धच्छेद=$लघु_{२}$ क होता है।

अर्थात् $अ^{२}$ = क होना चाहिए।

२ तिलोयपण्णत्ती, १-१३१।

पल्य को रख कर परस्पर मे गुणन करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे 'सूची अगुल' कहते हैं ।"

सज्ञा मे

$$\text{सूची अगुल} = (\text{अद्धापल्य})^{(\text{लघु}_2\ \text{अद्धापल्य})}$$

यहा पर सूची अगुल और अद्धापल्य कौनसे मान ने होने चाहिए, इसका उल्लेख नही है; फिर भी अनुमान से[1] ये मान क्रमश 'प्रदेश' और 'समय' मे हैं, ऐसा लगता है, क्योकि 'प्रदेश' और 'समय' क्रमश क्षेत्र और 'काल' के इकाई मान हैं । इस प्रकार

यदि सूची अगुल = अ प्रदेश

और अद्धापल्य = प समय हो, तो

$$\text{अ} = \text{प}^{(\text{लघु}_2\ \text{प})}$$

दूसरा समीकरण जगश्रेणी और अद्धापल्य के सम्बन्ध का है ।[2] "अद्धापल्य की अर्धच्छेद राशि के असख्यातवे भाग प्रमाण घनागुल को रख कर उनके परस्पर गुणन करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे जगश्रेणी कहते हैं ।" संज्ञा मे

$$\text{जगश्रेणी} = (\text{घनागुल})^{\left(\frac{\text{लघु}_2\ \text{अद्धापल्य}}{\text{असख्यात}}\right)}$$

यहा पर 'घनागुल' का अर्थ 'सूची अंगुल' का घन है अर्थात् सूची-अंगुल के प्रदेशो की सख्या का घन । इसलिये

यदि जगश्रेणी = ज प्रदेश और असख्यात = अ हो, तो

$$\text{ज} = (\text{अ}^3)^{\left(\frac{\text{लघु}_2\ \text{प}}{\text{अ}}\right)}$$

---

१. श्री लक्ष्मीचन्द जैन ने भी तिलोयपण्णत्ती का गणित मे यही निरूपण किया है । देखें, जम्बूद्वीपपण्णत्ति सगहो की प्रस्तावना, पृ० १०१, १०४ ।

२. वही, १-१३१ ।

इन दो समीकरणों के मिलाने से,

$$\left(\frac{3\ \text{लघु}_2\ \text{प}}{\text{अ}}\right)$$

$$\text{ज}=\left(\frac{\text{लघु}_2\ \text{प}}{\text{प}}\right)$$

$$=\text{प}\left\{\frac{3\ (\text{लघु}_2\ \text{प})^2}{\text{अ}}\right\}$$

सारगोपम १० कोटाकोटि[1] पल्योपमो का एक सागरोपम होता है। जैसे पल्योपम के सूक्ष्म-वादर, उद्धार और अद्धा तथा व्यवहार, उद्धार और अद्धा भेद होते हैं उसी प्रकार सागरोपम के है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

१० कोटाकोटि वादर उद्धार पल्योपम = १ वादर उद्धार सागरोपम

१० कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम = १ सूक्ष्म उद्धार सागरोपम

१० कोटाकोटि वादर अद्धा पल्योपम = १ वादर अद्धा सागरोपम

१० कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा पल्योपम = १ सूक्ष्म अद्धा सागरोपम

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

१० कोटाकोटि व्यवहार पल्योपम=१ व्यवहार सागरोपम

१० कोटाकोटि उद्धार पल्योपम=१ उद्धार सागरोपम

१० कोटाकोटि अद्धा पल्योपम=१ अद्धा सागरोपम

---

१. १ कोटाकोटि=$१०^{१४}$।

: ३ :

परिशिष्ट

जैन दर्शन में संख्या-विचार

जैन दर्शन मे 'सख्या' के सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से विचार किया गया है। सख्या के आठ प्रकार बताये गये हैं[1] :

१. नाम सख्या
२. स्थापना सख्या
३. द्रव्य सख्या
४ औपम्य-उपमान सख्या
५. परिमाण सख्या
६. ज्ञान सख्या
७. गणना सख्या
८. भाव सख्या

उक्त आठ प्रकारो मे से यहा पर केवल 'गणना सख्या' का [2]विवेचन ही किया जाता है, क्योकि गणना सख्या मे आई हुई पारिभाषिक संख्याओ का उपयोग प्रस्तुत पुस्तक मे स्थान-स्थान पर हुआ है।

गणना सख्या को मुख्य रूप से तीन भागो में विभाजित किया गया है.

१. सख्यात
२. असख्यात
३. अनन्त

सख्यात :

'सख्यात' सख्याओ का प्रारम्भ 'दो' से होता है[3]। 'एक' को गणना सख्या मे नही गिना गया है, क्योंकि 'एक' का वर्ग करने से 'एक' ही आता है अर्थात् वर्ग करने पर भी वृद्धि नही होती। 'गणना सख्या' मे वही गिना

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र, 'सख्या प्रमाण' विषय।

२ वही, 'गणना सख्या' विषय, लोकप्रकाश, १-१२१ से २१२; तिलोयपण्णत्ती, ४-३१० से ३१२; त्रिलोकसार, गाथा १४ से ३३ के आधार से।

३ 'गणना-सख्या' मे केवल पूर्णांको का ही विषय लिया गया है।

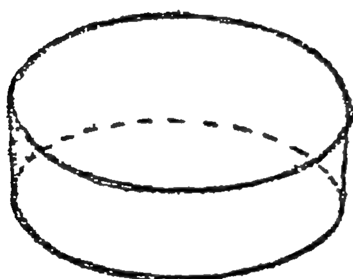
जाता है, जिसका वर्ग करने से वृद्धि हो। 'सख्यात' अक के तीन प्रकार हैं.

१. जघन्य सख्यात (ज० स०)
२. मध्यम मख्यात (म० स०)
३. उत्कृष्ट सख्यात (उ० स०)

१. ज० सं० २ (दो)।

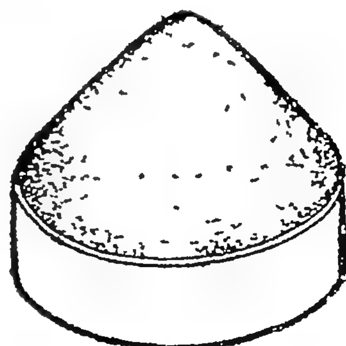
२. म० स० · ३ (तीन) से प्रारम्भ होकर उ० स० मे एक कम (उ०स०–१ तक)।

३. उ० स० . इसकी परिभाषा के विषय मे दिगम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-परम्परा मे थोडा मतभेद है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह परिभाषा निम्न प्रकार से है.[1] शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित नाम के 'चार' 'लम्ब–वर्तु ल-वेलनाकार' वाले (राइट सर्क्युलर सिलिण्डर) कुण्ड है। इन कुण्डो का व्यास १००००० योजना और उत्सेध (ऊंचाई) १००० योजन है। (देखें चित्र न० १७) 'प्रथम तीन कुण्ड के व्यास और उत्सेध अचल हैं। चौथे कुण्ड अनवस्थित का उत्सेध तो अचल है, किन्तु व्यास वदला जा सकता है।



चित्र न० १७

उपरोक्त व्यास-उत्सेध वाला अनवस्थित कुण्ड सर्षपो (सरसो) से उस प्रकार भरा जाता है कि कुण्ड सम्पूर्ण क्षेत्र तो सर्षपो से अवगाहित हो ही जाता है और इसके अतिरिक्त वेलनाकार कुण्ड के ऊपर लम्ब-वर्तु ल शंकु आकार मे सर्षपो की शिखा भी वन जाती है, (देखें, चित्र न० १८) जिसकी सर्वोच्च सतह मे केवल सर्षप होता है।



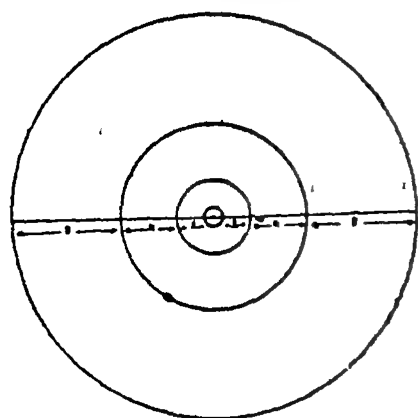
चित्र न० १८

जैसे कि तिर्यग्लोक के वर्णन मे बताया गया था कि वहा एक दूसरे को परिवेष्टित करते हुए वयलाकार मे असख्य द्वीप–समुद्र हैं। मवके मध्य मे एक लाख योजन व्यास का जम्बूद्वीप है

---

१. तिलोयपण्णत्ती, १–३१०; त्रिलोकसार, १४ से ३५;

और इसके बाद दुगुने-दुगुने व्यास वाले वलय हैं। (देखें, चित्र न० १६) अब उक्त प्रकार से भरे हुए अनवस्थित कुण्ड मे से एक-एक सर्षप उत्तरोत्तर द्वीप-समुद्रो मे डाला जाता है और जब सारा अनवस्थित कुण्ड रिक्त हो जाता है, तब एक सर्षप 'शलाका' कुण्ड मे डाला जाता है। जिस वलय मे अनवस्थित कुण्ड का अन्तिम सर्षप डाला गया, उस वलय के व्यास का और पूर्व उत्सेध का एक नया अनवस्थित कुण्ड बनाया जाता है तथा पूर्वोक्त विधि से



चित्र न० १६

सर्षपो से भरा जाता है। जिसमे अन्तिम सर्षप डाला गया था, उससे आगे के द्वीप-समुद्रो मे एक-एक सर्षप डाला जाता है। जब यह अनवस्थित कुण्ड भी रिक्त हो जाता है, तब दूसरा सर्षप शलाका कुण्ड मे डाला जाता है। यह क्रिया पुन-पुन. दुहराई जाती है, जब तक कि शलाका कुण्ड भर नही जाता। जब शलाका कुण्ड पूर्ण रूप से भर जाता है, तब प्रतिशलाका कुण्ड मे एक सर्षप डाला जाता है और शलाका कुण्ड रिक्त कर दिया जाता है। उपर्युक्त विधि से पुन शलाका कुण्ड भरना प्रारम्भ होता है और जब दूसरा शलाका कुण्ड भर जाता है, तब दूसरा सर्षप प्रतिशलाका कुण्ड मे डाला जाता है। इसी क्रिया का पुन-पुनः दुहराने से प्रतिशलाका कुण्ड भर जाता है।

जब प्रतिशलाका कुण्ड पूर्ण रूप से भर जाता है, तब एक सर्षप महाशलाका कुण्ड मे डाला जाता है। प्रतिशलाका कुण्ड रिक्त कर दिया जाता है और उपर्युक्त विधि से पुन भरा जाता है, तब महाशलाका कुण्ड मे दूसरा सर्षप डाला जाता है। इसी क्रिया को पुन-पुन दुहराने से जब महाशलाका कुण्ड भी पूर्णतया भर जाता है, तब जिस द्वीप या समुद्र मे अन्तिम सर्षप डाला गया था, उस वलय के व्यास का और १००० योजन उत्सेध का एक कुण्ड बनाया जाता है तथा पूर्व विधि के अनुसार सर्षपो से भरा जाता है। इस प्रकार से भरे हुए कुण्ड मे जो सर्षपो की सख्या है, उसमे से एक कम करने पर आने वाली सख्या को 'उत्कृष्ट सख्यात' कहते हैं।

ऊपर दिये गए वर्णन को गणित के द्वारा स्पष्ट करना अधिक उपयुक्त होगा। सब पहले १०००० योजन व्यास और १००० योजन उत्सेध वाले

लम्ब-वर्तुल बेलन में लम्ब-वर्तुल शंकु आकार वाली शिखा सहित, कितने सर्षप समाते हैं, यह संख्या निकालनी चाहिए।

'सर्षप' एक धान्य का नाम है। सर्षप के दाने गोले (Sphere) के आकार के होते हैं। इस गोले के 'व्यास' को 'सर्षप' कहा जाता है। यह 'मान' के रूप में भी काम आता है। एक मान्यता के अनुसार :[1]

८ सर्षप = १ यव

८ यव = १ अंगुल

होता है; अतः

१ अंगुल = ६४ सर्षप

द्वीप-समुद्रों का व्यास आदि प्रमाणांगुल से नापा जाता है; अतः क्षेत्रमान कोष्ठक से—

१ योजन = (७६८०००×५००) उत्सेध-अंगुल

अर्थात्

१ योजन = (७६८०००×५००×६४) सर्षप

= २४५७६०००००० सर्षप

बेलन के वर्तुल की त्रिज्या = ५०००० योजन

$=१२२८८\times१०^{११}$ सर्षप

और बेलन का उत्सेध = १००० योजन

$=२४५७६\times१०^{८}$ सर्षप

१ सर्षप के दाने का घनफल

$= \frac{४}{३}\pi$ (त्रिज्या)^{३}

---

१ त्रिलोकसार पर पं० टोडरमलजी कृत भाषा-टीका, श्लोक १८। ललित-विस्तर में,

७ सर्षप = १ यव

७ यव = १ अंगुली-पर्व लिए गए हैं। ललित-विस्तर में अंगुली-पर्व तक सभी मान 'सात' के गुने से प्राप्त होते हैं, देखें, परिशिष्ट—१।

सर्षप के दाने की त्रिज्या = $\frac{1}{2}$ सर्षप है, अत १ सर्षप के दाने का घनफल

$$= \frac{4}{3}\pi \left(\frac{1}{2}\right)^3 \text{ घन सर्षप}$$

$$= \frac{\pi}{6} \text{ घन सर्षप}$$

अब, लम्ब-वर्तुल बेलन का घनफल

$$= \pi \times (\text{त्रिज्या})^2 \times \text{उत्सेध} \quad \cdots\cdots\cdots \quad (१)$$

बेलन के ऊपर रहे हुए लम्ब-वर्तुल-शंकु का घनफल निकालने के लिए उसकी ऊंचाई जाननी चाहिए।[1] त्रिलोकसार के अनुसार[2] तिल, सर्षप, वल्ल, अरहड, चने, अतसि, कुलत्थ, राजमाष आदि वस्तुओ का ढेर यदि इस प्रकार लगाया जाये कि जिससे आकाश मे शंकु आकार से यह ढेर स्थित रहे, तो इस प्रकार से रहे हुए ढेर की ऊंचाई, ढेर के मूल की परिधि से ग्यारहवें भाग की होती है। अर्थात्

$$\text{शंकु की ऊंचाई} = \frac{\text{बेलन के वर्तुल की परिधि}}{११}$$

$$\text{लम्ब-वर्तुल शंकु का घनफल} = \frac{1}{3}\pi \ (\text{त्रिज्या})^2 \times \text{ऊंचाई}$$

$$^{3}= \left[\frac{1}{3}\pi \ (\text{त्रिज्या})^2\right] \times \frac{(\text{परिधि})}{११}$$

$$= \frac{1}{3}\pi \ (\text{त्रिज्या})^2 \times \frac{(2\pi \times \text{त्रिज्या})}{११}$$

$$= \frac{2}{33}\pi^2 \ (\text{त्रिज्या})^3 \quad \cdots\cdots\cdots \quad (२)$$

---

१ जम्बूदीव पण्णत्ती सगहो की प्रस्तावना मे श्रीलक्ष्मीचन्द जैन ने तिलोयपण्णत्ती का गणित नाम से जो निबन्ध दिया है, उसमे शंकु की ऊंचाई के विषय मे कहा है, "यहा यह नही ज्ञात है कि शंकु की ऊंचाई कितनी और क्यो ली गई।"

२ तिलसरिसवव्वल्लाढइ—चणअतसिकुलत्थ रायमासादि परिणाहेक्कारसमो वट्टो जदि गयणगो रासी।

—त्रिलोकसार, गाथा २३।

३. त्रिलोकसार मे इसके स्थान मे 'परिधि के छट्ठे भाग का वर्ग' कहा

समीकरण १ मे त्रिज्या और उत्सेध का मूल्य स्थापित करने पर, लम्ब-वर्तुल बेलन (कुण्ड) का घनफल

$= \pi \times (१२२८८ \times १०^{११})^२ \times (२४५७६ \times १०^८)$ घन-सर्षप

एक सर्षप के दाने का घनफल $\frac{\pi}{६}$ घन-सर्षप है। अत कुण्ड मे समा

वाले सर्षपो की सख्या

$$= \frac{\pi \times (१२२८८ \times १०^{११})^२ \times (२४५७६ \times १०^८)}{\frac{\pi}{६}}$$

$= ६ \times (१२२८८ \times १०^{११})^२ \times (२४५७६ \times १०^८)$

$= २२२,६५१ १०४,६२४,६४ \times १०^{३१}$

$= २ २२६ \times १०^{४४}$ लगभग .... (३)

समीकरण २ मे त्रिज्या का मूल्य स्थापित करने पर लम्ब-वर्तुल-शकु (शिखा) का घनफल

$= \frac{२}{३३} \times \pi^२ \times (१२२८८ \times १०^{११})^३$ घन-सर्षप

है। किन्तु यह केवल सन्निकटत सही है। क्योकि यदि π का मूल्य ३ लिया जाए, तो

घनफल $= \frac{१}{३} \pi$ (त्रिज्या)^२ = (त्रिज्या)^२

परन्तु

$$\left(\frac{\text{परिधि}}{६}\right)^२ = \left(\frac{२ \times \pi \times \text{त्रिज्या}}{६}\right)^२$$

$$= (\text{त्रिज्या})^२$$

होता है। अर्थात्

$$\frac{१}{३} \pi (\text{त्रिज्या})^२ = \left(\frac{\text{परिधि}}{६}\right)^२ \text{ होता है।}$$

जैसा कि पहले बताया जा चुका, π का सही मूल्य ३ नही, किन्तु ३ १४१५ ... है। (देखे, परिशिष्ट—२)।

अत· शिखा मे समाये हुए-सर्षपो की सख्या

$$= \frac{\frac{२}{३३} \times \pi^{२} \times (१२२८८ \times १०^{११})^{३}}{\frac{\pi}{३}}$$

$$= \frac{१२}{३३} \times \pi \times (१२२८८ \times १०^{११})^{३}$$

$= २\ ११६ \times १०^{४५}$ लगभग[1] .... (४)

अत समग्र सर्षपो की सख्या

$= २\ ३४१ \times १०^{४५}$ लगभग[2]

इस प्रकार, १००००० योजन व्यास और १००० योजन उत्सेध वाले कुण्ड मे शकु-शिखा सहित $२\ ३४१ \times १०^{४५}$ सर्षप समाते हैं।

---

१ यह मूल्य 'लघुगणक' की सहायता से निकाला है। लघु π का मूल्य ४९७१ लिया गया है। शिखा मे समाहित सर्षपो की सही-सही सख्या निकालने के लिए π का मूल्य ३२ दशमलव बिन्दु तक निकालना आवश्यक है। किन्तु, प्रस्तुत प्रकरण मे केवल चार दशमलव बिन्दु तक पर्याप्त मान कर सर्षपो की सख्या निकाली गई है।

२. त्रिलोकसार मे वेलनाकार कुण्ड और शकु-आकार शिखा मे समाने वाले सर्षपो की सख्या निम्न प्रकार से निकाली है। उसमे—

१. π का मूल्य ३ माना गया है।

२. गोले का घनफल [$\frac{९}{२}$ (त्रिज्या)^{३}]माना गया है।

३. $\left(\frac{\text{परिधि}}{११}\right)$ ऊंचाई वाले लम्ब-वर्तुल-शकु का घनफल—

$$\left[\left(\frac{\text{परिधि}}{६}\right)^{२} \times \left(\frac{\text{परिधि}}{११}\right)\right]$$ माना गया है।

४. वेलनाकार कुण्ड का घनफल—

[$३ \times$(त्रिज्या)$^{२} \times$ उत्सेध] माना गया है।

ऊपर दिये गये कुण्ड और शिखा मे समाने वाले 'सर्षपो की सख्या' के सूत्रों को एक साथ लिखने पर कुल सर्षपो की सख्या—

$$= \frac{[\{\pi\ (\text{त्रिज्या})^2 \times \text{उत्सेध}\} + \frac{२}{३३}\ \pi^2\ (\text{त्रिज्या})^3]}{\frac{\pi}{६}}$$

यदि त्रिज्या=त्रिसर्षप

और उत्सेध=उ सर्षप, से सूचित करें;

तो कुल सर्षपो की सख्या= $६\ (\text{त्रि}^2_0\ \text{उ} + \frac{२}{३३}\ \pi\ \text{त्रि}^3)$

$= ६\ \text{त्रि}^2\ \text{उ} + \frac{४}{११}\ \pi\ \text{त्रि}^3$

सब कुण्डो के 'उत्सेध' कर समान हैं। अत· 'उ' का मान सर्वत्र २४५७६×१०^{६} सर्षप होगा। 'अनवस्थित कुण्ड' वार-वार नये बनाये जाते हैं। प्रारम्भिक अनवस्थित कुण्ड का क्रमाक ४_0 मान कर आगे के कुण्डो को '१' से क्रमाक दिया जायेगा। प्रारंभिक कुण्ड को अ_0, प्रथम नये कुण्ड को अ_1, दूसरे नये कुण्ड को अ_2, इस प्रकार दर्शाये जायेंगे। अनवस्थित कुण्डकी त्रिज्या बदलती रहती है। इसलिए किसी भी अनवस्थित कुण्ड की त्रिज्या को दर्शाने के

उक्त सूत्रो से निकलने वाला मूल्य केवल सन्निकटत· सही होता है। त्रिलोकसार मे उक्त सूत्रो का उपयोग कर, बेलनाकार कुण्ड में समाने वाले सर्षपो की सख्या—

१६७, ६१२, ०६२, ६६६,६८०,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,
०००,०००,

और शकु-शिखा मे सामने वाले सर्षपो की सख्या
१७६, ६२०, ०८४, ५४५, १६३, ६३६, ३६३, ६३६, ३६३, ६३६, ३६३,
६३६, ३६३, ६३६, ३३६, ६$\frac{४}{११}$

और दोनो को मिलाकर, इच्छित सर्षपो की सख्या—
१६६, ७११, २६३, ८४५, १३१, ६३६, ३६३, ६३६, ३६३, ६३६ ३६३,
६३६, ३६३, ६३६, ३६३, ६$\frac{४}{११}$

$=१.६६७ \times १०^{४५}$ लगभग

निकाली हुई है।

लिए उस कुण्ड के क्रमाक को 'त्रि' के नीचे दर्शाया जायेगा। जैसे कि प्रारम्भिक अनवस्थित कुण्ड $अ_०$ (जम्बूद्वीप की त्रिज्या के समान त्रिज्या वाला) की त्रिज्या को '$त्रि_०$' से दर्शाया जायेगा। $अ_१$ की त्रिज्या को '$त्रि_१$' से दर्शाया जायेगा आदि।

शलाका, प्रतिशलाका और महा शलाका-कुण्ड की त्रिज्याए भी '$त्रि_०$' ($=१२२८८ \times १०^{११}$ सर्षप) हैं।

अनवस्थित कुण्डो मे समाहित सर्षपो की सख्या को 'क' के नीचे कुण्ड-क्रमाक के साथ दर्शाया जायेगा।

इस प्रकार प्रारम्भिक अनवस्थित कुण्ड $अ_०$ मे समाहित सर्षपो की सख्या है—

$$क_० = ६\ त्रि_०^२\ उ + \frac{४}{५१}\ \pi\ त्रि_०^३ \cdots\cdots\cdots \quad (०)$$

जो कि २.३४१×१०^{४५} लगभग है।

अब, $अ_०$ मे से एक-एक सर्षप प्रत्येक वलय मे डालने पर, $क_०$ वें द्वीप या समुद्र मे अन्तिम सर्षप डाला जायेगा। $क_०$ वें वलय की त्रिज्या ($=त्रि_१$), गुणोत्तर श्रेढि के पद को निकालने की विधि के अनुसार—

$२^{(क_० - २)}$ लाख योजन होगी। अर्थात्

$$त्रि_१ = २^{(क_० - १)}\ त्रि_०$$

(क्योंकि, $२\ त्रि_० = १$ लाख योजन है)

$अ_०$ रिक्त होने पर शलाका कुण्ड मे १ सर्षप डाला जाता है। $अ_१$ मे समाने वाले सर्षपो की सख्या—

$$क_१ = ६\ त्रि_१^२\ उ + \frac{४}{५१}\ \pi\ त्रि_१^३ \cdots\cdots\cdots \quad (१)$$

$$^{१}= ६\ [२^{२(क_० - १)}\ त्रि_०^२]\ उ + \frac{४}{५१}\ \pi\ [२^{३(क_० - १)}\ त्रि_०^३]$$

---

१. इसको सरल करने पर,

$$क_१ = क_०\ २^{२(क_० - १)} \left[१ + \frac{\frac{४}{५१}\ \pi\ त्रि_०^{३}\ \{२^{(क_० - १)} - १\}}{क_०} \right]$$

आता है।

$अ_1$ मे से एक-एक सर्षप $क_0$ वें से आगे के द्वीप-समुद्रों मे डालने पर, अन्तिम सर्षप

$$(क_0 + क_1) \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। इसकी त्रिज्या

$त्रि_2 = २^{(क_0 + क_1 - २)}$ लाख योजन

$$= २^{(क_0 + क_1 - १)} त्रि_0$$

होनी चाहिए।

उक्त प्रकार से $अ_1$ रिक्त होने पर शलाका कुण्ड मे दूसरा सर्षप डाला जाता है। $अ_2$ मे सर्षपो की सख्या—

$क_2 = ६ त्रि^२_२ उ + \frac{४}{९} ग त्रि^३_२$ .... (२)

उक्त प्रकार से ही $अ_2$ का अन्तिम सर्षप

$(क_0 + क_1 + क_2)$ वें

वलय मे डाला जायेगा। तीसरा सर्षप शलाका कुण्ड मे डाला जायेगा और $अ_3$ बनाया जायेगा।

$$त्रि_3 = २^{(क_0 + क_1 + क_2 - क)} त्रि_0$$

$अ_3$ बनाया जायेगा। जिसमे सर्षपो की सख्या—

$क_3 = ६ त्रि^३_३ उ + \frac{४}{९} ग त्रि^3_3$ .... (३)

यह क्रम तब तक चलेगा, जब तक शलाका कुण्ड शिखा-सहित भर नही जाता। अर्थात् जब तक— शलाका कुण्ड मे, '$क_0$' सर्षप डाले नही जाते। उन

श्री लक्ष्मीचन्द जैन ने तिलोयपण्णत्ती का गणित मे 'उत्कृष्ट सख्यात' का मान निकालने के लिए जो विधि बताई है, उसमे $क_1 = क_0^{२(क_0 - १)}$ लिया गया है। किन्तु यह गलत लगता है। लगता है, उन्होंने शकु-शिखा मे अवस्थित सर्षपो की सख्या को उपेक्षित कर दिया है।

समय $अ_{क_0-1}$ रिक्त हो जायेगा। इसका अन्तिम सर्षप—

$$(क_0 + क_1 + क_2 + क_3 \cdots क_{क_0-2} + क_{क_0-1} - 1)$$ वें

वलय मे डाला जाएगा। अब, १ सर्षप प्रतिशलाका कुण्ड मे डाला जायेगा और नया कुण्ड $अ_{क_0}$ बनाया जायेगा, जिसकी

$$त्रि_{क_0} = 2^{(क_0 + क_1 + क_2 \cdots\cdots + क_{क_0-2} + क_{क_1-1} - 1)} त्रि_0$$

अतः, $क_{क_0} = 6\, त्रि^2_{क_0}\, उ + \frac{4}{15} \pi\, त्रि^3_{क_0} \cdots\cdots (क_0)$

फिर से शलाका कुण्ड को भरने के लिए उपर्युक्त क्रिया को दुहराना पडेगा। अर्थात् जब $अ_{2क_0-1}$ रिक्त हो जायेगा, तब दूसरी बार शलाका कुण्ड भरा जायेगा और दूसरा सर्षप प्रतिशलाका कुण्ड मे डाला जायेगा। इस प्रकार यह क्रिया $क_0$ बार दुहराने पर प्रतिशलाका कुण्ड भरेगा। यह तब होगा, जब $अ_{क_0^2-1}$ रिक्त होगा। इसका अन्तिम सर्षप

$$(क_0 + क_1 + \cdots + क_{क_0} + क_{क_0+1} + \quad + क_{2क_0} + क_{2क_0+1}$$

$$+ \quad + क_{क_0^2-2} + क_{क_0^2-1})$$ वें वलय मे डाला जायेगा।

अब एक सर्षप महाशलाका कुण्ड मे डाला जायेगा। इसके पश्चात् $अ_{क_0^2}$ बनाया जायेगा $त्रि_{क_0^2}$ और $क_{क_0^2}$ का मूल्य मूल सूत्रो से निकाला जा सकता है।

उपर्युक्त क्रिया को $क_0$ बार दुहराने से महाशलाका कुण्ड भरेगा। यह तब होगा जब $अ_{क_0^3-1}$ रिक्त होगा। इसका अन्तिम सर्षप

$$(क_0 + क_1 + \quad + क_{क_0} + क_{क_0+1} + \quad + क_{क_0^2} + क_{क_0^2+1}$$

$$+ \cdots + क_{क_0^3-2} + क_{क_0^3-1})$$ वें वलय मे डाला जायेगा।

अब, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका कुण्ड भरे जा चुके हैं। अतः $अ_{क_0^3}$ बनाया जाता है।

$$त्रि_{क_0^3} = 2^{(क_0 + क_1 + \cdots + क_{क_0^2} + \cdots + क_{क_0^3-1})} त्रि_0$$

अत

$क_{क_0^3} = ६ त्रि^2_{क_0^3} उ + \frac{४}{९१} π त्रि^3_{क_0^3}$ .... ($क_0^3$)

उत्कृष्ट सख्यात (उ० स०)

$= क_{क_0^3} - १$

'$क_{क_0^3}$' का सही-सही मान यद्यपि क्रमाक (०) से ($क_0^3$) तक के समीकरणो द्वारा निश्चित रूप से परिभाषित है, फिर भी यह मान व्यावहारिक गणित के द्वारा निकालना कठिन है। $क_{क_0^3}$ का मान कितना वडा है, इसकी थोडी-सी झाकी $क_0$, आदि के लगभग मूल्याकन लेने पर निम्न प्रकार दी जा सकती है

समीकरण (१) से ($क_{क_0^3}$) मे, पहले बताये अनुसार[1] सरल करने के पश्चात् यदि दूसरे पद को उपेक्षित किया जाये, तो

$$क_1 = क_0 २^{२(क_0 - १)}$$

$$क_2 = क_0 २^{२(क_0 + क_1 - १)}$$

$$क_3 = क_0 २^{२(क_0 + क_1 + क_2 - १)}$$

$$\vdots$$

$$\vdots$$

$$क_{क_0^3 - १} = क_0 २^{२(क_0 + क_1 + क_2 + \cdots + क_{क_0^3 - २} - १)}$$

$$\text{और } क_{क_0^3} = क_0 २^{२(क_0 + क_1 + क_2 + \cdots + क_{क_0^3 - १} - १)}$$

अन्तिम समीकरण से $क_1$, $क_2$, ...आदि का मूल्य स्थापित करने पर,

$$क_{क_0^3} = क_0 २^{२[क_0 + क_0 २^{२(क_0 - १)} + क_0 . २^{२\{क_0 + क_0 २^{२(क_0 - १)} - १\}} + \cdots\cdots}$$

१. देखें पृ० २६३।

$$\dots\dots + क_0 . २^{२\left(क_0 + क_0 २^{२(क_0-१)} + क_0 २^{२\{क_0 + क_0 . २^{२(क_0-१)} -१\}} + \dots\dots -१\right) -१}\Big]$$

इस समीकरण मे $क_0 - १$ के स्थान पर $क'$ रखने पर और समीकरण के दक्षिण-पद को विस्तृत करने पर,

$$क_{क_0^३} = क_0 \left[२^{२क'} \times २^{२क_0 . २^{२क'}} \times २^{२क_0 . २^{२क'} . २^{२क_0 . २^{२क'}}} \times २^{२क_0 . २^{२क'} . २^{२क_0 . २^{२क'}} . २^{२क_0 . २^{२क'} . २^{२क_0 . २^{२क'}}}} \dots \times २ \right]$$

इस समीकरण मे दक्षिण-पद मे स्थित अन्तिम-पद का मान सबसे अधिक है और सभी पदो का मान एक से अधिक है, अत

$$क_{क_0^३} > क_0 . २^{\left[२क_0 . २^{२क'} . २^{२क_0 . २^{२क'}} . २^{२क_0 . २^{२क'} . २^{२क_0 . २^{२क'}}} \dots\dots\dots \dots\dots\dots \dots \right]}$$

इस असमीकरण मे,

$२क_0 . २^{२क'} = ख$ रखने पर

$$क_{क_0^३} > क_0 . २^{\left[ख . २^{ख . २^{ख . २^{ख}}} \dots \right]}$$

$$क_{क^{3}_{0}} > क_{0}(2^{ख})^{\left[2^{ख} \cdot 2^{ख^{2^{ख}}} \ldots\ldots\ldots\right]}$$

$$\therefore क_{क^{3}_{0}} > क_{0}(2^{ख})^{\left[2^{ख} \cdot (2^{ख})^{(2^{ख})} \ldots\ldots\ldots\right]}$$

इस असमीकरण मे विन्दुओं द्वारा चिह्नित पदो को भी

$$(2^{ख})^{(2^{ख})}$$

के रूप मे लिखा जा सकता है। अब,

$2^{ख} = ग$ रखने पर,

$$क_{क^{3}_{0}} > क_{0}\, ग^{\left[ग^{ग} \cdot ग^{ग^{ग}} \cdot ग^{ग^{ग^{ग}}} \ldots\ldots\right]}$$

इस असमीकरण मे ग के घाताकों में से सबसे अधिक मूल्य वाला पद विन्दुओं द्वारा चिह्नित पदो मे अन्तिम पद होगा जो कि,

$$ग^{ग^{ग^{ग^{\cdot^{\cdot^{\cdot}}}}}} \quad (क^{3}_{0}-2) \text{ बार}$$

है। अत अन्य पदों को उपेक्षित करने पर

$$क_{क^{3}_{0}} < क_{0} \cdot ग^{ग^{ग^{\cdot^{\cdot^{\cdot}}}}} \quad (क^{3}_{0}-1) \text{ बार}$$

यहा पर ग का मूल्य $२^{ख}$ है और ख का मूल्य—

$$२\,क_{०}.२^{२\,क^{।}}$$

है। अर्थात्

$$ग=२^{[२\times क_{०}\times २^{२(क_{०}-१)}]}$$

स्मरण रहे, $क_{०} > १०^{४५}$

$$अतः\; ग^{१} > १०^{१०^{१०^{४३}}}$$

इस प्रकार $क_{क_{०}^{३}}$ का मान

---

१. यह 'लघुगणक' की सहायता से निकाला जा सकता है।

$$ग=२^{\{२\times क_{०}\times २^{२(क_{०}-१)}\}}$$

अब

$$२^{२(क_{०}-१)} > २^{(२\times १०^{४४})} \quad और$$

$$लघु_{१०}\, २^{(२\times १०^{४४})} = (२\times १०^{४४})\, लघु_{१०}२$$

$$=२\times १०^{४४}\times .३०१०$$

$$\therefore २^{२\times १०^{४४}} = .६०२०\times १०^{४४}$$

$$=१०^{\left(.६०२०\times १०^{४४}\right)}$$

$$\Bigg[\left(१०^{१०^{१०^{४३}}}\right)^{\cdot^{\cdot^{\cdot^{१०^{१३८}\text{ बार}}}}}\Bigg]^{\left[१०^{१०^{१०^{४३}}}\right]}$$

$$> १०^{१०^{४३}}$$

इस प्रकार $२^{२(क_{०}-१)} > १०^{१०^{४३}}$

$$\therefore २^{२\times क_{०}\times २^{२(क_{०}-१)}} > २^{२\times १०^{४५}\times १०^{१०^{४३}}}$$

$$लघु_{१०}२^{२\times १०^{४५}\times १०^{१०^{४३}}} = \left(२\times १०^{४५}\times १०^{१०^{४३}}\right) लघु_{१०}२$$

$$= २\times १०^{४५}\times १०^{१०^{४३}}\times \cdot ३०१०$$

$$= ६०१०\times १०^{(१०^{४३}+४५)}$$

$$\therefore २^{२\times १०^{४५}\times १०^{१०^{४३}}} = १०^{\left[६०१०\times १०^{(१०^{४३}+४५)}\right]}$$

से भी अधिक है।

अर्थात् $१०^{१०^{१०^{४३}}}$ को $१०^{१३३}$ बार स्वघातित[1] करने पर भी $क_{क_३}$ का मान प्राप्त नही होता।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार उ० सं० की परिभाषा

दिगम्बर-परम्परा मे विवर्णित प्रकार के चार कुण्ड हैं। किन्तु प्रत्येक

$$7 \; १०^{१०^{१०^{४३}}}$$

$$अस \; ग \; 7 \; १०^{१०^{१०^{४३}}}$$

१. किसी भी संख्या को 'न' बार स्वघातित करने का अर्थ होता है; उस संख्या को जितना उसका मूल्य हो, उतनी बार स्थापित करके परस्पर उनको गुणन करना। अब जो संख्या प्राप्त हो, उतनी बार मूल की संख्या को स्थापित करके परस्पर उनका गुणन करना। इस प्रकार से 'न' बार क्रिया को दुहराने पर संख्या 'न' बार स्वघातित्त होती है। जैसे उदाहरणार्थ संख्या 'दो' को लें :

दो को एक बार स्वघातित करने पर, $२^{२} = २ \times २ = ४$

दो को दो बार स्वघातित करने पर, $२^{२^{२}} = २^{४} = २ \times २ \times २ \times २ = १६$

दो को तीन बार स्वघातित करने पर, $२^{२^{२^{२}}} = २^{२^{४}} = २^{१६} = \underbrace{२ \times २ \times २ \ldots\ldots \times २}_{१६ \text{ बार}}$

$= ६५५३६$

दो को चार बार स्वघातित करने पर, $२^{२^{२^{२^{२}}}} = २^{२^{२^{४}}} = २^{२^{१६}} = २^{६५५३६}$

$= \underbrace{२ \times २ \times २ \ldots\ldots \ldots\ldots \times २}_{६५५३६ \text{ बार}}$

ऊ $१०^{१९७३६}$ लगभग

इस प्रकार दो को $१०^{१३३}$ बार स्वघातित करने पर आने वाली सख्या की दीर्घता का अनुमान लगाया जा सकता है और इससे आगे $१०^{१०^{१०^{४३}}}$ को $१०^{१३३}$ बार स्वघातित करने से प्राप्त होने वाली सख्या की दीर्घता की तो कल्पना का होना भी कठिन लगता है।

कुण्ड के ऊपर आठ योजन ऊची जगती (दीवाल) है और जगती के ऊपर दो कोश ऊ ची वेदिका है। इस प्रकार कुण्ड का समग्र उत्सेध

१००० योजन + ८ योजन + २कोश

=१००८.५ योजन

होता है। अनवस्थित कुण्ड मे उसी विधि से सर्षप भरे जाते हैं और उसी प्रकार से द्वीप-समुद्रो मे एक-एक सर्षप डालने पर जब कुण्ड रिक्त होता है, नया कुण्ड बनाया जाता है। यह क्रिया बार-बार दुहराई जाती है और पूर्वोक्त प्रकार से शलाका कुण्ड भरा जाता है। (यहा तक सर्षप भरने की और रिक्त करने की विधियो मे कोई अन्तर नही है)।

जब शलाका कुण्ड पूर्णतया (शिखा-सहित) भर जाता है, तब एक सर्षप प्रतिशलाका कुण्ड मे डाला जाता है और शलाका कुण्ड मे से एक-एक सर्षप आगे के द्वीप-समुद्रो मे डाला जाता है और इस प्रकार शलाका कुण्ड को रिक्त कर दिया जाता है। जिस वलय मे शलाका कुण्ड का अन्तिम सर्षप डाला गया था, उस वलय के व्यास वाला नया अनवस्थित कुण्ड बनाया जाता है और पूर्वोक्त विधि से दूसरी बार शलाका कुण्ड को भरा जाता है। इस क्रिया की समाप्ति पर प्रतिशलाका कुण्ड मे दूसरा सर्षप डाला जाता है, भरे हुए शलाका कुण्ड के सर्षपो को आगे के वलयो मे डाल कर उसको रिक्त किया जाता है और पुन: नये-नये अनवस्थित कुण्डो की रचना के द्वारा पूर्वोक्त विधि से शलाका कुण्ड भरा जाता है। इस क्रिया को पुन:-पुन: दोहराने पर जब प्रतिशलाका कुण्ड भी भर जाता है, तब एक सर्षप महाशलाका कुण्ड मे डाला जाता है। प्रतिशलाका कुण्ड के सर्षपो को क्रमश आगे के वलयो मे डाल कर उसको रिक्त किया जाता है। भरा हुआ शलाका कुण्ड भी क्रमश आगे के वलयो मे सर्षपो को डाल कर रिक्त किया जाता है। इस प्रकार की क्रिया पूर्वोक्त विधि से दुहराने पर अन्त मे महाशलाका कुण्ड भी पूर्णतया भर जाता है। इस समय शलाका और प्रतिशलाका कुण्ड भी भरे हुए होते हैं। जिस वलय मे अन्तिम

सर्षप डाला जाता है, उसके व्यास का नया अनवस्थित कुण्ड बनाया जाता है और पूर्ण रूप से भर दिया जाता है। बाद मे भरे हुए इन चारो कुण्डो को एक स्थान मे रिक्त कर दिया जाता है। द्वीप-समुद्रो मे डाले गये सर्षप भी इन सर्षपो मे मिला दिये जाते हैं। इस प्रकार जो सर्षपो की राशि होती है, उसमे से एक सर्षप कम करने पर आने वाली सख्या को 'उत्कृष्ट सस्यात' कहा जाता है।

गाणितिक विवेचन

दिगम्बर-परम्परा की परिभाषा के गाणितिक विवेचन में दी गई सज्ञाए ज्यो की त्यो यहा पर उपयोग मे ली जाती हैं।

$$\text{त्रिज्या त्रि}_{०} = (१२२८८ \times १०^{११}) \text{ सर्षप}$$

$$\text{उत्सेध उ} = (२४७८४८६९ \times १०^{६}) \text{ सर्षप}$$

$$\text{क}_{०} = ६\,\text{त्रि}_{०}^{२}\text{उ} + \frac{४}{११}\pi\,\text{त्रि}_{०}^{३} \ldots\ldots\ldots\ldots (०)$$

$$= २.३४३ \times १०^{४५} \text{ लगभग}$$

$$\text{त्रि}_{१} = २^{(\text{क}_{०} - १)}\,\text{त्रि}_{०}$$

$$\text{क}_{१} = ६\,\text{त्रि}_{१}^{२}\text{उ} + \frac{४}{११}\pi\,\text{त्रि}_{१}^{३} \ldots\ldots\ldots\ldots (१)$$

$$\text{त्रि}_{२} = २^{(\text{क}_{०} + \text{क}_{१} - १)}\,\text{त्रि}_{०}$$

$$\text{क}_{२} = ६\,\text{त्रि}_{२}^{२}\,\text{उ} + \frac{४}{११}\pi\,\text{त्रि}_{२}^{३} \ldots\ldots\ldots\ldots (२)$$

$$\text{त्रि}_{३} = २^{(\text{क}_{०} + \text{क}_{१} + \text{क}_{२} - १)}\,\text{त्रि}_{०}$$

$$\text{क}_{३} = ६\,\text{त्रि}_{३}^{२}\text{उ} + \frac{४}{११}\pi\,\text{त्रि}_{३}^{३} \ldots\ldots\ldots\ldots (३)$$

$$\vdots$$

$$\text{त्रि}_{\text{क}_{०}-१} = २^{(\text{क}_{०} + \text{क}_{१} + \text{क}_{२} + \ldots\ldots + \text{क}_{\text{क}_{०}-२} - १)}\,\text{त्रि}_{०}$$

$$क_{क_{०}-१} = ६ \; त्रि^{२}_{क_{०}-१} उ + \frac{४}{९१} \pi \; त्रि^{३}_{क_{०}-१}$$

$श्र_{क_{०}-१}$ को रिक्त करने पर, अन्तिम सर्षप

$$क_{०} + क_{१} + क_{२} + \ldots\ldots + क_{क_{०}-१} \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। इस बार, शलाका कुण्ड मे $क_{०}$वां सर्षप डाला जा[...] और शलाका कुण्ड पूर्णतया भर जायेगा। इसलिए प्रतिशलाका कुण्ड मे [...] सर्षप डाला जायेगा। शलाका कुण्ड मे से एक-एक सर्षप आगे के द्वीप-स[...] मे डालने पर, अन्तिम सर्षप

$$क_{०} + क_{१} + क_{२} + \ldots\ldots + क_{क_{०}-१} + क_{०} \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। इस वलय के क्रमांक को इस प्रकार भी लिखा [...] सकता है—

$$२क_{०} + क_{१} + क_{२} + \ldots\ldots + क_{क_{०}-१}$$

अब, $श्र_{क_{०}}$ बनाया जायेगा। अत

$$त्रि_{क_{०}} = २^{(२क_{०} + क_{१} + क_{२} + \ldots + क_{क_{०}-१} - १)} त्रि_{०}$$

$$क_{क_{०}} = ६ \; त्रि^{२}_{क_{०}} उ + \frac{४}{९१} \pi \; त्रि^{३}_{क_{०}} \quad \ldots\ldots\ldots \text{(क}$$

$$क_{क_{०}+१} = ६ त्रि^{२}_{क_{०}+१} उ + \frac{४}{९१} \pi त्रि^{३}_{क_{०}+१}$$

$$त्रि_{२क_{०}-१} = २^{(२क_{०} + क_{१} + क_{२} + \ldots + क_{२क_{०}-२} - १)} त्रि_{०}$$

$$\text{क}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}} = \text{६ त्रि}^{\text{२}}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}}\text{उ} + \frac{\text{४}}{\text{९१}}\pi\ \text{त्रि}^{\text{३}}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}} \text{ ....}(\text{२क}_\text{०}-\text{१})$$

इमका अन्तिम सर्पप,

$$\text{२ क}_\text{०}+\text{क}_\text{१}+\text{क}_\text{२}+\text{........}+\text{क}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}} \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। अब, शलाका कुण्ड मे $\text{क}_\text{०}$ सर्षप डालने पर, यह भर जाएगा। अत प्रतिशलाका कुण्ड मे दूसरा सर्षप डाला जायेगा। शलाका कुण्ड को द्वीप–ममुद्रो मे रिक्त करने पर अन्तिम सर्षप

$$\text{२ क}_\text{०}+\text{क}_\text{१}+\text{क}_\text{२}+\quad\text{....क}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}}+\text{क}_\text{०} \text{ वे}$$

वलय मे डाला जायेगा। अर्थात्

$$\text{३ क}_\text{०}+\text{क}_\text{१}+\text{क}_\text{२}\text{ ...}\qquad+\text{क}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}} \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। अव, $\text{अ}_{\text{२क}_\text{०}}$ वनाया जायेगा

$$\text{त्रि}_{\text{२क}_\text{०}} = \text{२}^{(\text{३ क}_\text{०}+\text{क}_\text{१}+\text{क}_\text{२}\qquad+\text{क}_{\text{२क}_\text{०}-\text{१}}-\text{१})}\text{त्रि}_\text{०}$$

$$\text{क}_{\text{२क}_\text{०}} = \text{६ त्रि}^{\text{२}}_{\text{२क}_\text{०}}\text{उ} + \frac{\text{४}}{\text{९१}}\pi\ \text{त्रि}^{\text{३}}_{\text{२क}_\text{०}} \text{.... ....}(\text{२क}_\text{०})$$

इस क्रिया को पुन –पुन. दुहराने पर जव $\text{अ}_{\text{क}_\text{०}^\text{२}-\text{१}}$ रिक्त होगा, तब शलाका कुण्ड में एक सर्षप डालने पर $\text{क}_\text{०}$ वी बार यह भर जायेगा। तब प्रतिशलाका कुण्ड मे एक सर्षप डालने पर प्रतिशलाका कुण्ड प्रथम बार भरेगा। अत महाशलाका कुण्ड मे प्रथम सर्षप डाला जायेगा। क्योकि $\text{अ}_{\text{क}_\text{०}^\text{२}-\text{१}}$ का अन्तिम सर्षप

$$\text{क}_\text{०}^\text{२}+\text{क}_\text{१}+\text{क}_\text{२}\qquad.\quad+\text{क}_{\text{क}_\text{०}^\text{२}-\text{१}}$$

वलय मे डाला गया था। अत प्रतिशलाका कुण्ड को द्वीप–ममुद्रो मे रिक्त करने पर अन्तिम सर्षप

$$क_०^२ + क_१ + क_२ \ldots\ldots\ldots\ldots + क_{क_०^२ - १} + क_० \text{ वें}$$

वलय मे डाला जायेगा। शलाका कुण्ड को भी रिक्त करना पडेगा। इसका अन्तिम सर्षप

$$क_०^२ + क_१ + क_२ + \ldots\ldots\ldots क_{क_०^२ - १} + क_० + क_० \text{ वें}$$

$$= क_०^२ + २क_० + क_१ + क_२ + \ldots\ldots\ldots + क_{क_०^२ - १}$$

वें वलय मे डाला जायेगा। अब $अ_{क_०^२}$ बनाया जायेगा।

$$त्रि_{क_०^२} = २^{(क_०^२ + २क_० + क_१ + क_२ + \ldots\ldots + क_{क_०^२-१} - १)} त्रि_०$$

$$क_{क_०^२} = ६ त्रि^२_{क_०^२} उ + \frac{४}{१६}\pi\, त्रि^३_{क_०^२} \ldots\ldots\ldots\ldots \quad (क_०^२)$$

$$\vdots$$

$$त्रि_{२क_०^२} = २^{(२क_०^२ + २क_० + क_१ + क_२ + \ldots\ldots + क_{२क_०^२-१} - १)} त्रि_०$$

$$क_{२क_०^२} = ६ त्रि^२_{२क_०^२} उ + \frac{४}{१६}\pi\, त्रि^३_{२क_०^२} \ldots\ldots\ldots\ldots \quad (२क_०^२)$$

$$\vdots$$

$$त्रि_{(क_०-१)क_०^२} = २^{[(क_०-१)क_०^२ + (क_०-१)\, २क_० + क_१ + क_२ + \ldots\ldots + क_{(क_०-१)क_०^२-१} - १]} त्रि_०$$

$$क_{(क_०-१)क_०^२} = ६ त्रि^२_{(क_०-१)क_०^२} उ + \frac{४}{१६}\pi\, त्रि^३_{(क_०-१)क_०^२} \ldots\ldots\ldots\ldots [(क_०-१)क_०^२]$$

:

:

.

$$त्रि_{(क_0^3-१)} = २^{[(क_0-१)क_0^2+(क_0-१)क_0+(क_0-१) \; २क_0+क_1+क_2+\ldots\ldots+क_{(क_0^3-१)}-१]}त्रि_0$$

$$क_{क_0^3-१} = ६\ त्रि^2_{क_0^3-१}{}^{3}+ १^{४}_{१}\pi\ त्रि^3_{क_0^3-१}\ldots\ldots\ \ldots\ldots(क_0^3-१)$$

जब $अ_{क_0^3-१}$ कुण्ड को रिक्त किया जाता है, तो अन्तिम सर्षप

$$(क_0-१)क_0^2+(क_0-१)क_0+(क_0-१)२क_0+क_1+क_2+\ldots+क_{क_0^3-१}\ वें$$

वलय मे डाला जाता है। अर्थात्

$$क_0^3+२क_0^2-३क_0+क_1+क_2+\ \ldots\ldots\ +क_{क_0^3-१}\ वें$$

वलय मे डाला जाता है।

इस समय शलाका कुण्ड मे एक सर्षप डालने से शलाका कुण्ड भर जाता है। अत प्रतिशलाका कुण्ड मे एक सर्षप डाला जाता है। परिणामस्वरूप प्रतिशलाका कुण्ड भी भर जाता है। अतः महाशलाका कुण्ड मे एक सर्षप डाला जाता है और इस बार महाशलाका कुण्ड भी भर जाता है। अत नया कुण्ड $अ_{क_0^3}$ बनाया जाता है।

$$त्रि_{क_0^3}=२^{(क_0^3+२क_0^2+३क_0+क_1+क_2+\ldots+क_{क_0^3-१}-१)}त्रि_0$$

$$क_{क_0^3}=६\ त्रि^2_{क_0^3}+१^{४}_{१}\pi त्रि^3 क_0^3\ \ldots\ \ldots\ldots\ (क_0^3)$$

चारो कुण्ड (शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और $अ_{क_0^3}$) मे रहे हुए सर्षपो की संख्या

$= ३ क_० + क_{क_०^३}$

द्वीप–समुद्र मे डाले गये सर्षपो की सख्या

$= क_०^३ + २क_०^२ - ३क_० + क_१ + क_२ + \ldots \ldots + क_{क_०^३ - १}$

अतः उ० स०

$$= \left[३क_० + क_{क_०^३} + क_०^३ + २क_०^२ - ३क_० + क_१ + क_२ + \ldots + क_{क_०^३ - १} \right] - १$$

$$= \left[क_{क_०^३} + \left\{ \left(क_०^३ + २क_०^२ \right) + \left(क_१ + क_२ + \ldots + क_{क_०^३ - १} \right) \right\} \right] - १$$

{ } मे रही हुई सख्या $क_{क_०^३}$ की अपेक्षा मे वहुत छोटी है। फिर भी यह उ० स० की दीर्घता वढाने मे अवश्य योग देती है। जैसे पहले वताया गया था, $क_{क_०^३}$ का सही-सही मान यद्यपि क्रमाक (०) से ($क_०^३$) समीकरणो के द्वारा निश्चित रूप से परिभाषित है, फिर भी व्यावहारिक गणित के द्वारा निकालना असम्भव लगता है।

श्वेताम्वर–परम्परा से आने वाला $क_{क_०^३}$ का मान दिगम्वर-परम्परा से आने वाले इसके मान से अधिक होगा।

असख्यात

'असंख्यात' के मुख्य तीन भेद हैं :

१. परीत–असख्यात (प० अ०)

२. युक्त–असख्यात (यु० अ०)

३. असख्यात–असख्यात (अ० अ०)

इनमे से प्रत्येक को पुन तीन भागो मे विभक्त किया गया है

१. जघन्य
२ मध्यम
३ उत्कृष्ट

इस प्रकार असंख्यात के नव भेद हो जाते हैं।

१. जघन्य-परीत-असंख्यात (ज० प० अ०).

उत्कृष्ट असंख्यात के मान मे एक बढाने से 'ज० प० अ०' का मान प्राप्त होता है।

अर्थात्
ज० प० अ० = (उ० स०) + १

२. मध्यम-परीत-असंख्यात (म० प० अ०) :

[(ज० प० अ०) + १] से लेकर [(उ० प० अ०) − १] तक की संख्याएं म० प० अ० कहलाती हैं। इस प्रकार,

[(ज० प० अ०) + १] ≤ म० प० अ० ≤ [(उ० प० अ०) − १]

३ उत्कृष्ट-परीत-असंख्यात (उ० प० अ०)

[(ज० यु० अ०) − १] को उ० प० अ० कहा जाता है।

उ० प० अ० = [(ज० यु० अ०) − १]
४ जघन्य-युक्त-असंख्यात (ज० यु० अ०) .
[१] अभ्यास-गुणित ज० प० अ० को ज० यु० अ० कहते हैं : अर्थात्

---

१ यावत् प्रमाणो यो राशिर्भवेत् स्वरूपसंख्यया।
सन्न्यस्य तावतो वारान्, गुणितोऽभ्यास उच्यते ॥

—लोकप्रकाश, १,१६५

जिस संख्या को अभ्यास-गुणित करना हो, उस संख्या को उतनी बार स्थापित करके, परस्पर उनको गुणने पर 'अभ्यास-गुणित संख्या' प्राप्त होती है।

$= ३ क_० + क_{क_०^३}$

द्वीप-समुद्र मे डाले गये सर्षपो की सख्या

$= क_०^३ + २क_०^२ - ३क_० + क_१ + क_२ + \dots\dots + क_{क_०^३-१}$

अत. उ० स०

$$= \left[३क_० + क_{क_०^३} + क_०^३ + २क_०^२ - ३क_० + क_१ + क_२ + \dots + क_{क_०^३-१} \right] - १$$

$$= \left[क_{क_०^३} + \left\{ \left(क_०^३ + २क_०^२ \right) + \left(क_१ + क_२ + \dots\dots + क_{क_०^३-१} \right) \right\} \right] - १$$

{ } मे रही हुई सख्या $क_{क_०^३}$ की अपेक्षा मे बहुत छोटी है। फिर भी यह उ० स० की दीर्घता बढाने मे अवश्य योग देती है। जैसे पहले बताया गया था, $क_{क_०^३}$ का सही-सही मान यद्यपि क्रमाक (०) से ($क_०^३$) समीकरणो के द्वारा निश्चित रूप से परिभाषित है, फिर भी व्यावहारिक गणित के द्वारा निकालना असम्भव लगता है।

श्वेताम्बर-परम्परा से आने वाला $क_{क_०^३}$ का मान दिगम्बर-परम्परा से आने वाले इसके मान से अधिक होगा।

असख्यात

'असंख्यात' के मुख्य तीन भेद हैं .

१. परीत-असख्यात (प० अ०)

२. युक्त-असख्यात (यु० अ०)

३. असख्यात-असख्यात (अ० अ०)

इनमे से प्रत्येक को पुन तीन भागो मे विभक्त किया गया है'

है।[1] अर्थात्

(ज० अ० अ०)=(ज० यु० अ०)^{2}

८. **मध्यम-असंख्यात-असंख्यात** (म० अ० अ०) :

[(ज० अ० अ०)+१] से लेकर [(उ० अ० अ०)−१]

तक की संख्याए म० अ० अ० कही जाती हैं। अर्थात्

[(ज० अ० अ०)+१]≤म० अ० अ०≤[(उ० अ० अ०) − १]

९. **उत्कृष्ट-असंख्यात-असंख्यात** (उ० अ० अ०) :

इसकी परिभाषा चार प्रकार से मिलती है ·

१ ज० अ० अ० को अभ्यास-गुणित करके एक कम करने पर उ० अ० अ० का मान प्राप्त होता है।[2] अर्थात्

उ० अ० अ० = { (ज० अ० अ०)$^{(\text{ज० अ० अ०})}$ − १ }

२. ज० अ० अ० का वर्ग करने से जो राशि उत्पन्न हो, उसका पुनः वर्ग किया जाता है। लब्धराशि का वर्ग करने से जो राशि उत्पन्न हो, उसमे निम्न असख्यात[3] मान वाली दस राशिया जोड कर पुन उक्त प्रकार से

---

१. ज त जहण्णजुत्तासखेज्जय त सय वग्गिदो उक्कसजुत्तासखेज्जय अदिच्छिदूण जहण्णमसखज्जासखेज्जय गतूण पडिदं।

—तिलोयपण्णत्ती, ४—३१०

जघन्ययुक्तासख्यात वर्गितं रूपवर्जितम्।
उत्कृष्टयुक्तासख्यात प्राप्तरूपं प्ररूपितम्॥
एकरूपेण युक्त तदसख्यासख्यक लघु।
(यह अभिप्राय मूलतः कर्मग्रन्थ का है)

—लोकप्रकाश, १—१८६, १८७

२. जघन्यासख्यासख्यात भवेदभ्यासताडितम्।
एकरूपोनित ज्येष्ठासख्यासख्यातक स्फुटम्॥

—लोकप्रकाश, १—१७५

जहण्णय असखेज्जासखेज्ज्यमेत्ताण रासीण अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसय असखेज्जासखेज्जय होइ।

—अनुयोगद्वार सूत्र, 'असख्येयापरूयेयक' विषय

३ ये राशिया किस प्रकार के 'असख्यात' मे हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख नही है। अनुमान से इन राशियो का मान 'म० अ० अ०' है।

$$\text{ज० युु० अ०} = (\text{ज० प० अ०})^{(\text{ज० प० अ०})}$$

५. मध्यम-युक्त-असंख्यात (म० यु० अ०) ·

[(ज० यु० अ०) + १] से लेकर [(उ० यु० अ०)-१]

तक की सख्याए 'म० यु० अ०' कहलाती हैं। इस प्रकार,

[(ज० यु० अ०) + १] ⩽ म० यु० अ० ⩽ [(उ० यु० अ०)-१]

६. उत्कृष्ट-युक्त-असंख्यात (उ० यु० अ०)

[(ज० अ० अ०)-१] को 'उ० यु० अ०' कहा जाता है। अर्थात्

उ० यु० अ० = [(ज० अ० अ०) -१]

७ जघन्य-असंख्यात-असंख्यात (ज० अ० अ०) ·

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है ·

१. ज० यु० अ० को अभ्यास-गुणित करने से ज० अ० अ० का मान प्राप्त होता है।[1] अर्थात्

$$(\text{ज० अ० अ०}) = (\text{ज० यु० अ०})^{(\text{ज० यु० अ०})}$$

२ ज० यु० अ० का वर्ग करने से ज० अ० अ० का मान प्राप्त होता

---

१ जघन्ययुक्ता सख्यात प्राग्वदभ्यासताडितम् ।
हीनमेकेन रूपेण युक्तासख्यातक गुरु ॥
एतदेव रूपयुक्तमसख्यासख्यक लघु ।

—लोकप्रकाश १,१७३-१७४

जहण्णएण जुत्तासखेज्जएण आवलिया गुणिया अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णय असखेज्जासखेज्जय होइ ।

—अनुयोगद्वार सूत्र 'असखेयासख्येयक' विषय ।

९ प्रत्येक शरीरी जीव[1]

१० अनन्त (निगोद) के जीवो के शरीर[1]

इस प्रकार, यदि जोडी जाने वाली राशियो की सख्या 'म' हो, तो

$$\text{उ० अ० अ०} = [\{(\text{ज० अ० अ०})^{८} + \text{म}\}^{८} - १]$$

३ तीसरी परिभाषा इस प्रकार से है[2].

ज० अ० अ० को तीन बार[3] वर्गित-सवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होती है, उसमे इन छ राशियो को मिलाना चाहिए :

१ धर्म-द्रव्य के प्रदेश

२ अधर्म-द्रव्य के प्रदेश

३ लोककाश के प्रदेश

४ एक जीव के प्रदेश

---

१ ससारी जीवो के दो प्रकार हैं :

(१) प्रत्येक शरीरी जीव—एक शरीर मे एक जीव रहे, वह 'प्रत्येक शरीरी' जीव कहलाता है। इनकी सख्या 'असख्यात' है।

(२) अनन्तकायिक (निगोद) जीव—एक शरीर मे अनन्त जोव रहे, वे 'अनन्तकाय' जीव हैं। ऐसे जीवो के शरीरो की सख्या 'असख्यात' है।

२ देखें, **षट्खण्डागम**, पुस्तक ३, प्रस्तावना पृ० ३३

३ किसी भी राशि को एक बार वर्गित-सवर्गित (व-स) करने का अर्थ है—उस राशि को एक बार स्वघातित करना। दो बार व-स करने का अर्थ है—एक बार व-स करने से प्राप्त राशि को स्वघातित करना। तीन बार व-स करने का अर्थ है—दो बार व-स करने से प्राप्त राशि को स्वघातित करना।इस प्रकार,

'क' को एक बार व-स करने से $\text{क}^{\text{क}}$ प्राप्त होता है।

'क' को दो बार व-स करने से $(\text{क}^{\text{क}})^{(\text{क}^{\text{क}})}$

$$= \text{क}^{\text{क} \times \text{क}^{\text{क}}}$$

$$= \text{क}^{\text{क}^{\text{क}+१}}$$

प्राप्त होता है।

तीन बार वर्ग किया जाता है। लब्धराशि मे से एक घटाने पर उ० अ० अ० का मान प्राप्त होता है।[1] जोडी जाने वाली राशिया .[2]

१ लोकाकाश के प्रदेश[3]

२ धर्मास्तिकाय के प्रदेश[3]

३ अधर्मास्तिकाय के प्रदेश[3]

४. एक जीव के प्रदेश[3]

५ स्थिति बन्ध के कारणभूत अध्यवसाय-स्थान[4]

६ अनुभाग बन्ध के कारणभूत अध्यवसाय-स्थान[4]

७. मनोयोग, वचनयोग और काययोग के अविभाज्य विभाग[5]

८ कालचक्र के समय[6]

---

१. **लोकप्रकाश,** १—१८८ से १९६
यह परिभाषा **कर्मग्रन्थ** के अनुसार है। और देखें, आत्मारामजी महाराज द्वारा सम्पादित **अनुयोगद्वार सूत्र,** उत्तरार्द्ध, पृ० २४३ पर टिप्पण।

२ इन राशियो की परिभाषायें जैन-दर्शन के पारिभाषिक शब्दो मे दी गई हैं। इनको समझने के लिए जैन-दर्शन के अन्यान्य मन्तव्यो का ज्ञान आवश्यक है।

३ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेशो की सख्या समान ही है। प्रदेश की व्याख्या के लिए देखें, परिशिष्ट १।

४ आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध 'बन्ध' कहलाता है। उनके काल-अवधारण को 'स्थिति बन्ध' और विपाक (तीव्रता-मन्दता) को 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं। किसी भी कर्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति और अनुभाग के बीच असख्य मध्यम स्थितिया और अनुभाग हैं। इनके हेतुभूत आत्मा के अध्यवसाय (सूक्ष्म परिणाम) भी असख्य है और ये लोकाकाश की प्रदेश-सख्या से असख्य गुने हैं।

५ योग का अर्थ है-—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति। एतद्विषयक वीर्य के सर्वज्ञ द्वारा कल्पित प्रतिविशिष्ट अविभागी अवयवो की सख्या भी असख्यात हैं।

६ २० कोटाकोटि अद्धा सागरोपम का एक कालचक्र होता है। इसके समयो की सख्या के लिए देखें, परिशिष्ट सख्या २।

इस राशि को यदि $\overset{|}{\text{ज}}$ कहे, तो इसको तीन बार व–स करने पर,

$$\begin{array}{l} \left(\overset{|}{\text{ज}}+\text{१}+\overset{|}{\text{ज}}\right)^{\overset{|}{\text{ज}}+\text{१}} \\ \;| \\ \;\text{ज} \\ | \\ \text{ज} \end{array}$$

इसमे जोडी जाने वाली राशि म_{2} हो, तो

$$\begin{array}{l} \left(\overset{|}{\text{ज}}+\text{१}+\overset{|}{\text{ज}}\right)^{\overset{|}{\text{ज}}+\text{१}} \\ \;| \\ \;\text{ज} \\ | \\ \text{ज} \end{array} + \text{म}_{2}$$

इस राशि को यदि $\overset{||}{\text{ज}}$ कहे, तो

$$\begin{array}{l} \left(\overset{||}{\text{ज}}+\text{१}+\overset{||}{\text{ज}}\right)^{\overset{||}{\text{ज}}+\text{१}} \\ \;|| \\ \;\text{ज} \\ || \\ \text{उ० अ० अ०} = \text{ज} \end{array}$$

४. चौथी परिभाषा इस प्रकार है[1] :

ज० अ० अ० को ज० अ० अ० बार व–स करना चाहिए। उससे उत्पन्न राशि को उतनी बार व-स करना चाहिए। उससे जो राशि उत्पन्न हो,

---

१ तिलोयपण्णत्ती, ४—३११
त्रिलोकसार, ३८—४५

५ अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव[1]

६ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव[1]

अब जो राशि उत्पन्न हो, उसको पुनः तीन बार व–स करना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि मे इन चार राशियो को मिलाना चाहिए :

१ कल्पकाल (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) के समय

२ स्थिति–बन्ध के अध्यवसाय स्थान

३. अनुभाग–बन्ध के अध्यवसाय स्थान

४ मन, वचन व काययोग के उत्कृष्ट अविभागी प्रतिच्छेद

इससे जो राशि उत्पन्न हो, उसको पुनः तीन वार व–स करना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि मे मे एक घटाने पर 'उ० अ० अ०' का मान प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि ज० अ० अ० = ज हो तो तीन बार व–स करने पर,

$$\text{ज}^{\text{ज}^{\left(\text{ज}+1+\text{ज}^{\text{ज}+1}\right)}}$$

राशि उत्पन्न होती है। इसमे जोडे जाने वाली राशि यदि म_1 हो, तो

$$\text{ज}^{\text{ज}^{\left(\text{ज}+1+\text{ज}^{\text{ज}+1}\right)}} + \text{म}_1$$

'क' को तीन वार व–स करने से $\left(\text{क}^{\text{क}^{\text{क}+1}}\right)^{\left(\text{क}^{\text{क}^{\text{क}+1}}\right)}$

$$= \text{क}^{\left(\text{क}^{\text{क}+1} \times \text{क}^{\text{क}^{\text{क}+1}}\right)}$$

$$= \text{क}^{\text{क}^{\left(\text{क}+1+\text{क}^{\text{क}+1}\right)}}$$

१ इनकी सख्या लोकाकाश के प्रदेशो से असख्यात गुनी है।

तीन बार व-स करने से $\overset{||}{\text{क}_{\text{२}}}^{\overset{||}{\text{क}_{\text{२}}}} = \overset{||}{\text{क}_{\text{३}}}$ (मान लो)

⋮

$\text{ज}_{\text{२}}$ बार व-सं करने से $\overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{२}}-\text{१}}}^{\overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{२}}-\text{१}}}} = \overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{२}}}}$ (मान लो)

इस राशि को $\text{ज}_{\text{३}}$ लिखें, तो इसको

एक बार व-स करने से $\text{ज}_{\text{३}}^{\text{ज}_{\text{३}}} = \overset{|||}{\text{क}_{\text{१}}}$ (मान लो)

दो बार व-स करने से $\overset{|||}{\text{क}_{\text{१}}}^{\overset{|||}{\text{क}_{\text{१}}}} = \overset{|||}{\text{क}_{\text{२}}}$ (मान लो)

तीन बार व-स करने से $\overset{|||}{\text{क}_{\text{२}}}^{\overset{|||}{\text{क}_{\text{२}}}} = \overset{|||}{\text{क}_{\text{३}}}$ (मान लो)

⋮

$\text{ज}_{\text{३}}$ बार व-स करने से $\overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{३}}-\text{१}}}^{\overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{३}}-\text{१}}}} = \overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_{\text{३}}}}$ (मान लो)

इस राशि को $\text{ज}_{\text{४}}$ लिखें और इसमे जोडी जाने वाली राशि को $\text{म}_{\text{१}}$ लिखें, तो

$(\text{ज}_{\text{४}} + \text{म}_{\text{१}}) = \overset{|}{\text{ज}_{\text{१}}}$ (मान लो)

उसको उतनी वार व-स करना चाहिए।[1] इस प्रकार प्राप्त राशि मे पूर्वोक्त छ राशियो को[2] मिलाना चाहिए । इस राशि को पुनः 'शलाकात्रयनिष्ठापन' विधि से व-सं करना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त राशि मे पूर्वोक्त चार राशियो को[3] मिलाना चाहिए। इससे उत्पन्न राशि को पुनः 'शलाकात्रयनिष्ठापन' विधि से व-स करना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न राशि मे से एक घटाने पर अ० अ० अ० का मान प्राप्त होता है। इस प्रकार, यदि

$ज० \; अ० \; अ० = ज_1$ लिखें तो इसको

एक वार व-स करने से $ज_1^{\;ज_1} \,| = क_1$ (मान लो)

दो वार व-स करने से $\left|(क_1)^{\left|(क_1)^{|}\right.}\right| = क_2$ (मान लो)

तीन वार व-स करने से $\left|क_2^{\left|क_2^{|}\right.}\right| = क_3$ (मान लो)

⋮

$ज_1$ वार व-स करने से $\left|क_{ज_1-१}^{\left|क_{ज_1-१}^{|}\right.}\right| = क_{ज_1}$ (मान लो)

इस राशि को $ज_2$ लिखें तो इसको

एक वार व-स करने से $ज_2^{\;ज_2} \,\| = क_1$ (मान लो)

दो वार व-स करने से $\left\|क_1^{\left\|क_1^{\|}\right.}\right\| = क_2$ (मान लो)

---

१ देखें, तीसरी परिभाषा पृ० २८३

२ इस विधि को 'शलाकात्रयनिष्ठापन' विधि कहते है।

३ देखे, तीसरी परिभाषा पृ० २८३

तीन बार व-स करने से $\overset{||}{\text{क}_2}^{\overset{||}{\text{क}_2}} = \overset{||}{\text{क}_3}$ (मान लो)

⋮

ज_2 बार व-स करने से $\overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_2 - 1}}^{\overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_2 - 1}}} = \overset{||}{\text{क}_{\text{ज}_2}}$ (मान लो)

इस राशि को ज_3 लिखें, तो इसको

एक बार व–स करने से $\text{ज}_3^{\text{ज}_3} = \overset{|||}{\text{क}_1}$ (मान लो)

दो बार व–स करने से $\overset{|||}{\text{क}_1}^{\overset{|||}{\text{क}_1}} = \overset{|||}{\text{क}_2}$ (मान लो)

तीन बार व–स करने से $\overset{|||}{\text{क}_2}^{\overset{|||}{\text{क}_2}} = \overset{|||}{\text{क}_3}$ (मान लो)

⋮

ज_3 बार व–स करने से $\overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_3 - 1}}^{\overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_3 - 1}}} = \overset{|||}{\text{क}_{\text{ज}_3}}$ (मान लो)

इस राशि को ज_4 लिखें और इसमे जोडी जाने वाली राशि को म_1 लिखें, तो

$(\text{ज}_4 + \text{म}_1) = \overset{|}{\text{ज}_1}$ (मान लो)

इसको पुनः 'शलाकात्रयनिष्ठापन' विधि से व–स करने पर पूर्व विधि के अनुसार क्रमश. $\overset{|}{\text{ज}}_2$, $\overset{|}{\text{ज}}_3$, $\overset{|}{\text{ज}}_4$ प्राप्त होते हैं। अन्तिम राशि $\overset{|}{\text{ज}}_4$ मे जोडी जाने वाली राशि को म$_2$ लिखें तो,

$$\overset{|}{\text{ज}}_4 + \text{म}_2 = \overset{||}{\text{ज}}_1$$

इसको पुन 'शलाकात्रयनिष्ठापन' विधि से व–स करने पर पूर्व विधि के अनुसार क्रमशः $\overset{||}{\text{ज}}_2$, $\overset{||}{\text{ज}}_3$ और $\overset{||}{\text{ज}}_4$ प्राप्त होते हैं, अतः

$$\text{उ० अ० अ०} = \overset{||}{\text{ज}}_4 - १$$

उक्त चार परिभाषाओ मे पहली दो श्वेताम्बर–परम्परा की हैं और शेष दो दिगम्बर–परम्परा की।

अनन्त

अनन्त के मुख्य तीन भेद हैं :

१ परीत–अनन्त (प० अन०)
२ युक्त–अनन्त (यु० अन०
३ अनन्त–अनन्त (अ० अन०)

इनमे से प्रत्येक को पुन तीन विभागो मे विभाजित किया गया है :

१. जघन्य
२. मध्यम
३. उत्कृष्ट

१. जघन्य–परीत–अनन्त (ज० प० अन०) :

उ० अ० अ० के मान मे एक घटाने से ज० प० अन० का मान प्राप्त होता है। अर्थात

ज० प० अन० = [(उ० अ० अ०) + १]

२ **मध्यम–परीत–अनन्त** (म० प० अन०)

[(ज० प० अन० + १)] से लेकर [(उ० प० अन०) – १] तक के मानो को म० प० अन० कहते हैं।

अर्थात्

[(ज० प० अन०) + १] ≤ म० प० अन० ≤ [(उ० प० अन०)–१]

३. **उत्कृष्ट–परीत–अनन्त** (उ० प० अन०)

[(ज० यु० अन०)–१] को उ० प० अन० कहा जाता है।

उ० प० अन० = [(ज० यु० अन०) – १

४ **जघन्य–युक्त–अनन्त** (ज० यु० अन०) :

ज० प० अन० को अभ्यास–गुणित करने से ज० यु० अन० का मान प्राप्त होता है।[1]

अर्थात्

ज० यु० अन० = (ज० प० अन०)$^{(\text{ज० प० अन०})}$

५. **मध्यम-युक्त-अनन्त** (म० यु० अन०) :

[(ज० यु० अन०) + १] से लेकर [(उ० यु० अन०) –१] तक के मान म० यु० अन० कहलाते हैं।

अर्थात्

[(ज०यु० अन०) + १] ≤ म०यु०अन० ≤ [उ०यु० अन०) –१]

६ **उत्कृष्ट-युक्त-अनन्त** (उ० यु० अन०)

[(ज० अन० अन०) –१] को उ० यु० अन० कहते हैं।

अर्थात्

उ० यु० अन० = [(ज० अन० अन०) –१]

७. **जघन्य-अनन्त-अनन्त** (ज० अन० अन०) :

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है :

---

१. अभव्य जीवो की राशि का मान भी ज० यु० अन० जितना ही है। जो जीव मोक्ष पाने की योग्यता रखते हैं, वे भव्य जीव कहलाते है और शेष अभव्य जीव। अभव्य जीव कभी भी मोक्ष नही जा सकते।

१ (ज० यु० अन०) को अभ्यास-गुणित करने से ज० अन० अन० का मान प्राप्त होता है।[1]

अर्थात्

$$\text{ज० अन० अन०} = (\text{ज० यु० अन०})^{(\text{ज० यु० अन०})}$$

२ ज० यु० अन० को वर्ग करने से ज० अन० अन० का मान प्राप्त होता है।[2]

अर्थात्

$$\text{ज० अन० अन०} = (\text{ज० यु० अन०})^{2}$$

८ **मध्यम–अनन्त–अनन्त** (म० अन० अन०)

इसकी परिभाषा दो प्रकार से है .

१. [(ज० अन० अन०) + १] से लेकर आगे सभी संख्या म० अन० अन० कहलाती हैं।[3]

अर्थात्

---

१ युक्तानन्त तज्जघन्यमभ्यासपरिताडितम् ।
निरेकरूपमुत्कृष्टयुक्तानन्तकमाहितम् ॥
अत्रैकरूपप्रक्षेपे स्यादनन्तानन्तक लघु ।

—लोकप्रकाश, १–१७६, १८०

जहण्णएण जुत्ताणतएण अभवसिद्धिया गुणिया अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णय अणतारणतय होइ ।

—अनुयोगद्वार सूत्र, 'अनन्त' विषय

२ तदा जहण्णजुताणतय मय वग्गिद उक्कसजुताणतय अदिच्छिदूण जहण्णमणताणतय गतूण पडिद ।

—तिलोयपण्णत्ती, ४–३१२

जघन्ययुक्तानन्ते च वर्गिते रूपवर्जिते ।
स्याद्युक्तानन्तमुत्कृष्टमित्युक्त पूर्वसूरिभि : ॥
अत्रैकरूपप्रक्षेपादनन्तानन्तक लघु ।

—लोकप्रकाश, १–२००, २०१

(यह अभिप्राय **कर्मग्रन्थ** का है)

३ अस्माद्यदधिक मध्यानन्तानन्त च तत्समम् ।
उत्कृष्टानन्तानन्त तु नास्ति सिद्धान्तिना मते ।

—लोकप्रकाश, १—१८०, १८१ ।

तेण परं अजहण्णमनुक्कोसयाइं, ठाणाइ से त ठाणणा संखा ।

—अनुयोगद्वार सूत्र, 'अनन्त' विषय

म० अन० अन० $\geqslant$ ज० अन० अन०

इस अभिप्राय के अनुसार उ० अन० अन० का मान नही है।

२. [(ज० अन० अन०) + १] से लेकर [(उ० अन० अन०) – १] तक के मान म० अन० अन० कहलाते हैं।[1]

अर्थात्

[(ज० अन० अन०) + १] $\leqslant$ म० अन० अन० $\leqslant$ [(उ० अन० अन०) – १]

६ **उत्कृष्ट-अनन्त-अनन्त** (उ० अन० अन०)

श्वेताम्बर-आगम-परम्परा के अनुसार इसका अस्तित्व नही है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार तथा **कर्मग्रन्थ** के अनुसार इसकी परिभाषाए भिन्न-भिन्न रूप से मिलती हैं। दिगम्बर-परम्परा मे भी वर्गित-सवर्गित की परिभाषा के भेद से और प्रक्षेपित राशियो के भेद से इसके तीन रूप हो जाते हैं। यहा चारो परिभाषाए दी जाती हैं।

१ ज० अन० अन० का तीन बार वर्ग (अर्थात् अष्ट-घात) करके निम्न अनन्त[2] मानवाली छ: राशिया उसमे मिलानी चाहिए.

१ वनस्पतिकाय के जीव

२ निगोद के जीव

३ सिद्ध आत्माए [3]

४. पुद्गल के परमाणु

५. सर्वकाल के समय

६. सर्व अलोकाकाश के प्रदेश [4]

---

१ **तिलोयपण्णत्ती**, ४—३१३।

प्रागवदेतदपि ज्ञेय मध्यमुत्कृष्टकावधि ।

—**लोकप्रकाश**, १—२०१।

(यह अभिप्राय **कर्मग्रन्थ** का है)

२ इनका मान म० अन० अन० होना चाहिए।

३. जो आत्माए कर्म-विमुक्त हो जाती हैं, वे 'सिद्ध' कहलाती हैं।

४ सिद्ध आत्माओ की सख्या अनन्त है, पर सम्पूर्ण लोक के सर्व जीवो की कुल सख्या से अनन्तगुना न्यून है। निगोद के जीवो की सख्या सिद्धो की सख्या से अनन्तगुनी अधिक है। वनस्पतिकाय के जीवो की सख्या भी सिद्धोकी सख्या से अनन्त गुनी अधिक है। सम्पूर्ण विश्व मे समाहित

इस प्रकार उत्पन्न राशि का पुन तीन बार वर्ग करके केवलज्ञान और केवलदर्शन के अनन्त [1] पर्यायो की राशि को उसमे मिलाना चाहिए । इस प्रकार से उत्पन्न राशि को 'उ० अन० अन०' कहते हैं । इस मान के पदार्थ का अभाव होने से यह मान व्यवहार मे उपयोगी नही है । [2]

२ [3] ज० अ० अ० का तीन बार व–स करके, उत्पन्न राशि मे उपरोक्त छ राशिया मिलानी चाहिए। उत्पन्न राशि का पुन तीन बार व–स करके उसमे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सम्बन्धी अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेद मिला देना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न राशि को पुन. तीन बार व–स करने से उ० अ० अ० का मान प्राप्त होता है । [4] इस प्रकार प्राप्त मान 'केवलज्ञान' प्रमाण होता है । उ० अ० अ० की परिभाषा–३ मे प्रयुक्त गणित के समान ही यहा गणित होगा ।

यदि ज० अन० अन० = ज

प्रथम बार जोडी जाने वाली राशि = $\text{म}_{१}$

द्वितीय बार जोडी जानेवाली राशि = $\text{म}_{२}$ हो, तो

$$\text{उ० अन० अन०} = \text{ज}^{\|\,\text{ज}^{\|\,\left(\overset{\|}{\text{ज}} + १ + \overset{\|}{\text{ज}}^{\|\,\text{ज}+१}\right)}}$$

पुद्गल के परमाणुओ की सख्या सभी जीवो की सख्या से अनन्त गुनी अधिक है। त्रिकाल के समयो की सख्या पुद्गल के परमाणुओ की सख्या से अनन्त गुनी अधिक है और अलोकाकाश के प्रदेश की सख्या अनन्तानन्त गुनी अधिक है ।

१ विश्व–स्थित सभी द्रव्यो की सभी पर्याय (अवस्था) का ज्ञान 'केवलज्ञान' और दशन (सामान्य अवबोध) 'केवलदर्शन' कहलाते हैं। इनके पर्यायो की सख्या अनन्त हैं। (म० अन० अन० होनी चाहिए) ।

२ यह परिभाषा कर्मग्रन्थ के अनुसार है। देखें, लोकप्रकाश, १—२०२ से २०५ ।

३ देखें, षट्खण्डागम, पुस्तक ३, प्रस्तावना पृ० ३३ ।

४ त्रिलोकसार, गाथा ४८ से ५१ ।

जहा

$$\overset{|}{ज} = ज^{\overset{|}{ज}^{\left(\overset{|}{ज}+१+\overset{|}{ज}^{ज+१}\right)}} + म_{2}$$

$$और\ \overset{|}{ज} = ज^{ज\left(ज+१+ज^{ज+१}\right)} + म_{1} \quad हैं ।$$

३ तीसरी परिभाषा मे और दूसरी परिभाषा मे केवल इतना ही अन्तर है कि यहा उ० अन० अन० का मान प्राप्त करने मे शलाकात्रयनिष्ठापन-विधि से व–स किया जाता है ।[1] उ० अ० अ० की परिभाषा–४ मे प्रयुक्त गणित के समान ही यहा गणित होगा ।

यदि ज० अन० अन०=$ज_{1}$

इसका तीन वार शलाकात्रयनिष्ठापन विधि से व–स करने पर $ज_{4}$ राशि उत्पन्न होती है । इसमे जोडी जाने वाली राशि $म_{1}$ हो, तो

$$ज_{4} + म_{1} = \overset{|}{ज}_{1}$$

इसी प्रकार, $\overset{||}{ज}_{1}$ का मान निकाला जा सकता है ।

$$ज_{4} + म_{2} = \overset{|}{ज}_{1}$$

$$उ०\ अन०\ अन० = \overset{||}{ज}_{4}$$

४ चौथी परिभाषा और तीसरी परिभाषा मे केवल इतना ही अन्तर है कि $\overset{||}{ज}_{4}-१$ को प्राप्त करके उसमे पुन केवलज्ञान तथा केवल-दर्शन के अनन्त वहुभाग को मिलाया जाता है । इसको यदि $म_{3}$ कहे तो

$$उ०\ अन०\ अन० = \overset{||}{ज}_{4} + म_{3}$$

यह सख्या भी मात्र भाजन रूप है, द्रव्य रूप नही । अर्थात् इस मान वाला कोई भी पदार्थ अस्तित्व मे नही है ।

इस प्रकार उ० अन० अन० की परिभाषा मे मत-भेद होते हुए भी सभी परम्पराओ का इस विषय मे तो मतैक्य है ही कि उ० अन० अन० सख्या के मान का कोई पदार्थ नही है । जहा-जहा पर अनन्तानन्त का उल्लेख है, वहा पर म० अन० अन० का ग्रहण ही अभीष्ट है, ऐसा माना गया है ।

---

१ तिलोयपण्णत्ती, ४—३१३ ।

: ४ :

परिशिष्ट

लोक-आयतन की गणितिक विधि

धवलाकार वीरसेनाचार्य द्वारा निकाले गये मृदगाकार लोक का
आयतन यहा यथावत् उद्धृत किया जाता है।

"[1]चौदह रज्जु प्रमाण आयत, एक रज्जु प्रमाण विस्तृत और गोल आकार
वाली, ऐसी मृदगाकार लोक की सूची को लोक के मध्य से निकाल करके पृथक्
स्थापन करना चाहिये। इस प्रकार से स्थापित करके अब उसके फल अर्थात्
घनफल को निकालने का विधान कहते हैं। वह इस प्रकार है-मुख मे तिर्यक् रूप से
गोल और आकाश के एक प्रदेश प्रमाण बाहुल्य वाली इस पूर्वोक्त सूची की परिधि
३७१/११३ इतनी होती है। इस परिधि के प्रमाण को आधा करके, पुनः उसे एक
रज्जु विष्कम्भ के आधे से गुणा करने पर, उसके क्षेत्रफल का प्रमाण ३७१/४५२
इतना होता है। अब हमे लोक के अधोभाग का घनफल लाना इष्ट है,
इसलिए उस क्षेत्रफल को सात रज्जुओ से गुणा करने पर सात रज्जु प्रमाण
लम्बी और एक रज्जु प्रमाण चौडी उक्त गोल सूची का घनफल ५ ३३७/४५२ इतना
होता है। फिर सूची रहित चौदह रज्जु लम्बे लोकरूप क्षेत्र के मध्यलोक के
पास से दो खण्ड करके उनमे से नीचे के अर्थात् अधोलोक-सम्बन्धी खण्ड को
ग्रहण कर उसे (एक ओर से) ऊपर से (लगाकर नीचे तक) काटकर
पसारने पर सूर्प (सूपा) के आकार वाला क्षेत्र हो जाता है।

विशेषार्थ—यहा पर शकाकार, अन्य आचार्यो से प्ररूपित जिस, मृदगा-
कार लोक को दृष्टि में रखकर यह कथन कर रहा है, उसका भाव यह है कि कितने
ही आचार्य अधोलोक का आकार चारो ओर से गोल ऐसे वेत्रासन के समान मानते
हैं। जो नीचे गोल आकार वाला तथा सात रज्जु चौडा है और ऊपर क्रमश.
घटता हुआ मध्य लोक मे गोल आकार वाला तथा एक रज्जु चौडा है। इसके
ठीक मध्य मे ऊपर से नीचे तक स्थित सात रज्जु लम्बी एक रज्जु चौडी गोल
आकार वाली त्रसनाली है। उसको यदि वेत्रासनाकार अधोलोक के बीच मे से
निकाल कर बचे हुए अधोलोक को एक ओर से ऊपर से नीचे तक काटकर
पसार दिया जाय, तो उसका आकार ठीक सूपा के समान हो जाता है।

---

१ षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक ४, पृ० १२ से १८।

इस सूर्पाकार क्षेत्र के मुख का विस्तार $\frac{३७१}{११३}$ इतना है और तल का विस्तार २२ $\frac{१५}{११३}$ रज्जु प्रमाण है । इसे मुख विस्तार से (अर्थात् मुख-विस्तार के अन्त से लगाकर दोनो ओर) सात रज्जु लम्बा नीचे की ओर छेदने पर दो त्रिकोण क्षेत्र और एक आयतचतुरस्र क्षेत्र, इस प्रकार तीन क्षेत्र हो जाते हैं ।

उक्त प्रकार से बने हुए इन तीन क्षेत्रो मे से पहले आयतचतुरस्र आकार वाले मध्य वर्ती क्षेत्र का घनफल निकालते हैं । इस आयतचतुरस्र क्षेत्र का उत्सेध (ऊचाई) सात रज्जु है और विष्कम्भ $\frac{३७१}{११३}$ इतने रज्जु है। मुख मे एक प्रदेश-प्रमाण बाहुल्य (मोटाई) है और तल भाग मे तीन रज्जु प्रमाण बाहुल्य है, इसलिए उत्सेध का प्रमाण जो सात रज्जु है, उससे मुख के प्रमाण को गुणा करके तल भाग का बाहुल्य जो तीन रज्जु है, उसके आधे से अर्थात् डेढ रज्जु से गुणा करने पर मध्यम क्षेत्र का अर्थात् आयतचतुरस्र क्षेत्र का घनफल $\frac{३७१}{११३} \times \frac{७}{१} \times \frac{३}{२} = ३४ \frac{१०७}{२२६}$ इतना होता है ।

अब शेष जो दो त्रिकोण क्षेत्र है, वे सात रज्जु लम्बे है और एक सौ तेरह से एक रज्जु को खडित कर उनमे से अडतालीस खण्ड अधिक नौ रज्जु भुजा वाले हैं अर्थात् उनका अधोविस्तार ९ $\frac{४८}{११३}$ है। इसी विस्तार को यहा त्रिकोण क्षेत्र की अपेक्षा से 'भुजा' कहा है। तथा उन दोनो त्रिकोण क्षेत्रो का भुजा और कोटि के यथायोग्य सम्भवित कर्ण का प्रमाण है। इन दोनो त्रिकोण क्षेत्रो को कर्णभूमि से लेकर दोनो ही दिशाओ मे बीच मे से काटने पर तीन-तीन क्षेत्र हो जाते हैं।

विशेषार्थ—यहा पर त्रिकोण क्षेत्र के भुजा और कोटि का प्रमाण तो दिया है, पर कर्ण का प्रमाण नही दिया है। उसके निकालने की प्रक्रिया यह है कि भुजा के प्रमाण का वर्ग और कोटि के प्रमाण का वर्ग जितना हो, उन्हे जोडकर उसका वर्गमूल निकालना चाहिए, जो वर्गमूल का प्रमाण आवे, वही कर्ण रेखा का प्रमाण समझना चाहिए ।[1]

उक्त प्रकार से उत्पन्न हुए इन तीन-तीन क्षेत्रो मे एक-एक आयतचतुरस्र क्षेत्र और दो-दो त्रिकोण क्षेत्र जानना चाहिए। उनमे सात रज्जु उत्सेध वाले आयतचतुरस्र क्षेत्र के दाये-बाये दोनो ओर जो दो आयतचतुरस्र क्षेत्र हैं, उनमे प्रत्येक का साढे तीन रज्जु उत्सेध है। तथा

---

१ इष्टो बाहुर्यं स्यात् तत्स्पर्धिन्या दिशीतरो बाहुः। त्र्यस्रे चतुरस्रे वा सा कोटि कीर्तिता तज्ज्ञैः ॥ तत्कृत्योर्योगपद कर्णः। लीलावती क्षेत्रव्य १ !

दो सौ छब्वीस से एक रज्जु को खडित कर उनमे एक सौ इकसठ खण्डो से अधिक चार रज्जु अर्थात् ४$\frac{१६१}{२२६}$ प्रमाण विष्कम्भ है। तथा दक्षिण और वाम (दायें–बायें) अधस्तन कोण पर तीन रज्जु बाहुल्य है। अन्य दक्षिण वाम कोणो पर यथाक्रम से ऊपर और नीचे डेढ रज्जु बाहुल्य है। अवशिष्ट दो कोनो पर एक आकाश प्रदेश–प्रमाण बाहुल्य है और अन्यत्र अर्थात् बीच मे क्रम से वृद्धि को प्राप्त बाहुल्य है। इस प्रकार के दोनो आयतचतुरस्र क्षेत्रो को लेकर (उठाकर) उनमे एक क्षेत्र के ऊपर दूसरे क्षेत्र को विपर्याम अर्थात् उलटा करके स्थापित करने पर सर्वत्र तीन रज्जु बाहुल्य वाला क्षेत्र हो जाता है। इसके विस्तार को उत्सेध से गुणा कर पुनः वेध (मोटाई) से गुणा करने पर घनफल ४$\frac{१६१}{२२६}$ × ३$\frac{१}{२}$ × ३=४९$\frac{२१७}{४५२}$ इतना हो जाता है। अब अवशिष्ट जो चार त्रिकोण क्षेत्र है, वे साढे तीन रज्जु उत्सेध वाले हैं, तथा दो सौ छब्बीस से एक रज्जु को खडित कर उनमे से एक सौ इकसठ खडो से अधिक चार रज्जु अर्थात् ४$\frac{१६१}{२२६}$ रज्जु प्रमाण भुजा वाले हैं। उन्हे कर्ण क्षेत्र से लगाकर दोनो ही पार्श्व भागो मे बीच से छिन्न करने पर चार आयतचतुरस्र क्षेत्र और आठ त्रिकोण क्षेत्र हो जाते हैं।

यहा पर चारो ही आयतचतुरस्र क्षेत्रो का घनफल पहले के दोनो आयतचतुरस्र क्षेत्रो के घनफल के चतुर्थ भाग मात्र होता है, क्योकि चारो ही क्षेत्रो को बाहुल्य के अविरोध से इकट्ठा करने पर अर्थात् यथाक्रम से विपर्यास कर उलटा रखने पर तीन रज्जु बाहुल्य और पहले के क्षेत्र के विष्कम्भ और आयाम से अर्धमात्र विष्कम्भ और आयाम प्रमाण वाला क्षेत्र पाया जाता है।

शका—इन चार आयतचतुरस्र क्षेत्रो के मिलाने पर तीन रज्जु बाहुल्य कैसे होता है?

समाधान—क्योकि, पहले बताये हुए आयतचतुरस्र क्षेत्र के बाहुल्य से इस समय के आयतचतुरस्र क्षेत्रो का बाहुल्य आधा ही है। और पहले के उनके उत्सेध की अपेक्षा अब के इनका उत्सेध भी आधा ही दिखाई देता है।

अब शेष रहे आठ त्रिकोण क्षेत्रो के पूर्व के समान ही खडित करने पर उनमे सोलह त्रिकोण क्षेत्र और आठ आयतचतुरस्र क्षेत्र हो जाते हैं।

पहले बताये गये चार आयतचतुरस्र क्षेत्रो का उत्सेध से, विष्कम्भ से और बाहुल्य से अर्धप्रमाण निकाल कर आठो ही आयतचतुरस्र क्षेत्रो का

घनफल अभी बताये गये चार आयतचतुरस्र क्षेत्रो के घनफल के चतुर्थ भाग मात्र होता है। इसी प्रकार सोलह, बत्तीस, चौंसठ आदि क्रम से आयत-चतुरस्र क्षेत्र पहले-पहले के आयतचतुरस्र क्षेत्र के घनफलो के चतुर्थ भाग मात्र घनफल वाले होते हुए तब तक चले जायेंगे जब तक कि अविभाग-प्रतिच्छेद अर्थात् एक परमाणु (प्रदेश) नही प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार से उत्पन्न हुए समस्त क्षेत्रो के घनफलो के जोडने का विधान कहते हैं। वह इस प्रकार है—सभी क्षेत्रो का घनफल चतुर्गुणित क्रम से अवस्थित है, इसलिए उनमे अन्तिम क्षेत्रफल को चार से गुणा करके और चार मे से एक कम अर्थात् तीन से भाग देने पर घनफल ६५$\frac{१३२०}{१३५८}$ इतना होता है और अधोलोक के सभी क्षेत्रो का घनफल १०६$\frac{२६१}{१३५८}$ होता है।

अब चारो ओर से मृदंगाकार ऊर्ध्व लोक रूप क्षेत्र का घनफल निकालते है। उसमे एक रज्जु चौडे, सात रज्जु लम्बे और गोल आकार वाले सूची रूप क्षेत्र का घनफल पहले अधोलोक मे कहे गये विधान से निकालने पर ५$\frac{३}{८}\frac{३}{५}\frac{७}{२}$ रज्जु इतना होता है। (इस सूची को ऊर्ध्व लोक के मध्य भाग से निकालकर पृथक् स्थापन कर देना चाहिए।) अब, लोक को मध्य लोक से काटने पर जो दो भाग पहले हुए थे, उनमे के ऊपरी अर्ध भाग को, पाच रज्जु है विष्कम्भ जहा पर ऐसे ब्रह्मलोक के अन्तस्थित प्रदेश पर बीच से खण्डित कर उसमे से एक खण्ड को पृथक् स्थापन कर बचे हुए खण्ड को मध्य मे ऊपर से नीचे तक फाडकर पसारने से सूपा के आकार वाला क्षेत्र हो जाता है। उसके मुख का विस्तार $\frac{३७१}{११३}$ इतना होता है। तथा तल विस्तार १५$\frac{८६}{११३}$ इतना होता है। इस सूर्प क्षेत्र के मुख मे मोटाई आकाश के एक प्रदेश प्रमाण है और तल के मुख-प्रमाण मध्य-भाग मे दो रज्जु मोटाई है, पुन. क्रम से हानि को प्राप्त होती हुई अर्थात् कम होती हुई इसी तल भाग के दोनो कोनो पर आकाश के एक प्रदेश प्रमाण मोटाई है। इस सूर्प क्षेत्र को, मुख विस्तार-प्रमाण विष्कम्भ से खडित करने पर दो त्रिकोण क्षेत्र और एक आयतचतुरस्र क्षेत्र हो जाते हैं। उनमे से पहले आयतचतुरस्र क्षेत्र का जो साढे तीन रज्जु लम्बा है, तीन रज्जु से कुछ अधिक अर्थात् ३$\frac{३२}{११३}$ रज्जु चौडा है, तल मे दो रज्जु और मुख मे एक आकाश प्रदेश प्रमाण मोटा है, ऐसे उस आयतचतुरस्र क्षेत्र का घनफल निकालते हैं। वह इस प्रकार है—विष्कम्भ $\frac{३७१}{११३}$ से उत्सेध $\frac{७}{२}$ को गुणा

कर पुन उसे मोटाई के प्रमाण एक रज्जु से गुणा करने पर मध्यम अर्थात् आयतचतुरस्र क्षेत्र का घनफल आ जाता है। उसका प्रमाण $\frac{३७१}{११३} \times \frac{७}{२} \times \frac{१}{१} = ११\frac{१११}{२२६}$ इतना होता है। शेप जो दो त्रिकोण क्षेत्र हैं, जो कि साढे तीन रज्जु ऊचे तथा एक रज्जु को एक सौ तेरह से खडित कर उनमे बत्तीस खड से अधिक छः रज्जु अर्थात् $६\frac{३२}{११३}$ रज्जु चौडे है, उन्हे पहले के समान ही मध्य मे से खडित कर उनमे उत्पन्न हुए चार त्रिकोण क्षेत्रो को दूर रख कर दोनो आयतचतुरस्र क्षेत्रो का, जो कि पौने दो रज्जु ऊचाई वाले, तथा एक सौ तेरह से एक रज्जु को खण्डित कर उनमे सोलह खण्डो से अधिक तीन रज्जु अर्थात् $३\frac{१६}{११३}$ रज्जु प्रमाण चौडे, तथा क्रमशः दो, एक, शून्य और एक रज्जु मोटे है, उनके घनफल को निकालते है।

विशेषार्थ—यहा पर जो आयतचतुरस्र क्षेत्र की मोटाई क्रमशः दो, एक, शून्य और एक रज्जु प्रमाण कही है, उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मलोक के पास वाले भीतरी भाग की मोटाई दो रज्जु है। उसी के बाहरी भाग की मोटाई एक रज्जु है। कर्णरेखा वाले क्षेत्र की मोटाई शून्य या एक प्रदेश है और कोटि रेखा के भाग वाले ऊपरी क्षेत्र की मोटाई एक रज्जु है।

वह इस प्रकार है—एक आयतचतुरस्र क्षेत्र के ऊपर दूसरे आयत-चतुरस्र क्षेत्र को उलटा करके रखने पर दो रज्जु की मोटाई वाला एक क्षेत्र हो जाता है। पुनः विष्कम्भ और उत्सेध का सवर्ग अर्थात् परस्पर गुणन करके वेद से गुणा करने पर उक्त क्षेत्र का घनफल होता है, जिसका प्रमाण $\frac{७}{४} \times \frac{३५५}{११३} \times \frac{२}{१} = १०\frac{२२५}{२२६}$ इतना होता है। पुनः जो शेष चार त्रिकोण क्षेत्र है, उनका घनफल इस आयतचतुरस्र क्षेत्र के चतुर्थ भाग मात्र होता है। इसका कारण सुगम है, क्योकि अधोलोक की प्ररूपणा मे कह आये हैं। चूकि इस प्रकार सर्व त्रिकोण क्षेत्रो के घनफल अनन्तर अतिक्रान्त अर्थात् अभी पहले बताये गये क्षेत्रो के घनफल से चतुर्भाग के क्रम से अवस्थित है, इसलिए उनके घनफल को यहा अर्थात् $१०\frac{२२५}{२२६}$ मे मिलाने पर $१४\frac{४४८}{६७८}$ इतना प्रमाण हो जाता है। ऊर्ध्व लोक का समस्त घनफल $५८\frac{६७}{१३५६}$ इतना होता है।

विशेपार्थ—ऊर्ध्व लोक का यह घनफल इस प्रकार आता है—ऊपर जो प्रमाण बतलाया गया है, वह प्रमाण ऊर्ध्व लोक के विभक्त किये गये दो भागो मे से एक भाग का है, इसलिए दोनो खण्डो का घनफल लाने के लिए आयतचतुरस्र के क्षेत्र के घनफल को दूना किया, तब $११\frac{१११}{२२६} \times \frac{२}{१} = २२\frac{२२२}{२२६}$

Then, because the curve is symmetrical about the z axis, the co-efficieants B & D will be equal to zero Thus, the equation of conic is—

$$Ax^2+Cz^2+Ez=1$$

$\therefore \quad x^2=\frac{1}{A}(1-Cz^2-Ez)$

The points $(\frac{7}{2}, 0, 0)$ & $(\frac{1}{2}, 0, 7)$ lie on the curve

$\therefore$ When $x=\frac{7}{2}$, $z=0$ i e $A=\frac{4}{49}$

Also when $x=\frac{1}{2}$, $z=7$

$\therefore \quad \frac{4}{49}\frac{1}{4} + C.49 + E.7=1$

$\therefore \quad C=\frac{48}{7^4}-\frac{E}{7}$

The integration is from $z_1=0$ to $z_2=7$

$\therefore$ volume $V=4\int_0^7 \frac{1}{A}(1-Cz^2-Ez)\,dz$

$$=\frac{4}{A}\left[z-\frac{Cz^3}{3}-\frac{Ez^2}{2}\right]$$

Putting the values of A and C we get,

$$V=231-\frac{7^4}{6}E$$

Thus the value of V depends upon E, for different E, the volumes can have different values The volume of Adholoka is 196 From the above equation, we see that

If $E=\frac{80}{7^3}$, $V=196$

Thus we have found the equation of the curve, which passes through the corresponding points on the squares The equation is given by—

$$196x^2+16z^2+30z=2401$$

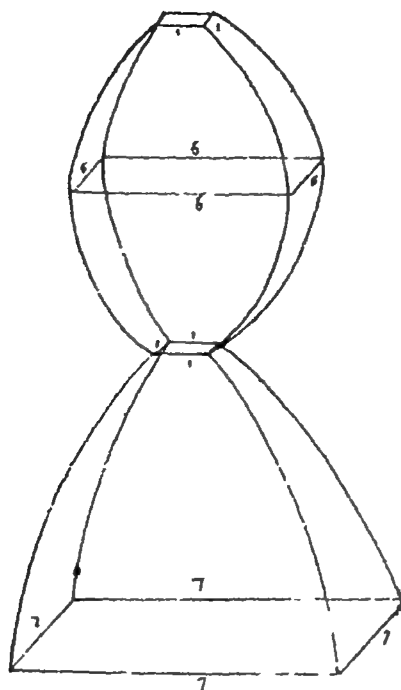
In the same way we can find out the equation of the curves making the Urdhvaloka The Urdhvaloka should be divided into two equal halves, each having the volume $\frac{147}{2}$.

Then we have the equation—

$$28x^2 + 192z^2 - 144z = 7$$

and $196x^2 + 192z^2 - 336z = 1225$

repeesenting the lower and upper halves of the Urdhvaloka respectively



इस प्रकार लोक का आकार मानने पर ३४३ घन रज्जु का आयतन सम्भव हो सकता है। ऊपर निकाले गये आकार मे यह माना गया है कि वक्ररेखा एक 'Conic' है। इससे लोकाकृति की एक सम्भावना प्रकट होती है। यदि हमारे पास लोक के विषय मे अन्य कुछ एक पहलुओ की जानकारी होती, तो हम इसका निश्चय दृढता के साथ कर सकते। दृष्टलोक एव वर्गितलोक के खण्डूको की सहायता से सम्भवत हमे एक मार्ग मिल सकता है, यदि दृष्टलोक और वर्गितलोक का वास्तविक गारिणतिक प्रतिपादन किया जा सके। दृष्टलोक के खण्डूको की सख्या ८१६ मानी गई है तथा वर्गितलोक के खण्डूको की सख्या १५२९६ बताई गई है। यह एक भावी अन्वेषरण का विषय है कि इनका तात्पर्य क्या है ?

लोक-आयतन को ऊपर युक्लिडीय भूमिति के आधार पर निकाला गया है। जैन आगमो में कुछ एक प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जो यह सुझाने

हुआ । तथा त्रिकोण क्षेत्रो का भी घनफल दूना किया, तब $१४\frac{४४८}{६७८} \times \frac{२}{१} = २९\frac{२१८}{६७८}$ हुआ । इस प्रकार ऊर्ध्व लोक की सूची का, आयतचतुरस्र और त्रिकोण क्षेत्रो का समस्त घनफल जोड देने पर $५\frac{३३७}{४५२} + २२\frac{२२२}{२२६} + २९\frac{२१८}{६७८} = ५८\frac{६७}{१३५६}$ होता है ।

ऊर्ध्व लोक और अधोलोक का घनफल जोड देने पर $१०६\frac{२६१}{१३५६} + ५८\frac{६७}{१३५६} = १६४\frac{३२८}{१३५६}$ इतना प्रमाण होता है । इसलिए अन्य आचार्यों के द्वारा माना हुआ लोक घनलोक के सख्यातवें भाग प्रमाण सिद्ध हुआ और इस लोक के अतिरिक्त सात रज्जु के घन प्रमाण लोकसज्ञक अन्य कोई क्षेत्र है नही, जिससे कि प्रमाण लोक छः द्रव्यो के समुदाय रूप लोक से भिन्न माना जाये और न लोकाकाश तथा अलोकाकाश, इन दोनो मे ही स्थित सात रज्जु के घनमात्र आकाश-प्रदेशो के प्रमाण की घनलोक सज्ञा है, क्योकि ऐसा मानने पर लोकसज्ञा के यादृच्छिकपने का प्रसग प्राप्त होता है ।"

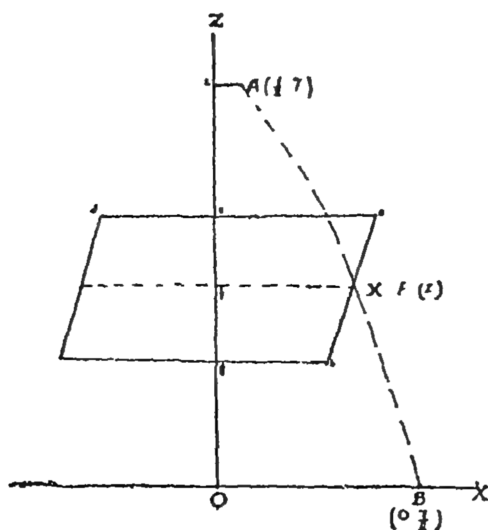
इस प्रकार मृदगाकार लोक का घनफल $१६४\frac{३२८}{१३५६}$ घन रज्जु आता है । किन्तु अभीष्ट घनफल ३४३ घन रज्जु है, अत मृदगाकार लोकाकृति मान्य नही हो सकती ।

अब श्वेताम्बर-परम्परा की मूल मान्यताओ के आधार पर हम लोकाकृति का निश्चय करना चाहते हैं । सर्व प्रथम हम अधोलोक को लें । मूल मान्यता के अनुसार अधोलोक की लम्बाई-चौडाई अधस्तन भाग पर ७ रज्जु है और उपरितन अन्त मे एक रज्जु है । समान लम्बाई-चौडाई वाली समतल आकृति के दो विकल्प हो जाते हैं :

१ वर्तुलाकार (सर्किल)
२ समचतुरस्राकार (स्क्वेअर)

मृदगाकार आकृति मे वर्तुलाकार लिया गया है, जबकि वर्गित खण्डको की सख्या निकालने मे समचतुरस्राकार माना गया है । यहाँ समचतुरस्राकार को मान्य रख कर घनफल निकाला जा रहा है । यह स्पष्ट है कि अधोलोक की लम्बाई-चौडाई मे ऊपर से नीचे तक क्रमिक वृद्धि हुई है, अर्थात् ऊपर से नीचे तक जो समचतुरस्र हैं, वे उत्तरोत्तर बडे-बडे हैं । दूसरे शब्दो मे सबसे ऊपर वाला समचतुरस्र एक रज्जु लम्बाई-चौडाई वाला और नीचे का सात रज्जु लम्बाई-चौडाई वाला है, जबकि बीच के समचतुरस्र एक से नीचे एक सख्याधिक लम्बाई-चौडाई वाले हैं । बीच के समचतुरस्रो का परिमाण हमें ज्ञात नहीं है, अत ऊपर के समचतुरस्र और नीचे के

समचतुरस्र को जोडने वाली रेखा के अनेक विकल्प बन जाते हैं। वह सीधी भी हो सकती है और वक्र भी। आधुनिक समाकलन गणित (इण्टिग्रल केल्क्युलस) के आधार पर इस प्रकार की आकृति के आयतन को निकाला जा सकता है, यदि जोडने वाली रेखा के समीकरण का हमे पता हो अथवा यदि आयतन का पता हो, तो उस रेखा का समीकरण निकाला जा सकता है, जिससे लोकाकृति का निश्चित रूप ज्ञात हो सकता है। हम यदि अधोलोक के आयतन को १९६ घन रज्जु मान लेते हैं, तो इसकी आकृति का ज्ञान हमे हो जाता है। समाकलन गणित की विधि का हिन्दी भाषा मे अधिक प्रचलन नही होने के कारण इसकी चर्चा अंग्रेजी भाषा मे करना ही उपयुक्त रहेगा।



Let ox, oz represent the axes AB is the curve joining the corressponding points on the squares Let $x=f(z)$ be the equation of such a curve Then the volume of the solid figure bounded by such curves and squares is given by

$$V=4\int x^2\,dz$$

between proper limits Out of the infinite number of curves passing through A, B, we have to find out the required curve One of the possibilities is that it is a conic Let the conic be represented by the equation,—

$$Ax^2+Bxz+Cz^2+Dx+Ez=1$$

Then, because the curve is symmetrical about the z axis, the co-efficieants B & D will be equal to zero Thus, the equation of conic is—

$Ax^2+Cz^2+Ez=1$

. $x^2=\frac{1}{A}(1-Cz^2-Ez)$

The points ($\frac{7}{2}$, 0, 0) & ($\frac{1}{2}$, 0, 7) lie on the curve

∴ When $x=\frac{7}{2}$, $z=0$ i e $A=\frac{4}{49}$

Also when $x=\frac{1}{2}$, $z=7$

∴ $\frac{4}{49}\frac{1}{4}+C\,49+E.7=1$

∴ $C=\frac{48}{7^4}-\frac{E}{7}$

The integration is from $z_1=0$ to $z_2=7$

. volume $V=4\int_0^7\frac{1}{A}(1-Cz^2-Ez)\,dz$

$=\frac{4}{A}\left[z-\frac{Cz^3}{3}-\frac{Ez^2}{2}\right]$

Putting the values of A and C we get,

$$V=231-\frac{7^4}{6}E$$

Thus the value of V depends upon E, for different E, the volumes can have different values The volume of Adholoka is 196 From the above equation, we see that

If $E=\frac{80}{7^3}$, $V=196$

Thus we have found the equation of the curve, which passes through the corresponding points on the squares The equation is given by—

$196x^2+16z^2+30z=2401$

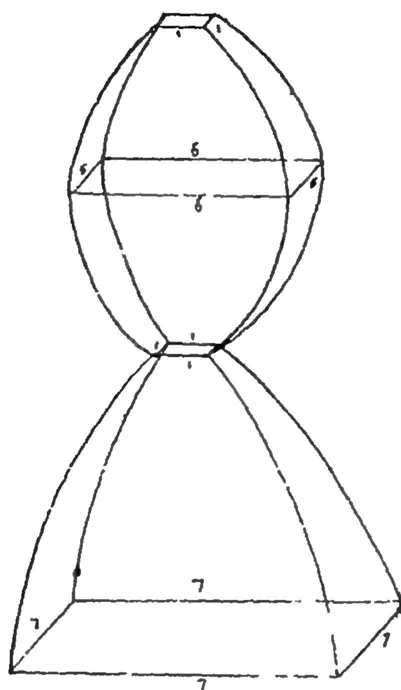
In the same way we can find out the equation of the curves making the Urdhvaloka The Urdhvaloka should be divided into two equal halves, each having the volume $\frac{147}{2}$

Then we have the equation—

$$28x^2 + 192z^2 - 144z = 7$$

$$\text{and } 196x^2 + 192z^2 - 336z = 1225$$

repeesenting the lower and upper halves of the Urdhvaloka respectively



इस प्रकार लोक का आकार मानने पर ३४३ घन रज्जु का आयतन सम्भव हो सकता है। ऊपर निकाले गये आकार मे यह माना गया है कि वक्ररेखा एक 'Conic' है। इससे लोकाकृति की एक सम्भावना प्रकट होती है। यदि हमारे पास लोक के विषय मे अन्य कुछ एक पहलुओ की जानकारी होती, तो हम इसका निश्चय दृढता के साथ कर सकते। दृष्टलोक एव वर्गितलोक के खण्डूको की सहायता से सम्भवत. हमे एक मार्ग मिल सकता है, यदि दृष्टलोक और वर्गितलोक का वास्तविक गाणितिक प्रतिपादन किया जा सके। दृष्टलोक के खण्डूको की सख्या ८१६ मानी गई है तथा वर्गितलोक के खण्डूको की सख्या १५२९६ बताई गई है। यह एक भावी अन्वेषण का विषय है कि इनका तात्पर्य क्या है ?

लोक-आयतन को ऊपर युक्लिडीय भूमिति के आधार पर निकाला गया है। जैन आगमो मे कुछ एक प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जो यह सुझाने

वाले हैं कि लोकाकाश की भूमिति युक्लिडीयेतर हो। उदाहरणार्थ, लोक स्थित वर्तुलाकार संस्थान (द्वीप आदि) की परिधि आदि को निकालते समय π का मूल्य $\sqrt{१०}$ लिया गया है। यह एक सोचने का विषय है कि क्या यह मान π का सन्निकट मूल्य है या युक्लिडियेतर भूमिति के अनुसार लिया गया मूल्य है? इसके अतिरिक्त यदि लोक का आकार वक्रता युक्त है, तो यह भी सम्भव क्यों न माना जाये कि उसकी भूमिति युक्लिडियेतर है और यदि लोकाकाश की भूमिति भी युक्लिडियेतर है, तो इसका आयतन भी युक्लिडियेतर भूमिति के आधार पर निकालना आवश्यक हो जाता है, यह भी एक भावी अनुसन्धान का विषय है।

सहायक ग्रन्थ व पत्र-पत्रिकाएं

१ अनुयोगद्वारसूत्र (प्राकृत-हिन्दी), अनु० उपाध्याय आत्मारामजी महाराज, लाला मुरारीलाल चरणदास जैन, पटियाला स्टेट, १९३१।

२ आदि पुराण (अपभ्रंश), पुष्पदन्त, बम्बई, १९३७।

३ इन्ट्रोडक्टरी केलक्युलस (अंग्रेजी), ले० डी० ई० रीचमोण्ड, एडिसन वेस्ले पब्लिशिंग कम्पनी, रीडिंग, मेस्च्युसेट्स, यु० एस० ए०, १९५९।

४ उत्तराध्ययन सूत्र, भाग-१,२,३ (प्राकृत-हिन्दी), अनु० उपाध्याय आत्मारामजी महाराज, खजानचीराम जैन, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३९।

५ ए कोर्स ऑफ मेथेमेटिकल एनेलिसिस (अंग्रेजी), ले० ए० आई० खीन्सीन (रूसी से अनूदित), हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली, १९६०।

६ एक्सप्लोरिन्ग दी युनिवर्स (अंग्रेजी), ले० हेन्शोगवार्ड।

७ ए डीक्सनरी ऑफ साइन्स (अंग्रेजी), ले० ई० वी० युवरोव और डी० आर० चैपमैन, पेंग्वीन रेफरन्स बुक्स, १९५८।

८ एरिस्टोटल (अंग्रेजी), ले० ए० ई० टैलर, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९५५।

९ कन्फेसन्स (अंग्रेजी), ले० सेंट आगस्टाइन।

१०. क्रिएटिव अंडरस्टेण्डिग (अंग्रेजी), ले० केसरलिंग, न्यूयार्क, १९२९।

११ क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन (जर्मन-अंग्रेजी), ले० एम्यूनेल काण्ट, मेकमिलन एण्ड क०, लन्दन।

१२ कोस्मोलोजी (अंग्रेजी) ले० जेम्स ए० मैकविलियम्स, दी मेकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९५६।

१३. कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू (अंग्रेजी), ले० प्रो० जी० आर० जैन, दी ट्रस्टीज ऑफ दी जे० एल० जैनीज एस्टेट, इन्दौर, १९४२।

१४. **गाईड टू फिलोसोफी** (अग्रेजी), ले० सर सी० ई० एम० जोड, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क।

१५. **जम्बूदीवपण्णत्ति संगहो** (प्राकृत-हिन्दी), ले० आचार्य पद्मनन्दि, स० और अनु० डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक सघ, शोलापुर, १९५८।

१६ **जम्बूद्वीपपण्णत्ति सूत्र** (प्राकृत-हिन्दी), अनु० अमोलक ऋषिजी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दरावाद (दक्षिण)।

१७. **ज्योमेट्री** (अग्रेजी), ले० चार्ल्स एफ० बूमफिल्ड, रोवर्ट ई० आईक्लोफ, मैरिल ई० शान्कस, एडीसन वेस्ले पब्लिशिंग कम्पनी, रीडिंग, मेसेच्युस्टेस, यू० एस० ए०, १९६०।

१८. **जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान** (हिन्दी), ले० मुनिश्री नगराजजी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५९।

१९ **जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व-भाग १,२** (हिन्दी), ले० मुनिश्री नथमलजी, आदर्श साहित्य सघ, चुरु, राजस्थान, १९६०।

२० **जैन भारती** (हिन्दी), साप्ताहिक पत्रिका, श्री जैन श्वेताम्वर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता।

२१. **जैन साहित्य और इतिहास** (हिन्दी), ले० नाथूराम प्रेमी, यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक, सशोधित साहित्य माला, ठाकुर द्वार, वम्बई-२, १९५६।

२२. **जैन सिद्धान्त भास्कर** (हिन्दी), मासिक पत्रिका।

२३ **चलराशि कलन** (हिन्दी), ले० हरिश्चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४५।

२४. **ठाणांग सूत्र** (प्राकृत-सस्कृत), टीका अभयदेव सूरि, सेठ माणक लाल चुन्नीलाल, सेठ कान्तीलाल चुन्नीलाल, अहमदावाद, १९३७।

२५ **डा० आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड** (अग्रेजी-हिन्दी), ले० लिंकन वारनेट, अनु० विद्याभूषण श्री रश्मि, पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लि०, बम्बई, १९५८।

२६ **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** (सस्कृत-हिन्दी), भट्ट अकलक वनारस, १९५७

२७ **तत्त्वार्थ सार**।

२८ तत्त्वार्थ सूत्र (सस्कृत–हिन्दी), स० और अनु० प० सुखलाल सघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा ।

२९. तिमेउस (ग्रीक), ले० प्लेटो ।

३० तिलोयपण्णत्ती–भाग १, २ (प्राकृत–हिन्दी), ले० यतिवृष-भाचार्य, स० और अनु० डा० ए० एन० उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन, जैन संस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, १९४३ ।

३१ तिलोयपण्णत्ती का गणित (हिन्दी), ले० लक्ष्मीचन्द्र जैन ।

३२ त्रिलोकसार (प्राकृत–हिन्दी), ले० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु० प० टोडरमलजी, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९११ ।

३३ थिसीस ओन एनर्जी (अग्रेजी), ले० एल० ए० कोल्डींग कोपन-हेगन, १९४३ ।

३४ दर्शन शास्त्र की रूपरेखा (हिन्दी), ले० राजेन्द्र प्रसाद एम० ए०, शुक्ला बुक डिपो, पटना, १९५४ ।

३५. दी एक्सपाण्डिग युनिवर्स (अग्रेजी), ले० सर आर्थर एडिंग्टन, आन आरबार पेपरबेक्स, युनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, १९५८ ।

३६ दी एक्सप्लोरेशन ऑफ स्पेस (अग्रेजी), ले० आर्थर सी क्लार्क, हारपर एण्ड ब्रादर्स, न्यूयार्क, १९५९ ।

३७ दी एलिमेन्टस ऑफ नान–युक्लिडीन ज्योमेट्री (अग्रेजी), ले० डी० एम० वाई० सोमरविले, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९५८ ।

३८ दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स (अग्रेजी), स० डी० एफ० पीयर्स, मेकमिलन एण्ड क० लिमिटेड, लन्दन, १९५७ ।

३९ दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटी (अग्रेजी), ले० प्रो० हेन्री मार्गेनो, मेकग्रु-हील बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९५० ।

४० दी नेचर ऑफ दी फिज़िकल वर्ल्ड (अग्रेज़ी), ले० सर आर्थर एडिंग्टन, आन आरबार पेपरबेक्स, युनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, १९५८ ।

४१ दी न्यू एस्ट्रोनोमी (अग्रेजी), ए साइन्टिफिक अमेरिकन बुक, साइमन एण्ड शुस्टर, न्यूयार्क, १९५५ ।

४२ दी न्यू पाथवेज इन साइन्स (अग्रेजी), ले० सर आर्थर एडिंग्टन, आन आरबार पेपरबेक्स, युनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, १९५९ ।

४३. **दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स** (अंग्रेजी), ले० सर आर्थर एडिंग्टन, आन आरबर पेपरबक्स, युनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, १९५८ ।

४४. **दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाईम** (जर्मन–अंग्रेजी), ले० हन्स राइशन वाख, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९५८ ।

४५. **दी बुक ऑफ पोपूलर साईन्स** (अंग्रेजी), १० भागो मे ।

४६. **दी मिस्टीयर्स युनिवर्स** (अंग्रेजी), ले० सर जेम्स जीन्स, केम्ब्रीज युनिवर्सिटी प्रेस १९४७ ।

४७. **दी युनिटि ऑफ दी युनिवर्स** (अंग्रेजी), ले० डा० डी० डबल्यु० सियामा, फावर एण्ड फावर, लन्दन, १९५९ ।

४८. **दी युनिवर्स** (अंग्रेजी), ए साईन्टिफिक अमेरिकन बुक, साइमन एण्ड ब्रुस्टर, न्यूयार्क, १९५५ ।

४९ **दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन** (अंग्रेजी), ले० लिन्कन वारनेट, मेन्टर बुक, न्यू अमेरिकन लायब्रेरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर, न्यूयार्क, १९५४ ।

५० **दी रिलिजियन ऑफ अहिंसा** (अंग्रेजी), ले० प्रो० ए० चक्रवर्ती, रतनचन्द हीराचन्द, बम्बई, १९५७ ।

५१ **दी वेल्यू ऑफ साईन्स** (अंग्रेजी), ले० हेनूरी पोइनकेर, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क ।

५२. **दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी** (अंग्रेजी), ले० विल डूरण्ट, गार्डन सिटी पब्लिशिंग कम्पनी, गार्डन सिटी, न्यूयार्क, १९४३ ।

५३ **दी जैनिसिमुज** (जर्मन), ले० हेलमुथ फोन ग्लेसनहाप, आल्फ हेगन फरताग, बर्लिन, १९२५ ।

५४. **नवभारत टाइम्स** (हिन्दी), दैनिक पत्र, दिल्ली ।

५५ **नेत्र और सूर्य** (रूसी–हिन्दी), ले० स० ई० वाविलोव, अनु० श्री अयोध्यासिंह, ईस्टर्न ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता, १९५७ ।

५६ **न्यायावतार** (संस्कृत) सिद्धसेन दिवाकर, बम्बई, १९५० ।

५७ **पचास्तिकायसार** (प्राकृत–अंग्रेजी) ले० कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० प्रो० ए० चक्रवर्ती, सेकरेड बुक्स ऑफ दी जेन सिरीज ।

५८ **पन्नवरणा सूत्र** (प्राकृत–हिन्दी), अनु० श्री अमोलक ऋषिजी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद (दक्षिण)।

५६ **प्राचीन भारत मे गणित का योग** (हिन्दी), ले० डा० राम-बिहारी, दिल्ली विश्व विद्यालय, १६५५।

६० **प्रिंसिपिया मेथेमेटिका** (अंग्रेजी), ले० सर आइजक न्यूटन, अनु० मोटे और कन्जोरी, बरकले, १६४७।

६१. **प्रोसिडिंग्स आँफ दी फिजिक्स सेमिनार**, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, जुलाई, १६२५।

६२. **फ्रन्टियर्स आँफ एस्ट्रोनोमी** (अंग्रेजी), ले० फ्रेड होयल, हाइनेमान, लन्दन, १६५६।

६३. **फाउण्डेसन्स आँफ साईन्स** (अंग्रेजी), ले० एन० कैम्पबेल, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क।

६४ **फिजिक्स** (ग्रीक), ले० एरिस्टोटल।

६५ **फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी** (अंग्रेजी), ले० वरनर हाइसनवर्ग, ज्योर्ज एलन एण्ड यूनवीन, लन्दन, १६५८।

६६ **फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी** (अंग्रेजी), ले० सर जेम्स जीन्स, दी मेकमिलन कम्पनी, १६४३।

६७ **फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स** (अंग्रेजी), ले० एल० सुसान स्टेबिन्ग, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १६५८।

६८ **फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन** (अंग्रेजी), ले० सर एडमण्ड व्हीट्टाकर, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १६५८।

६६ **बृहद् द्रव्य संग्रह** (प्राकृत–संस्कृत–हिन्दी), ले० आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सं० टीका ब्रह्मदेव, बम्बई, १६०६।

७० **भगवती सूत्र** (प्राकृत–संस्कृत), सं० टीका अभयदेव सूरि, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुरी (मालवा), १६३७।

७१ **भगवती सूत्र** (प्राकृत–हिन्दी), अनु० श्री अमोलक ऋषिजी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद (दक्षिण)।

७२ **रिपब्लिक** (ग्रीक–अंग्रेजी), ले० प्लेटो, अनु० एच० स्पेन्स, एव्रीमैन्स लायब्रेरी, इटटन।

७३ रिपोर्ट ऑफ साईन्स कांग्रेस, बम्बई, १९३३ ।

७४. ललित विस्तर, स० आर० मैत्रा ।

७५ लाईबनीज (अंग्रेजी), ले० हर्बर्ट विल्डोन कार, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९६० ।

७६. लोकप्रकाश, भाग–१,२ (संस्कृत–गुजराती), ले० श्री विनय-विजयगणि, अनु० मोतीचन्द ओधवजी शाह, श्रीमती आगमोदय समिति, सूरत, १९३२ ।

७७ लोकप्रकाश, भाग ३ (संस्कृत–गुजराती), ले० श्री विनय-विजयगणि, अनु० श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९३४ ।

७८ लोक–विभाग (संस्कृत), अप्रकाशित ।

७९. वन, टू, थ्री, इनफिनिटी (अंग्रेजी), ले० डा० ज्योर्ज गेमो, विकिंग प्रेस, न्यूयार्क, १९५९ ।

८० विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास (अंग्रेजी–हिन्दी), सर डब्ल्यु० सी० डैम्पियर, अनु० प्रो० कृष्णानन्द द्विवेदी, युग प्रकाशन, दिल्ली, १९५१ ।

८१ विश्व की रूपरेखा (हिन्दी), ले० राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद-बम्बई, १९५० ।

८२ विश्व और परमाणु (रूसी–हिन्दी), ले० व० मेजन्तसेव, अनु० श्री अर्द्धेन्दु गोस्वामी, ईस्टर्न ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता, १९५७ ।

८३. वैज्ञानिक भौतिकवाद (हिन्दी), ले० राहुल सांकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता, १९५१ ।

८४. वाइस ऑफ अहिंसा (अंग्रेजी), मासिक पत्रिका, स० कामता प्रसाद जैन, वर्ल्ड जैन मिशन, अलिगंज, एटा (भारत) ।

८५. श्री जैन सिद्धान्त दीपिका (संस्कृत-हिन्दी), ले० आचार्य श्री तुलसी, अनु० मुनिश्री नथमलजी, आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर (राजस्थान) १९५० ।

८६. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग–१ से ८, ले० श्री भैरोदान सेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, १९४० ।

८७ श्री भिक्षु न्याय कर्णिका (संस्कृत), ले० आचार्य श्री तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान), १९६० ।

८८ **षट्खण्डागम,** भाग–३,४ (प्राकृत–हिन्दी), ले० पुष्पदन्त, भूतवलि, वीर सेनाचार्यकृत धवला–टीका सहित, स० हीरालाल जैन, सेठ शीतल राय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती, १६४२ ।

८६ **साईन्स ऑफ मिकेनिक्स,** ले० अर्नस्ट माख, १६४२ ।

६० **साईन्स एण्ड हाईपोथिसीस** (फ्रेञ्च-अग्रेजी), ले० पोइनकेर, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क ।

६१ **स्पेस–टाईम–मेटर** (जर्मन–अंग्रेजी), ले० हर्मन वाइल, अनु० हेनी एल० ब्रोस, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १६५० ।

६२ **हायर मेथमेटिक्स फॉर स्टुडेन्टस ऑफ केमेस्ट्री एण्ड फिजिक्स** (अग्रेजी), ले० डब्ल्यु० मेलोर, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १६५५ ।

६३ **हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास** (अग्रेजी-हिन्दी), ले० डा० विभूति भूषण दत्त और डा० अवधेश नारायण सिंह, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, १६५६ ।

६४ **हिन्दुस्तान टाइम्स** (अग्रेजी), दैनिक पत्र, नई दिल्ली ।

६५ **हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी** (अग्रेजी), ले० वर्ट्रेण्ड रसल, ज्योर्ज एलन एण्ड युनवीन, लन्दन, १६४६ ।

६६. **हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड,** भाग–१,२, हार्म्सवर्थ



शब्दानुक्रम

अ

झ

ट

थ

द

ध

भ

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
छ	६–१०	व्यक्तीकृत्य ···	ये पंक्तियां श्लोक रूप हैं।
दस	२	$१.७ + १०^{४}$	१.७×१०^{-४}
ग्यारह	२९	Jurich	Zurich
तेरह	२३	का ईसा	व ईसा
१६	१	वास्तविकवाद	वास्तविकतावाद
३०	६	यया	गया
३५	२४	जाए।	जाए। मान
४३	१	प्रतिपादित	प्रतिपादन
४३	२	अतन्तता	अनन्तता
४९	२५	सहृति	सहृति
५५	१७	को कल्पना	की कल्पना
५७	८	मन्यता	मान्यता
५७	१७	करण	कारण
६२	२४	की की परिभाषा	की ही परिभाषा
६६	६	प्रभव	प्रभाव
७३	२९	गुण पर्याय श्रयो	गुणपर्यायाश्रयो
७३	३१	त्वादि।	त्वादिः।
७८	१	से कैसम्भव	कैसे सम्भव
७८	३१	१३–४८१	१३-४–४८१
८०	२५	वर्तसान	वर्तमान
८४	२०	द्रव्यो से	द्रव्यो मे
८४	२५	कलाणु	कालाणु
८७	७	सिद्धि	सिद्ध
९०	६	शान्त	सान्त
९०	१६	पाद	पाद
९०	१७	सर्व दिक्षु लोका	सर्व दिक्षु लोको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९०	२१	पच्चच्छिमेणावि	पच्छिमेणावि
९४	७	नाम	नाप
९७	६	$[\frac{१}{२}(५ \times १) \times \frac{७}{२}]$	$[\frac{१}{२}(५ + १)] \times \frac{७}{२}$
१००	१८	वस्तवितक	वास्तविक
११२	१४	समाधान ही	समाधानं भी
११३	११	(strophysics)	(astrophysics)
१२०	२	क अनुसार	के अनुसार
१२१	५	$२—^{न}{}_{१}$	$२^{न}—१$
१२१	७	$(^{न}_{२} —१)$	$(२^{न}—१)$
१२१	१५	क ल	काल
१२२	१०	)—१	)+१
१२२	१०	$+१०^{५}$	$\times १०^{५}$
१२४	१७	adinfinitum	ad infinitum
१२८	५	परिणामनो	परिणामन
१३०	२६	प्रतिक्षण ।	प्रतिक्षणम् ।
१३२	२	अगामो	आगमो
१३६	७	व्रह्मा	ब्रह्म
१३६	१५	अनुसार-वस्तु	अनुसार—वस्तु-
१३९	८	केवल आभास रूप से	केवल आभास रूप से आभास रूप से
१४१	१	ज्ञान	ज्ञाता
१५२	६	$व = क$ $१ \quad १$	$व_{१} = क_{१}$
१५२	८	$ब = क$ $२ \quad २$	$व_{२} = क_{२}$
१५२	१०	$ब = ब$ $१ \quad २$	$ब_{१} = ब_{२}$
१५२	१२	$क = क$ $१ \quad २$	$क_{१} = क_{२}$

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५२	१४	ब,$_१$ ब$_२$	ब$_{१,}$ब$_२$
१५५	३१	विष मे	विषय में
१५८	२१	स्पष्ट	अस्पष्ट
१५८	२१	देता।	देता,
१६७	६	रूप मैं	विषय में
१७६	१०	तत्व के 'अनुभय'	तत्त्व 'अनुभय'
१८०	३१	विज्ञान के	विज्ञान को
१८१	२	ले I न	लेनिन
१८४	१८	पाण्डित्या वादियो	पाण्डित्यवादियो
१८५	१८	होना । 'आश्रय'	होना 'आश्रय'
१८६	२७	कुछ कुछ	कुछ
१९८	२९	सहित-शून्य	सहति-शून्य
२००	७	रावट सी	रावर्ट सी०
२००	८	वृहत्	बृहत्
२०७	२९	यत्र	यन्त्र
२०८	२१	बौंडी	बोडी
२०८	२५	म समी	में समी
२०९	२९	आकाश के 'स्थिरता'	आकाश की 'स्थिरता'
२००	२१	विश्व' की	विश्व' की।
२४६	६	८^७×७६८०००	इस पक्ति की आवश्यकता नही है ।
२४६	२५	मूल्य—१०	मूल्य—$\sqrt{१०}$
२४६	२४	π=४(१ $\frac{१}{३}+\frac{१}{५}$	π=४(१$-\frac{१}{३}+\frac{१}{५}$
२४७	६	वालग्र	बालाग्र
२४७	२९	वस्तु	वस्तुत:
२४८	१३	अध्धार	उद्धार
२४९	२९	संख्या)	संख्या) समय ।
२५०	२२	base$_2$	base two
		लघु प	लघु$_२$ प
२५२	२	प २	प

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	४	सारगोपम	सागरोपम
२५७	४	मारा	सारा
२५७	१८	कुड	कुण्ड
२५७	३१	सब पहले १००००	सबसे पहले १०००००
२५९	१५	$\left[\times \frac{परिधि}{११} \right.$	$\left. \right] \times \frac{परिधि}{११}$
२६०	४	समा	समाने
२६१	२	$\overline{\frac{\pi}{३}}$	$\overline{\frac{\pi}{६}}$
२६२	४	त्रिज्या=त्रिसर्षप	त्रिज्या=त्रि सर्षप
२६२	६	$त्रि_{०}\ ^{२}$	$त्रि^{२}$
२६२	८	कर समान	समान
२६२	१०	$४_{०}$	(०)
२६३	१६	$_{२}(क_{०}-२)$	$२^{(क_{०}-२)}$
२६३	२२	$२\ ^{२}(क_{०}-१)\ त्रि^{२}$	$२^{२(क_{०}-१)}\ त्रि_{०}^{२}$
२६३	२२	$\frac{२}{२}\ (क_{०}-१)$	$२^{३}\ (क_{०}-१)$
२६३	२४	$^{२}\ (क_{०}-१)$	$२\ (क_{०}-१)$
२६३	२४	$\frac{४}{९१}\ \pi\ त्रि_{०}\ ^{3}$	$\frac{४}{९१}\ \pi\ त्रि_{०}^{3}$
२६३	२४	$\{२^{(क_{०}-१)-१}\}$	$\{२^{(क_{०}-१)}-१\}$
२६४	१०	$६\ त्रि\ ३_{3}\ उ + \frac{४}{९१}\pi त्रि_{२}^{3}$	$६ त्रि_{०}^{२} उ + \frac{४}{९१}\pi त्रि_{०}^{3}$
२६४	१५	$क_{२}—क$	$क_{२}—१$
२६४	१६	वनाया जायेगा । जिसमे	मे
२६४	१७	$६ त्रि_{3}^{3}\ उ + \frac{४}{९१}\pi त्रि^{3}\ _{3}$	$६ त्रि_{3}^{२} उ + \frac{४}{९१}\pi त्रि_{3}^{3}$
२६४	२१	$क_{०}^{२}\ ^{२}\ (क_{०}-१)$	$क_{०}\ २^{२\ (क_{०}-१)}$
२६५	५	$क_{क_{१}}-१$	$क_{क_{०}-१}$
२६५	२३	)	—१)

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६	१९	$\text{क}._{०}^{२}[$	$\text{क}_{०}.२^{२}[$
२६६	२०	$\text{क}_{०}{}_{२}^{२(}$	$.\text{क}_{०}.२^{२(}$
२६७	२	$\text{क}_{०}\cdot २^{२}(\text{क}_{०}-१)$	$\text{क}_{०}.२^{२(\text{क}_{०}-१)}$
२६७	२	$-१\}+\quad -१)_{-१}]$	$-१\}+\ldots-१)_{-१}]$
२६७	५	$\text{क}_{०}[२$	$\text{क}_{०}[२$
२६८	अतिम	$<$	$>$
२६९	१२	$\text{लघु}_{१०}^{२}$	$\text{लघु}_{१०}२$
२६९	१२	$(२\times१०^{४४})\text{लघु}_{१०}^{२}$	$(२\times१०^{४४})\text{लघु}_{१०}^{२}$
२७०	अतिम	$+४५)]$	$+४५)]$
२७२	१–४		ये पक्तिया पृ० २७१ टिप्पण १ के साथ हैं ।
२९१	१	$\geqslant$	
२९३	४	ज	